प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।
मुद्रक : ज्योतिषप्रकाश प्रेस, काशी—
आरंभ के पाँच फर्मे; आदर्श प्रेस, काशी—
छठे से बीसवें फर्मे तक; शेषांश—
संसार प्रेस लि०, काशी। प्रथम संस्करण :
२००० प्रतियाँ :: संवत् २००६
मूल्य : ७)

विषय-सूची

विभाव

भाव

रस

शब्द-शक्ति

परिशिष्ट

प्रस्तावना

काव्य की मीमांसा भारत में बहुत प्राचीन काल से होती आ रही है। काव्य के श्रव्य और दृश्य भेद भी पुरातन हैं और जहाँ तक काव्य-मीमासा की बात है दोनों मे मान्यताएँ भी भिन्न भिन्न रही है। आगे चलकर दोनो का एकीकरण हो गया। श्रव्य-काव्य के मीमासक वाणी के वैचित्र्य को काव्य का लक्षण मानते थे और दृश्य-काव्य के विवेचक रस को। एक पक्ष की दृष्टि निर्मित कृति पर थी और दूसरे की उसके प्रभाव-परिणाम पर। एक कर्ता को देखता था, दूसरा ग्राहक को। एक कथन और कथन-कर्ता को सामने रखता था और दूसरा दृश्यत्व और दर्शक को। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहनेवाला रस-भाव से अपरिचित रहा हो ऐसी बात नहीं है। काव्यकृति मे व्याकरण की भाँति 'शब्द' और पुराणेतिहास की भाँति 'अर्थ' का प्राधान्य नहीं है, 'शब्दार्थ' का सहितत्व ही सब कुछ है। इसी 'सहित' से 'साहित्य' भी बन गया। इसके पूर्व 'काव्य' था, 'साहित्य' अभिधान नहीं। 'साहित्य' में, काव्य मे, वागर्थ सपृक्त होते हैं। आगे चलकर 'शब्दार्थ' काव्य का शरीर कहा गया, उसके चारुत्व की खोज होने लगी, उसके सौंदर्य की छानबीन की जाने लगी। वामन को कहना पड़ा—'काव्यं ग्राह्य अलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः।' शरीर और सौंदर्य के अन्वेषण से भी परितुष्ट न होकर उसके प्राण की प्रतिष्ठा का विचार किया गया और कुंतक ने घोषणा की—'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्'। श्रव्य-काव्य शास्त्र-परपरा की यह चरम सीमा है।

दृश्य-काव्य के विवेचको की परंपरा 'रस' से ही आरंभ होती है। 'रस' के क्षेत्र मे फिर ध्वनि-व्यंजना का विचार अग्रसर हुआ और सामाजिक या सहृदय-भावुक को लेकर विषय विमर्श किया जाने लगा। श्रव्य-काव्य के

मीमांसक दोष का परिहार करने पर ध्यान देते थे, पंडित-बुध उसके लिये कसौटी थे—'कविः करोति काव्यानि स्वादं जानन्ति पंडिताः'। पर 'रस' के निर्णायक सहृदय हुए। काव्य हृदय से हृदय का व्यापार माना गया। समाज उसमें प्रधान हुआ। अतः औचित्य—सामाजिक मर्यादा—रस के लिये आवश्यक मानी गई। रस का रहस्य औचित्य मे मिला। रस की परमावधि औचिती हुई। भामह, वामन, कुंतक की परंपरा और भरत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त की परंपरा भिन्न भिन्न है। आगे चलकर दोनों का संमिश्रण हो गया। रस ही काव्य मे मुख्य माना गया। साहित्यदर्पणकार ने कहा—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'। काव्य-मीमांसा में रस-मीमांसा का प्राधान्य हुआ। सौंदर्यानुभूति से आगे बढ़कर रसानुभूति का चिंतन-मनन होने लगा।

यह कहना कुछ कठिन है कि श्रव्य-काव्य की मीमांसा प्राचीन है या दृश्य काव्य की। पर यह प्रसिद्ध है कि—'अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्'। श्रव्य-काव्यवालों का पक्ष अलंकार या सौंदर्य है, श्रव्य-काव्य के कर्ता वाल्मीकि ही आदिकवि कहलाते हैं। भरत के नाट्यशास्त्र में अलंकारों का उल्लेख है। जो भी हो, समाज के विकास के साथ ही समाज का प्राधान्य भी हुआ होगा। कर्ता के स्थान पर ग्राहक का महत्त्व बढ़ा होगा। वाल्मीकि-कृत सारी कथा कुश-लव ने गाकर सुनाई थी। नटों का नाम 'कुशीलव' भी है। तो क्या श्रव्य-काव्य की दृश्य काव्य मे परिणति इतनी पुरानी है? राम जाने। चाहे जो हो, सौंदर्यानुभूति पर अड़ना आरंभिक स्थिति है और रसानुभूति से पूरा पड़ना पश्चात्कालिक निश्चिति। भारत प्राचीन देश है इसमे काव्य-संबंधी विचार-विमर्श भी पुरातन है। इसी से सौंदर्यानुभूति से संतुष्ट न होकर यह रसानुभूति में लीन हुआ। तो क्या पाश्चात्य देशों में सौंदर्यानुभूति (एस्थेटिक टेस्ट) पर रुकना अर्वाचीनत्व का द्योतक है? रसानुभूति की सी चर्चा वहाँ भी आरंभ हो चुकी है—

रिचर्ड्स् की व्याख्या में इसके संकेत मिलने लगे हैं। पूर्व जिस रस-भूमि तक कभी का पहुँच चुका है, पश्चिम को अभी वहाँ तक पहुँचना है।

आचार्य शुक्ल भारतीय परंपरा के अनुसार रस को ही काव्य मे मुख्य मानते थे। उसी वक्रोक्ति को काव्य स्वीकार करते थे जो भाव-प्रेरित हो। पर इसके साथ ही वे काव्य का चमत्कार उक्ति मे ही मानते थे। काव्य का सारा चमत्कार उक्ति मे ही है, पर कोई उक्ति काव्य तभी है जब उसके मूल मे भाव हो। काव्य अभिव्यक्ति है यह पूर्व को भी मान्य है, केवल पश्चिम को नहीं। अभिव्यक्ति रस-संप्रदाय को भी स्वीकृत है। अभिनवगुप्तपादाचार्य का अभिव्यक्तिवाद कर्ता और ग्राहक दोनो को सामने रखता है; पर 'काव्य-वस्तु का—विभाव का—कुछ भी महत्त्व नहीं' इसे क्रोचे कह सकता है, यह न कुंतक को मान्य है न अभिनवगुप्त को। विभावन-व्यापार रस-प्रक्रिया की सुदृढ़ भूमिका है। विभाव ही रस का हेतु है। काव्य-वस्तु (मैटर) कुछ नहीं, अभिव्यक्ति (फार्म) ही सब कुछ है, इसे भारत के वे अलंकारवादी भी नहीं मानते जिनके विचार से काव्य मे सौदर्य ही प्रमुख है। आधुनिक जिज्ञासा के समाधान के लिये शुक्लजीने पश्चिमी मनोविज्ञान के क्षेत्र मे भी अवश्य प्रवेश किया है।

भारतीय शास्त्राभ्यासी रस-मीमांसा में आत्मा को भी ग्रहण करते हैं। पंडितराज जगन्नाथ ने रस प्रक्रिया को अद्वैत वेदांत की प्रक्रिया में ढालकर इसे आध्यात्मिक ही सिद्ध किया है, पर आचार्य शुक्ल काव्य-विवेचना के लिये मनोमय कोष के आगे जाने की अपेक्षा नहीं समझते। इसको अलौकिक कहना उनकी दृष्टि में अर्थवाद मात्र है। मन का रागद्वेष के बंधन से छूटकर शुद्ध भाव की अनुभूति मे लीन होना अपने क्षेत्र से बाहर जाना नहीं है। मन इस मुक्तावस्था में—इस मुक्तिलोक मे—विहार किया करता है। इस मुक्तिलोक के विचरण को अलौकिक व्यापार कहना उन्हें मान्य नहीं। यहाँ और अधिक न कहकर इतना ही कह देना पर्याप्त होगा

कि भरत मुनि ने भी रस को अलौकिक नहीं कहा है। रस को अलौकिक कहने की चाल दार्शनिक व्याख्याकारों के कारण पड़ गई है। भारतीय शास्त्र-चिंतक साहित्य को 'विज्ञान' न मानकर 'दर्शन' मानता है, आत्मा या चैतन्य का विचार दर्शन का लक्षण है।

आचार्य शुक्ल ने सन् १९२२ के आसपास काव्य-मीमांसा के लिये कुछ निबंध लिखे थे, जो पृथक् पृथक् शीर्षकों मे लिखे गए थे, पर परस्पर संबद्ध थे। वे पेंसिल से लिखा करते थे—लेटे लेटे। पर लिखावट बहुत स्पष्ट और सुवाच्य हुआ करती थी। दीर्घकाल ने अक्षरों की रेखाएँ मंद कर दीं, कुछ पृष्ठ फटकर निकल गए। सारी सामग्री इतस्तत. होकर अस्त-व्यस्त हो गई। कुछ अंश अधूरे ही रह गए, उनकी केवल टिप्पणियाँ मात्र हैं; उनका पल्लवन न हो सका। विचार-शृंखला और विभाजन-विधि का कोई लेखा न होने के कारण समस्त सामग्री मे एकसूत्रता स्थापित करना दुरूह कार्य था। हस्तलिखित और मुद्रित निबंध-राशि का आलोड़न करके किसी प्रकार अखडता की स्थापना की गई। निबधो के बीच स्थान स्थान पर विचार-सरणि के सकेत मिले और सपादक ने उन्हीं के बल पर पूरे ग्रंथ की नियोजना कर दी। मूल हस्तलेख के कई निबंध शुक्लजी ने परिमार्जित और प्रवर्धित करके प्रकाशित करा दिए थे। अतः यह परिमार्जित रूप ही सकलित किया गया और जो अश मूल में उससे अधिक था उसे यथास्थान जोड़ दिया गया। जो अश फटकर निकल गया, उसकी पूर्ति अन्यत्र से की गई; फिर भी एक-आध अध्याय त्रुटित रह ही गया है। संपादक ने अपनी ओर से एक शब्द भी कहीं नहीं बढ़ाया है; बिंदु विसर्ग भी नहीं। जो कुछ है, शुक्लजी के ही शब्दों में है। संपादक ने पाद-टिप्पणी आदि के रूप मे जो अश विषय को और स्पष्ट करने या संकेत स्थलो के निर्देशार्थ बढ़ाए है वे सब बडे कोष्ठक [ ] से घिरे हुए हैं। काव्यप्रकाश के उद्धरण वामनाचार्य झळकीकर की बालबोधिनी टीका से रखे

गए हैं और साहित्यदर्पण के अवतरण शालग्राम शास्त्री की हिंदी विमला टीका से।

शुक्लजी ने शब्दशक्ति का विचार टिप्पणियो के रूप मे ही कर पाया था, उसका विस्तार नहीं हो सका। टिप्पणियाँ भी अँगरेजी मे हैं। सपादक ने उन्हे हिंदी मे उन्हीं की शैली से रूपातरित कर दिया है और अँगरेजी मूल भी परिशिष्ट मे ज्यो का त्यो उद्धृत कर दिया है। तत्त्व वस्तु सब आचार्य की है, ज्यो की त्यो ; आकार खड़ा कर दिया है अतेवासी ने। नामकरण की ढिठाई भी उसी ने की है। इस रूप मे शुक्लजी की काव्य मीमांसा सबंधी विचारधारा का, जो रसोन्मुखी है, पूरा पूरा पता चल जाता है और उस मानदंड की भी उपलब्धि हो जाती है जिसे लेकर वे साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र मे उतरे थे। इसके अवलोकन से शास्त्र-चितक और समीक्षक शुक्लजी के स्वरूप के दर्शन हो जाते हैं। शुक्लजी स्वच्छंद चितक थे। उन्होने भारतीय परपरा को मानते हुए भी अधानुसरण कहीं नहीं किया है। आधुनिक पश्चिमी शास्त्र-मीमासा को विदेशी कहकर त्यागा भी नहीं है। यथास्थान उसके सत् पक्ष का भी सग्रह है। पंडितराज जगन्नाथ के अनतर रस-मीमासा से शास्त्रीय विद्वान् एक प्रकार से विरत हो गए थे। शुक्लजी ने अपनी स्वतत्र चेतना द्वारा उसे पुनः उज्जीवित किया। भारत की किसी भी भाषा मे काव्य, रस आदि का स्वतत्र विवेचन आधुनिक युग में नहीं मिलता। जहाँ जो है वह या तो शास्त्रो का अनुवाद-अनुगमन है या पश्चिम की अनुकृति मात्र। हिंदी मे भी आज तक सकलन-सग्रह से ही उपबृंहण होता रहा है। ऐसी स्थिति मे साहित्य-चिंतक शुक्लजी के महत्त्व की कल्पना सहज है। अरोचकी वृत्तिवाले पंडितों को उनकी बहुत सी बाते न रुचेंगी, वे स्वयम् भी पडितों के कोलाहल की चर्चा किया करते थे। उन्होने कदाचित् अपनी यह पुस्तक बहुत पहले सवर्धित और परिष्कृत रूप में प्रकाशित करा दी होती, यदि पडित-मंडली ने विलायती मत कहकर उनको चिंतना की चर्चा न चलाई

होती। वे अपने मत को विलायती मानने के लिये प्रस्तुत न थे। लीक छोड़कर अपनी उद्भावित नई सरणि से उसी लक्ष्य की ओर चलना, यदि 'विलायती' का लक्षण है तो वैसा काव्य-चिंतन जैसा भरत से पंडितराज तक हुआ, कभी न हो सकेगा। पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का खंडन करने में जैसी पदावली का व्यवहार कहीं कहीं परवर्ती आचार्यों ने किया है और उनके मत को भ्रामक, अशुद्ध आदि बतलाया है, वह भी तो आचार्य शुक्ल में नहीं है। बड़ी शिष्टता के साथ अपनी असहमति उन्होंने व्यक्त की है। यदि कोई हठधर्मिता को त्याग कर उन्हें देखे तो वे भरत, अभिनव, मम्मट आदि की ही परंपरा में उसे दिखाई देंगे।

रस-मीमांसा के प्रस्तुत करने में जिन ग्रंथों और व्यक्तियों से सहायता मिली है उनके प्रति संपादक चिरकृतज्ञ है। इस ग्रंथ के संपादन में सबसे अधिक सहायता मेरे प्रिय शिष्य बटेकृष्ण ने की है। यदि उनकी अयाचित सहायता न मिलती तो अभी कितने दिनों यह ग्रंथ और पड़ा रहता, कह नहीं सकता। पुस्तक प्रस्तुत हो गई। भूल-चूक का सारा उत्तरदायित्व मुझ पर है। शुक्लता आचार्य-प्रवर की, श्यामता मेरी।

ब्रह्मनाल, काशी
अनंत चतुर्दशी, २००६ वि०

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

———

रस-मीमांसा

रामचंद्र शुक्ल

काव्य

काव्य

काव्य की साधना

मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों को लिए दिए दूसरों के भावों, विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलाता और कहीं लड़ाता हुआ अंत तक चला चलता है और इसी को जीना कहता है। जिस अनंत-रूपात्मक क्षेत्र में यह व्यवसाय चलता रहता है उसका नाम है जगत्। जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किए इस क्षेत्र के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से संबद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर—अपने आपको बिल्कुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य

की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते है।

कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिये अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूतियोग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है। जिस प्रकार जगत् अनेक-रूपात्मक है, उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक-भावात्मक है। इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी समझा जा सकता है जब कि इन सबका प्रकृत सामंजस्य जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों, व्यापारों या तथ्यों के साथ हो जाय। इन्हीं भावों के सूत्र से मनुष्य-जाति जगत् के साथ तादात्म्य का अनुभव चिरकाल से करती चली आई है। जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामने पाकर वह नर-जीवन के आरंभ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है, उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा संबंध है। अतः काव्य के प्रयोजन के लिये हम उन्हें मूल रूप और मूल व्यापार कह सकते हैं। इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष और गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को भावों के विषय या आलंबन बनाने के लिये इन्हीं मूल रूपों और मूल व्यापारों में परिणत करना पड़ता है।

जब तक वे इन मूल मार्मिक रूपों में नहीं लाए जाते तब तक उन पर काव्यदृष्टि नहीं पड़ती।

वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़ी, फूल, शाखा, पशु-पक्षी, आकाश, मेघ, नक्षत्र, समुद्र इत्यादि ऐसे ही चिरसहचर रूप है। खेत, ढुर्री, हल, झोपड़े, चौपाए इत्यादि भी कुछ कम पुराने नहीं हैं। इसी प्रकार पानी का बहना, सूखे पत्तों का झड़ना, बिजली का चमकना, घटा का घेरना, नदी का उमड़ना, मेह का बरसना, कुहरे का छाना, डर से भागना, लोभ से लपकना, छीनना, झपटना, नदी या दलदल से बाँह पकड़कर निकालना, हाथ से खिलाना, आग में झोंकना, गला काटना ऐसे व्यापारों का भी मनुष्य-जाति के भावों के साथ अत्यंत प्राचीन साहचर्य है। ऐसे आदिम रूपों और व्यापारों में, वंशानुगत वासना की दीर्घ-परंपरा के प्रभाव से, भावों के उद्बोधन की गहरी शक्ति संचित है; अतः इनके द्वारा जैसा रस-परिपाक संभव है वैसा कल, कारखाने, गोदाम, स्टेशन, एंजिन, हवाई जहाज ऐसी वस्तुओं तथा अनाथालय के लिये चेक काटना, सर्वस्व-हरण के लिये जाली दस्तावेज बनाना, मोटर की चरखी घुमाना या एंजिन में कोयला झोंकना आदि व्यापारों द्वारा नहीं।

काव्य और सृष्टि-प्रसार

हृदय पर नित्य प्रभाव रखनेवाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अंतःप्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है। यदि अपने भावों को

समेटकर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि से किनारे कर ले या स्वार्थ की पशुवृत्ति में ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी ? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम-घूमकर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों और पटपर के बीच खड़ी झाड़ियों को देख क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनंदोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुंदर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपता का उसने विसर्जन न किया, यदि दीन-दुखी का आर्तनाद सुन वह न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढब और विनोदपूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हँसा तो उसके जीवन में रह क्या गया ? इस विश्वकाव्य की रसधारा में जो थोड़ी देर के लिये निमग्न न हुआ उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा ही समझना चाहिए।

काव्यदृष्टि कहीं तो

(१) नरक्षेत्र के भीतर रहती है,

(२) कहीं मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और

(३) कहीं समस्त चराचर के।

(१) पहले नरक्षेत्र को लेते हैं। संसार में अधिकतर कविता इसी क्षेत्र के भीतर हुई है। नरत्व की बाह्य प्रकृति और अंतःप्रकृति के नाना संबंधों और पारस्परिक विधानों का संकलन या उद्भावना ही काव्यों में—मुक्तक हों या प्रबंध—अधिकतर पाई जाती है।

प्राचीन महाकाव्यों और खंडकाव्यों के मार्ग में यद्यपि शेष दो क्षेत्र भी बीच बीच में पड़ जाते हैं पर मुख्य यात्रा नरक्षेत्र के भीतर ही होती है। वाल्मीकि-रामायण में यद्यपि बीच बीच में ऐसे विशद वर्णन बहुत कुछ मिलते हैं जिनमें कवि की मुग्ध दृष्टि प्रधानतः मनुष्येतर बाह्य प्रकृति के रूपजाल में फँसी पाई जाती है, पर उसका प्रधान विषय लोकचरित्र ही है। और प्रबंध-काव्यों के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। रहे मुक्तक या फुटकल पद्य, वे भी अधिकतर मनुष्य ही की भीतरी-बाहरी वृत्तियों से संबंध रखते हैं। साहित्य-शास्त्र की रस-निरूपण-पद्धति में आलंबनों के बीच बाह्य प्रकृति को स्थान ही नहीं मिला है। वह उद्दीपन मात्र मानी गई है। शृंगार के उद्दीपन-रूप में जो प्राकृतिक दृश्य लाए जाते हैं उनके प्रति रतिभाव नहीं होता; नायक या नायिका के प्रति होता है। वे दूसरे के प्रति उत्पन्न प्रीति को उद्दीप्त करनेवाले होते हैं; स्वयं प्रीति के पात्र या आलंबन नहीं होते। संयोग में वे सुख बढ़ाते हैं और वियोग में काटने दौड़ते हैं। जिस भावोद्रेक और जिस ब्योरे के साथ नायक या नायिका के रूप का वर्णन किया जाता है उस भावोद्रेक और उस ब्योरे के साथ उनका नहीं। कहीं कहीं तो उनके नाम गिनाकर ही काम चला लिया जाता है।

मनुष्यों के रूप, व्यापार या मनोवृत्तियों के सादृश्य, साधर्म्य की दृष्टि से जो प्राकृतिक वस्तु-व्यापार आदि लाए जाते हैं उनका स्थान भी गौण ही समझना चाहिए। वे नर-संबंधी भावना को ही तीव्र करने के लिये रखे जाते हैं।

(२) मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का आलंबन के रूप में ग्रहण हमारे यहाँ संस्कृत के प्राचीन प्रबंध-काव्यों के बीच बीच में ही पाया जाता है। वहाँ प्रकृति का ग्रहण आलंबन के रूप में हुआ

है, इसका पता वर्णन की प्रणाली से लग जाता है। पहले कह आए हैं कि किसी वर्णन में आई हुई वस्तुओं का मन में ग्रहण दो प्रकार का हो सकता है—बिंबग्रहण और अर्थग्रहण।[1] किसी ने कहा 'कमल'। अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिए हुए सफेद पंखड़ियों और झुके हुए नाल आदि के सहित एक फूल की मूर्ति मन में थोड़ी देर के लिये आ जाय या कुछ देर बनी रहे; और इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो; केवल पद का अर्थ मात्र समझकर काम चला लिया जाय। काव्य के दृश्य-चित्रण में पहले प्रकार का संकेत-ग्रहण अपेक्षित होता है और व्यवहार तथा शास्त्र-चर्चा में दूसरे प्रकार का। बिंबग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके आसपास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है। बिना अनुराग के ऐसे सूक्ष्म ब्योरों पर न दृष्टि जा ही सकती है, न रम ही सकती है। अतः जहाँ ऐसा पूर्ण संश्लिष्ट चित्रण मिले वहाँ समझना चाहिए कि कवि ने बाह्य प्रकृति को आलंबन के रूप में ग्रहण किया है। उदाहरण के लिये वाल्मीकि का यह हेमंतवर्णन लीजिए—

अवश्याय-निपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा॥
स्पृशस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥
अवश्याय - तमोनद्धा नीहार - तमसावृताः।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः॥

---

१ [देखिए चिंतामणि, दूसरा भाग, काव्य में प्राकृतिक दृश्य, पृष्ठ १।]

वाष्पसंछन्नसलिली रुतविज्ञेयसारसाः ।
हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम् ॥
जरा-जर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः ।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भान्ति कमलाकराः ॥ *

[रामायण, अरण्यकांड, सर्ग १६ ।]

मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का इसी रूप में ग्रहण 'कुमारसंभव' के आरंभ तथा 'रघुवंश' के बीच बीच में मिलता है। नाटक यद्यपि मनुष्य ही की भीतरी-बाहरी वृत्तियों के प्रदर्शन के लिये लिखे जाते है और भवभूति अपने मार्मिक और तीव्र अंतर्वृत्ति-विधान के लिये ही प्रसिद्ध है, पर उनके 'उत्तर-रामचरित' में कहीं कहीं बाह्य प्रकृति के बहुत ही सांग और संश्लिष्ट खंड-चित्र पाए जाते है। पर मनुष्येतर बाह्य प्रकृति को जो प्रधानता 'मेघ-दूत' में मिली है वह संस्कृत के और किसी काव्य में नहीं। 'पूर्वमेघ' तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारतभूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। जो इस स्वरूप

* वन की भूमि, जिसकी हरी हरी घास ओस गिरने से कुछ कुछ गीली हो गई है, तरुण धूप के पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यंत प्यासा जंगली हाथी बहुत शीतल जल के स्पर्श से अपनी सूँड़ सिकोड लेता है। बिना फूल के वन-समूह कुहरे के अंधकार में सोए से जान पडते हैं। नदियाँ, जिनका जल कुहरे से ढका हुआ है और जिनमें सारस पक्षियों का पता केवल उनके शब्द से लगता है, हिम से आर्द्र बालू के तटों से ही पहचानी जाती हैं। कमल, जिनके पत्ते जीर्ण होकर झड़ गए हैं, जिनकी केसर-कर्णिकाएँ टूट-फूटकर छितरा गई हैं, पाले से ध्वस्त होकर नाल मात्र खड़े हैं। [वही, पृष्ठ १४-१५।]

के ध्यान में अपने को भूलकर कभी कभी मग्न हुआ करता है वह घूम-घूमकर वक्तृता दे या न दे, चंदा इकट्ठा करे या न करे, देशवासियों की आमदनी का औसत निकाले या न निकाले, सच्चा देशप्रेमी है। मेघदूत न कल्पना की क्रीड़ा है, न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूपमाधुरी पर सीधी सादी प्रेमदृष्टि।

अनंत रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुंदर रूप में; कहीं रूखे, बेडौल या कर्कश रूप में; कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में; कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख-भोग नहीं, बल्कि चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून-प्रसार के सौरभ-संचार, मकरंद-लोलुप-मधुप-गुंजार, कोकिल-कूजित निकुंज और शीतल-सुखस्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं वे विषयी या भोग-लिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास-हिमबिंदु-मंडित मरकताभ-शाद्वल-जाल, अत्यंत विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गंभीर गर्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविधवर्णस्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिये कुछ पाते हैं वे तमाशबीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं। प्रकृति के साधारण असाधारण सब प्रकार के रूपों में रमानेवाले वर्णन हमें वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों में मिलते हैं। पिछले खेवे के कवियों ने मुक्तक-रचना में तो अधिकतर प्राकृतिक वस्तुओं का अलग अलग उल्लेख मात्र उद्दीपन की दृष्टि से किया है। प्रबंध-रचना में जो थोड़ा बहुत संश्लिष्ट चित्रण किया है वह प्रकृति

की विशेष रूप-विभूति को लेकर ही। अँगरेजी के पिछले कवियों में वर्ड्सवर्थ की दृष्टि सामान्य, चिर-परिचित, सीधे सादे प्रशांत और मधुर दृश्यों की ओर रहती थी; पर शेली की असाधारण, भव्य और विशाल की ओर।

साहचर्य-संभूत रस के प्रभाव से सामान्य सीधे सादे चिर-परिचित दृश्यों में कितने माधुर्य की अनुभूति होती है! पुराने कवि कालिदास ने वर्षा के प्रथम जल से सिक्त तुरंत की जोती हुई धरती तथा उसके पास बिखरी हुई भोली चितवनवाली ग्रामवनिताओं में, साफ सुथरे ग्रामचैत्यों और कथा-कोविद ग्राम-वृद्धों में इसी प्रकार के माधुर्य का अनुभव किया था।[1] आज भी इसका अनुभव लोग करते हैं। बाल्य या कौमार अवस्था में जिस पेड़ के नीचे हम अपनी मंडली के साथ बैठा करते थे, चिड़चिड़ी बुढ़िया की जिस झोपड़ी के पास से होकर हम आते जाते थे उनकी मधुर स्मृति हमारी भावना को बराबर लीन किया करती है। बुड्ढी की झोपड़ी में न कोई चमक-दमक थी, न कला-कौशल का वैचित्र्य। मिट्टी की दीवारों पर फूस का छप्पर पड़ा था; नीवँ के किनारे चढ़ी हुई मिट्टी पर सत्यानासी के नीलाभ-हरित कटीले, कटावदार पौदे खड़े थे जिनके पीले फूलों के गोल संपुटों के बीच लाल लाल बिंदियाँ झलकती थीं।

जो केवल अपने विलास या शरीर-सुख की सामग्री ही प्रकृति में ढूँढ़ा करते हैं उनमें उस रागात्मक 'सत्त्व' की कमी है जो व्यक्त सत्ता मात्र के साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के व्यापकत्व का आभास देता है। संपूर्ण सत्ताएँ एक ही परम सत्ता और संपूर्ण भाव एक ही परम भाव के अंतर्भूत

---

१ [मेघदूत, पूर्वमेघ, १६, ३२।]

हैं। अतः बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय भी इस सत्त्व-रस के प्रभाव से पहुँचता है। इस प्रकार अंत में जाकर दोनों पक्षों की वृत्तियों का समन्वय हो जाता है। इस समन्वय के बिना मनुष्यत्व की साधना पूरी नहीं हो सकती।

मनुष्येतर प्रकृति के बीच के रूप-व्यापार कुछ भीतरी भावों या तथ्यों की भी व्यंजना करते हैं। पशु-पक्षियों के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, राग-द्वेष, तोष-क्षोभ, कृपा-क्रोध इत्यादि भावों की व्यंजना जो उनकी आकृति, चेष्टा, शब्द आदि से होती है वह तो प्रायः बहुत प्रत्यक्ष होती है। कवियों को उन पर अपने भावों का आरोप करने की आवश्यकता प्रायः नहीं होती। तथ्यों का आरोप या संभावना अलबत वे कभी कभी किया करते हैं। पर इस प्रकार का आरोप कभी कभी कथन को 'काव्य' के क्षेत्र से घसीटकर 'सूक्ति' या 'सुभाषित' के क्षेत्र में डाल देता है। जैसे, 'कौवे सवेरा होते ही क्यों चिल्लाने लगते है? वे समझते है कि सूर्य अंधकार का नाश करता बढ़ा आ रहा है, कहीं धोखे में हमारा भी नाश न कर दे।'[1] यह सूक्ति मात्र है, काव्य नहीं। जहाँ तथ्य केवल आरोपित या संभावित रहते हैं वहाँ वे अलंकार रूप में ही रहते हैं। पर जिन तथ्यों का आभास हमें पशु-पक्षियों के रूप, व्यापार या परिस्थिति में ही मिलता है वे हमारे भावों के विषय वास्तव में हो सकते हैं। मनुष्य सारी पृथ्वी छेंकता चला जा रहा है। जंगल कट-कटकर खेत, गावँ और नगर बनते चले जा रहे है। पशु-पक्षियों का भाग छिनता चला

---

१ [वयं काका वयं काका जल्पन्तीति प्रगे द्विकाः।
तिमिरारिस्तमो हन्यादिति- शङ्कितमानसाः॥]

जा रहा है। उनके सब ठिकानों पर हमारा निष्ठुर अधिकार होता चला जा रहा है। वे कहाँ जायँ? कुछ तो हमारी गुलामी करते हैं। कुछ हमारी बस्ती के भीतर या आसपास रहते हैं और छीन झपटकर अपना हक ले जाते हैं। हम उनके साथ बराबर ऐसा ही व्यवहार करते हैं मानो उन्हें जीने का कोई अधिकार ही नहीं है। इन तथ्यों का सच्चा आभास हमें उनकी परिस्थिति से मिलता है। अतः उनमें से किसी की चेष्टाविशेष में इन तथ्यों की मार्मिक व्यंजना की प्रतीति काव्यानुभूति के अंतर्गत होगी। यदि कोई बंदर हमारे सामने से कोई खाने-पीने की चीज उठा ले जाय और किसी पेड़ के ऊपर बैठा बैठा हमें घुड़की दे, तो काव्यदृष्टि से हमें ऐसा मालूम हो सकता है कि

देते हैं घुड़की यह अर्थ-ओज-भरी हरि
"जीने का हमारा अधिकार क्या न गया रह!
पर-प्रतिषेध के प्रसार बीच तेरे, नर!
क्रीड़ामय जीवन-उपाय है हमारा यह।
दानी जो हमारे रहे, वे भी दास तेरे हुए,
उनकी उदारता भी सकता नहीं तू सह।
फूली फली उनकी उमंग उपकार की तू
छेंकता है जाता, हम जायँ कहाँ, तू ही कह!"[1]

पेड़-पौदे, लता-गुल्म आदि भी इसी प्रकार कुछ भावों या तथ्यों की व्यंजना करते हैं जो कभी कभी कुछ गूढ़ होती है। सामान्य दृष्टि भी वर्षा की झड़ी के पीछे उनके हर्ष और उल्लास को; ग्रीष्म के प्रचंड आतप में उनकी शिथिलता और म्लानता

---

१ [शुक्लजी कृत 'हृदय का मधुर भार' से उद्धृत।]

को; शिशिर के कठोर शासन में उनकी दीनता को; मधुकाल में उनके रसोन्माद, उमंग और हास को; प्रबल वात के झकोरों में उनकी विकलता को; प्रकाश के प्रति उनकी ललक को देख सकती है। इसी प्रकार भावुकों के समक्ष वे अपनी रूपचेष्टा आदि द्वारा कुछ मार्मिक तथ्यों की भी व्यंजना करते है। हमारे यहाँ के पुराने अन्योक्तिकारों ने कहीं कहीं इस व्यंजना की ओर ध्यान दिया है। 'कहीं कहीं' का मतलब यह है कि बहुत जगह उन्होंने अपनी भावना का आरोप किया है, उनकी रूपचेष्टा या परिस्थिति से तथ्य-चयन नहीं। पर उनकी विशेष विशेष परिस्थितियों की ओर भावुकता से ध्यान देने पर बहुत से मार्मिक तथ्य सामने आते हैं। कोसों तक फैले कड़ी धूप में तपते मैदान के बीच एक अकेला वटवृक्ष दूर तक छाया फैलाए खड़ा है। हवा के झोकों से उसकी टहनियाँ और पत्ते हिलहिलकर मानो बुला रहे हैं। हम धूप से व्याकुल होकर उसकी ओर बढ़ते है। देखते हैं उसकी जड़ के पास एक गाय बैठी आँख मूँदे जुगाली कर रही है। हम लोग भी उसी के पास आराम से जा बैठते है। इतने में एक कुत्ता जीभ बाहर निकाले हाँफता हुआ उस छाया के नीचे आता है और हममें से कोई उठकर उसे छड़ी लेकर भगाने लगता है। इस परिस्थिति को देख हममें से कोई भावुक पुरुष उस पेड़ को इस प्रकार संबोधन करे तो कर सकता है—

काया की न छाया यह केवल तुम्हारी, द्रुम !
अंतस् के मर्म का प्रकाश यह छाया है।
भरी है इसी में वह स्वर्ग-स्वप्न-धारा अभी
जिसमें न पूरा-पूरा नर बह पाया है।

शांतिसार शीतल प्रसार यह छाया धन्य !
प्रीति सा पसारे इसे कैसी हरी काया है।
हे नर ! तू प्यारा इस तरु का स्वरूप देख,
देख फिर घोर रूप तूने जो कमाया है ॥[1]

ऊपर नरक्षेत्र और मनुष्येतर सजीव सृष्टि के क्षेत्र का उल्लेख हुआ है। काव्यदृष्टि कभी तो इन पर अलग अलग रहती है और कभी समष्टि रूप में समस्त जीवन-क्षेत्र पर। कहने की आवश्यकता नहीं कि विच्छिन्न दृष्टि की अपेक्षा समष्टि-दृष्टि में अधिक व्यापकता और गंभीरता रहती है। काव्य का अनुशीलन करनेवाले मात्र जानते है कि काव्यदृष्टि सजीव सृष्टि तक ही बद्ध नहीं रहती। वह प्रकृति के उस भाग की ओर भी जाती है जो निर्जीव या जड़ कहलाता है। भूमि, पर्वत, चट्टान, नदी, नाले, टीले, मैदान, समुद्र, आकाश, मेघ, नक्षत्र इत्यादि की रूप-गति आदि से भी हम सौंदर्य, माधुर्य, भीषणता, भव्यता, विचित्रता, उदासी, उदारता, संपन्नता इत्यादि की भावना प्राप्त करते हैं। कड़कड़ाती धूप के पीछे उमड़ी हुई घटा की श्यामल स्निग्धता और शीतलता का अनुभव मनुष्य क्या पशु-पक्षी, पेड़-पौदे तक करते हैं। अपने इधर उधर हरी भरी लहलहाती प्रफुल्लता का विधान करती हुई नदी की अविराम जीवन-धारा में हम द्रवीभूत औदार्य का दर्शन करते है। पर्वत की ऊँची चोटियों में विशालता और भव्यता का; वात-विलोड़ित जलप्रसार में क्षोभ और आकुलता का; विकीर्ण-घन-खंड-मंडित, रश्मि-रंजित सांध्य दिगंचल में चमत्कारपूर्ण सौंदर्य का; ताप से तिलमिलाती धरा पर

१ [वहीं से।]

धूल झोंकते हुए अंधड़ के प्रचंड झोंकों में उग्रता और उच्छृंखलता का; बिजली की कँपानेवाली कड़क और ज्वालामुखी के ज्वलंत स्फोट में भीषणता का आभास मिलता है। ये सब विश्वरूपी महाकाव्य की भावनाएँ या कल्पनाएँ हैं। स्वार्थ-भूमि से परे पहुँचे हुए सच्चे अनुभूति-योगी या कवि इनके द्रष्टा मात्र होते हैं।

जड़ जगत् के भीतर पाए जानेवाले रूप, व्यापार या परिस्थितियाँ अनेक मार्मिक तथ्यों की भी व्यंजना करती हैं। जीवन के तथ्यों के साथ उनके साम्य का बहुत अच्छा मार्मिक उद्घाटन कहीं कहीं हमारे यहाँ के अन्योक्तिकारों ने किया है। जैसे, इधर नरक्षेत्र के बीच देखते है तो सुख-समृद्धि और संपन्नता की दशा में दिन-रात घेरे रहनेवाले, स्तुति का खासा कोलाहल खड़ा करनेवाले, विपत्ति और दुर्दिन में पास नहीं फटकते; उधर जड़ जगत् के भीतर देखते है तो भरे हुए सरोवर के किनारे जो पक्षी बराबर कलरव करते रहते है वे उसके सूखने पर अपना अपना रास्ता लेते है—

'कोलाहल सुनि खगन के, सरवर! जनि अनुरागि।
ये सब स्वारथ के सखा, दुर्दिन दैहैं त्यागि।
दुर्दिन दैहैं त्यागि, तोय तेरो जब जैहै।
दूरहि ते तजि आस, पास कोऊ नहि ऐहै॥'[1]

इसी प्रकार सूक्ष्म और मार्मिक दृष्टिवालों को और गूढ़ व्यंजना भी मिल सकती है। अपने इधर उधर हरियाली और प्रफुल्लता का विधान करने के लिये यह आवश्यक है कि नदी कुछ काल तक एक बँधी हुई मर्यादा के भीतर बहती रहे। वर्षा

१ [अन्योक्ति-कल्पद्रुम, प्रथम शाखा, ४१।]

की उमड़ी हुई उच्छृंखलता में पोषित हरियाली और प्रफुल्लता का ध्वंस सामने आता है। पर यह उच्छृंखलता और ध्वंस अल्पकालिक होता है और इसके द्वारा आगे के लिये पोषण की नई शक्ति का संचय होता है। उच्छृंखलता नदी की स्थायी वृत्ति नहीं है। नदी के इस स्वरूप के भीतर सूक्ष्म मार्मिक दृष्टि लोकगति के स्वरूप का साक्षात्कार करती है। लोकजीवन की धारा जब एक बँधे मार्ग पर कुछ काल तक अबाध गति से चलने पाती है तभी सभ्यता के किसी रूप का पूर्ण विकास और उसके भीतर सुख-शांति की प्रतिष्ठा होती है। जब जीवन-प्रवाह क्षीण और अशक्त पड़ने लगता है और गहरी विषमता आने लगती है तब नई शक्ति का प्रवाह फूट पड़ता है जिसके वेग की उच्छृंखलता के सामने बहुत कुछ ध्वंस भी होता है। पर यह उच्छृंखल वेग जीवन का या जगत् का नित्य स्वरूप नहीं है।

(३) पहले कहा जा चुका है कि नरक्षेत्र के भीतर बद्ध रहनेवाली काव्यदृष्टि की अपेक्षा संपूर्ण जीवन-क्षेत्र और समस्त चराचर के क्षेत्र से मार्मिक तथ्यों का चयन करनेवाली दृष्टि उत्तरोत्तर अधिक व्यापक और गंभीर कही जायगी। जब कभी हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तीर्ण और व्यापक होता है कि हम अनंत व्यक्त सत्ता के भीतर नरसत्ता के स्थान का अनुभव करते है तब हमारी पार्थक्य-बुद्धि का परिहार हो जाता है। उस समय हमारा हृदय ऐसी उच्च भूमि पर पहुँचा रहता है जहाँ उसकी वृत्ति प्रशांत और गंभीर हो जाती है, उसकी अनुभूति का विषय ही कुछ बदल जाता है।

तथ्य चाहे नरक्षेत्र के ही हों, चाहे अधिक व्यापक क्षेत्र के हों, कुछ प्रत्यक्ष होते हैं और कुछ गूढ़। जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे उसे उस भाव का आलंबन कहना चाहिए।

ऐसे रसात्मक तथ्य आरंभ में ज्ञानेंद्रियाँ उपस्थित करती हैं। फिर ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के संचार के लिये मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। आरंभ में मनुष्य की चेतन सत्ता अधिकतर इंद्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही रही। फिर ज्यों ज्यों अंतःकरण का विकास होता गया और सभ्यता बढ़ती गई, त्यों त्यों मनुष्य का ज्ञान बुद्धि-व्यवसायात्मक होता गया। अब मनुष्य का ज्ञानक्षेत्र बुद्धि-व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत ही विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। विचारों की क्रिया से, वैज्ञानिक विवेचन और अनुसंधान द्वारा उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त और सजीव चित्रण भी—उसका इस रूप में प्रत्यक्षीकरण भी कि वह हमारे किसी भाव का आलंबन हो सके—कवियों का काम और उच्च काव्य का एक लक्षण होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन तथ्यों और परिस्थितियों के मार्मिक रूप न जाने कितनी बातों की तह में छिपे होंगे।

काव्य और व्यवहार

भावों या मनोविकारों के विवेचन में हम कह चुके हैं कि मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करनेवाली मूल वृत्ति भावात्मिका है।[1] केवल तर्कबुद्धि या विवेचना के बल से हम किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। जहाँ जटिल बुद्धि-व्यापार के अनंतर किसी कर्म

---

१ [चिंतामणि, पहला भाग, पृष्ठ ६।]

का अनुष्ठान देखा जाता है वहाँ भी तह में कोई भाव या वासना छिपी रहती है। चाणक्य जिस समय अपनी नीति की सफलता के लिये किसी निष्ठुर व्यापार में प्रवृत्त दिखाई पड़ता है उस समय वह दया, करुणा आदि सब मनोविकारों या भावों से परे दिखाई पड़ता है। पर थोड़ा अंतर्दृष्टि गड़ाकर देखने से कौटिल्य को नचानेवाली डोर का छोर भी अंतःकरण के रागात्मक खंड की ओर मिलेगा। प्रतिज्ञा-पूर्ति की आनंद-भावना और नंदवंश के प्रति क्रोध या वैर की वासना बारी बारी से उस डोर को हिलाती हुई मिलेंगी। अर्वाचीन राष्ट्रनीति के गुरुघंटाल जिस समय अपनी किसी गहरी चाल से किसी देश की निरपराध जनता का सर्वनाश करते हैं उस समय वे दया आदि दुर्बलताओं से निर्लिप्त, केवल बुद्धि के कठपुतले दिखाई पड़ते हैं। पर उनके भीतर यदि छानबीन की जाय तो कभी अपने देश-वासियों के सुख की उत्कंठा, कभी अन्य जाति के प्रति घोर विद्वेष, कभी अपनी जातीय श्रेष्ठता का नया या पुराना घमंड, इशारे करता हुआ मिलेगा।

बात यह है कि केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम को करने या न करने के लिये तैयार नहीं होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानिकारक। जब उसकी या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारी भावना में आती है जो आह्लाद, क्रोध, करुणा, भय, उत्कंठा आदि का संचार कर देती है तभी हम उस काम को करने या न करने के लिये उद्यत होते हैं। शुद्ध ज्ञान या विवेक में कर्म की उत्तेजना नहीं होती। कर्म-प्रवृत्ति के लिये मन में कुछ वेग का आना आवश्यक है। यदि किसी जनसमुदाय के बीच कहा जाय कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रतिवर्ष उठा ले जाता है तो संभव है कि

उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्र्य और अकाल का भीषण और करुण दृश्य दिखाया जाय, पेट की ज्वाला से जले हुए कंकाल कल्पना के संमुख रखे जायँ और भूख से तड़पते हुए वालक के पास बैठी हुई माता का आर्त क्रंदन सुनाया जाय तो बहुत से लोग क्रोध और करुणा से व्याकुल हो उठेंगे और इस दशा को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेंगे। पहले ढंग की वात कहना राजनीतिज्ञ या अर्थ-शास्त्री का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य भावना में लाना कवि का। अतः यह धारणा कि काव्य व्यवहार का बाधक है, उसके अनुशीलन से अकर्मण्यता आती है, ठीक नहीं। कविता तो भावप्रसार द्वारा कर्मण्य के लिये कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।

उक्त धारणा का आधार यदि कुछ हो सकता है तो यही कि जो भावुक या सहृदय होते हैं, अथवा काव्य के अनुशीलन से जिनके भाव-प्रसार का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, उनकी वृत्तियाँ उतनी स्वार्थबद्ध नहीं रह सकतीं। कभी कभी वे दूसरों का जी दुखने के डर से; आत्मगौरव, कुलगौरव या जातिगौरव के ध्यान से अथवा जीवन के किसी पक्ष की उत्कर्ष-भावना में मग्न होकर अपने लाभ के कर्म में अतत्पर या उससे विरत देखे जाते हैं। अतः अर्थागम से हृष्ट, 'स्वकार्यं साधयेत्' के अनुयायी काशी के ज्योतिषी और कर्मकांडी, कानपुर के बनिये और दलाल, कच-हरियों के अमले और मुख्तार, ऐसों को कार्य-भ्रंशकारी मूर्ख, निरे निठल्ले या खब्त-उल-हवास समझ सकते हैं। जिनकी भावना किसी वात के मार्मिक पक्ष का चित्रानुभव करने में तत्पर रहती है, जिनके भाव चराचर के बीच किसी को भी आलंबनो-पयुक्त रूप या दशा में पाते ही उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं, वे सदा

अपने लाभ के ध्यान से या स्वार्थबुद्धि द्वारा ही परिचालित नहीं होते। उनकी यही विशेषता अर्थपरायणों को—अपने काम से काम रखनेवालों को—एक त्रुटि सी जान पड़ती है। कवि और भावुक हाथ-पैर न हिलाते हों, यह बात नहीं है। पर अर्थियों के निकट उनकी बहुत सी क्रियाओं का कोई अर्थ नहीं होता।

मनुष्यता की उच्च भूमि

मनुष्य की चेष्टाओं और कर्मकलाप से भावों का मूल संबंध निरूपित हो चुका है और यह भी दिखाया जा चुका है कि कविता इन भावों या मनोविकारों के क्षेत्र को विस्तृत करती हुई उनका प्रसार करती है। पशुत्व से मनुष्यत्व में जिस प्रकार अधिक ज्ञान-प्रसार की विशेषता है उसी प्रकार अधिक भाव-प्रसार की भी। पशुओं के प्रेम की पहुँच प्रायः अपने जोड़े, बच्चों या खिलाने-पिलानेवालों तक ही होती है। इसी प्रकार उनका क्रोध भी अपने सतानेवालों तक ही जाता है, स्ववर्ग या पशुमात्र को सतानेवालों तक नहीं पहुँचता। पर मनुष्य में ज्ञान-प्रसार के साथ साथ भाव-प्रसार भी क्रमशः बढ़ता गया है। अपने परिजनों, अपने संबंधियों, अपने पड़ोसियों, अपने देशवासियों क्या मनुष्य मात्र और प्राणिमात्र तक से प्रेम करने भर को जगह उसके हृदय में बन गई। मनुष्य की त्योरी मनुष्य को ही सतानेवाले पर नहीं चढ़ती ; गाय-बैल और कुत्ते-बिल्ली को सतानेवाले पर भी चढ़ती है। पशु की वेदना देखकर भी उसके नेत्र सजल होते हैं। बंदर को शायद बँदरिया के मुँह में ही सौंदर्य दिखाई पड़ता होगा पर मनुष्य पशु-पक्षी, फूल-पत्ते और रेत-पत्थर में भी

सौंदर्य पाकर मुग्ध होता है। इस हृदय-प्रसार का स्मारक स्तंभ काव्य है जिसकी उत्तेजना से हमारे जीवन में एक नया जीवन आ जाता है। हम सृष्टि के सौंदर्य को देखकर रसमग्न होने लगते है, कोई निष्ठुर कार्य हमें असह्य होने लगता है, हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना बढ़कर सारे संसार में व्याप्त हो गया है।

कवि-वाणी के प्रसाद से हम संसार के सुख-दुःख, आनंद-क्लेश आदि का शुद्ध स्वार्थमुक्त रूप में अनुभव करते हैं। इस प्रकार के अनुभव के अभ्यास से हृदय का बंधन खुलता है और मनुष्यता की उच्च भूमि की प्राप्ति होती है। किसी अर्थपिशाच कृपण को देखिए जिसने केवल अर्थलोभ के वशीभूत होकर क्रोध, दया, श्रद्धा, भक्ति, आत्माभिमान आदि भावों को एकदम दबा दिया है और संसार के मार्मिक पक्ष से मुँह मोड़ लिया है। न सृष्टि के किसी रूपमाधुर्य को देख वह पैसों का हिसाब किताब भूल कभी मुग्ध होता है, न किसी दीन दुखिया को देख कभी करुणा से द्रवीभूत होता है; न कोई अपमान-सूचक बात सुनकर क्रुद्ध या क्षुब्ध होता है। यदि उससे किसी लोमहर्षण अत्याचार की बात कही जाय तो वह मनुष्य-धर्मानुसार क्रोध या घृणा प्रकट करने के स्थान पर रुखाई के साथ कहेगा कि "जाने दो, हमसे क्या मतलब; चलो अपना काम देखें।" यह महा भयानक मानसिक रोग है। इससे मनुष्य आधा मर जाता है। इसी प्रकार किसी महा क्रूर पुलिस कर्मचारी को जाकर देखिए जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है, जिसे दूसरे के दुःख और क्लेश की भावना स्वप्न में भी नहीं होती। ऐसों को सामने पाकर स्वभावतः यह मन में आता है कि क्या इनकी भी कोई दवा है। इनकी दवा कविता है।

कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भाव-सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है। उसकी अश्रुधारा में जगत् की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में आनंद-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत् के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।

भावना या कल्पना

आरंभ में ही हम काव्यानुशीलन को भावयोग कह आए हैं और उसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष बना आए हैं। यहाँ पर अब यह कहने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि 'उपासना' भावयोग का ही एक अंग है। पुराने धार्मिक लोग उपासना का अर्थ 'ध्यान' ही लिया करते हैं। जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्यवाले इसी को 'भावना' कहते है और आंजकल के लोग 'कल्पना'। जिस प्रकार भक्ति के लिये उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है उसी प्रकार और भावों के प्रवर्त्तन के लिये भी भावना या कल्पना अपेक्षित होती है। जिनकी भावना या कल्पना शिथिल या अशक्त होती है, किसी कविता या सरस उक्ति को को पढ़-सुनकर उनके हृदय में मार्मिकता होते हुए भी वैसी अनुभूति नहीं होती। बात यह है कि उनके अंतःकरण में चटपट वह सजीव और स्पष्ट-मूर्ति विधान नहीं होता जो भावों को परिचालित कर देता है। कुछ कवि किसी बात के सारे

मार्मिक अंगों का पूरे ब्योरे के साथ चित्रण कर देते हैं, पाठक या श्रोता की कल्पना के लिये बहुत कम काम छोड़ते हैं और कुछ कवि कुछ मार्मिक खंड रखते है जिन्हें पाठक की तत्पर कल्पना आपसे आप पूर्ण करती है।

कल्पना दो प्रकार की होती है—विधायक और ग्राहक। कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक में अधिकतर ग्राहक। अधिकतर कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ कवि पूर्ण चित्रण नहीं करता वहाँ पाठक या श्रोता को भी अपनी ओर से कुछ मूर्ति-विधान करना पड़ता है। योरपीय साहित्य-मीमांसा में कल्पना को वहुत प्रधानता दी गई है। है भी यह काव्य का अनिवार्य साधन; पर है साधन ही, साध्य नहीं, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। किसी प्रसंग के अंतर्गत कैसा ही विचित्र मूर्ति-विधान हो पर यदि उसमें उपयुक्त भावसंचार की क्षमता नहीं है तो वह काव्य के अंतर्गत न होगा।

मनोरंजन

प्रायः सुनने में आता है कि कविता का उद्देश्य मनोरंजन है। पर जैसा कि हम पहले कह आए हैं कविता का अंतिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य-स्थापन है। इतने गंभीर उद्देश्य के स्थान पर केवल मनोरंजन का हलका उद्देश्य सामने रखकर जो कविता का पठन-पाठन या विचार करते हैं वे रास्ते ही में रह जानेवाले पथिक के समान हैं। कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर उसके उपरांत कुछ और भी होता है और वही और सब कुछ है। मनोरंजन वह शक्ति है जिससे कविता अपना प्रभाव जमाने के लिये मनुष्य की चित्तवृत्ति को स्थिर किए

रहती है, उसे इधर उधर जाने नहीं देती। अच्छी से अच्छी बात को भी कभी कभी लोग केवल कान से सुन भर लेते हैं, उनकी ओर उनका मनोयोग नहीं होता। केवल यही कहकर कि 'परोपकार करो', 'दूसरों पर दया करो', 'चोरी करना महापाप है', हमें यह आशा कदापि न करनी चाहिए कि कोई अपकारी उपकारी, कोई क्रूर दयावान् या कोई चोर साधु हो जायगा। क्योंकि ऐसे वाक्यों के अर्थ की पहुँच हृदय तक होती ही नहीं, वह ऊपर ही ऊपर रह जाता है। ऐसे वाक्यों द्वारा सूचित व्यापारों का मानव जीवन के बीच कोई मार्मिक चित्र सामने न पाकर हृदय उनकी अनुभूति की ओर प्रवृत्त ही नहीं होता।

पर कविता अपनी मनोरंजन-शक्ति द्वारा पढ़ने या सुननेवाले का चित्त रमाए रहती है, जीवन-पट पर उक्त कर्मों की सुंदरता या विरूपता अंकित करके हृदय के मर्मस्थलों का स्पर्श करती है। मनुष्य के कुछ कर्मों में जिस प्रकार दिव्य सौंदर्य और माधुर्य होता है उसी प्रकार कुछ कर्मों में भीषण कुरूपता और भद्दापन होता है। इसी सौंदर्य या कुरूपता का प्रभाव मनुष्य के हृदय पर पड़ता है और इस सौंदर्य या कुरूपता का सम्यक् प्रत्यक्षीकरण कविता ही कर सकती है।

कविता की इसी रमानेवाली शक्ति को देखकर जगन्नाथ पंडितराज ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा योरपीय समीक्षकों ने 'आनंद' को काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार मार्ग को ही अंतिम गंतव्य स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़झाला हुआ। मनोरंजन या आनंद तो बहुत सी बातों में हुआ करता है। किस्सा-कहानी सुनने में भी तो पूरा मनोरंजन होता है, लोग रात रात भर सुनते रह जाते हैं। पर क्या कहानी

सुनना और कविता सुनना एक ही बात है? हम रसात्मक कथाओं या आख्यानों की बात नहीं कहते है; केवल घटना-वैचित्र्यपूर्ण कहानियों की बात कहते हैं। कविता और कहानी का अंतर स्पष्ट है। कविता सुननेवाला किसी भाव में मग्न रहता है और कभी कभी बार बार एक ही पद्य सुनना चाहता है। पर कहानी सुननेवाला आगे की घटना के लिये आकुल रहता है। कविता सुननेवाला कहता है "जरा फिर तो कहिए।" कहानी सुननेवाला कहता है, "हाँ! तबक्या हुआ?"

मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनंद पहुँचाना, ही यदि कविता का अंतिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई। परंतु क्या कोई कह सकता है कि वाल्मीकि ऐसे मुनि और तुलसीदास ऐसे भक्त ने केवल इतना ही समझकर श्रम किया कि लोगों को समय काटने का एक अच्छा सहारा मिल जायगा? क्या इससे गंभीर कोई उद्देश्य उनका न था? खेद के साथ कहना पड़ता है कि बहुत दिनों से बहुत से लोग कविता को विलास की सामग्री समझते आ रहे हैं। हिंदी के रीति-काल के कवि तो मानो राजाओं-महाराजाओं की काम-वासना उत्तेजित करने के लिये ही रखे जाते थे। एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज रस की पिचकारी देते थे। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुसखे भी कवि लोग तैयार करने लगे। गरमी के मौसिम के लिये एक कविजी व्यवस्था करते हैं—

सीतल गुलाबजल भरि चहबच्चन में,
डारि कै कमलदल न्हायबे को धँसिए।

कालिदास अंग अंग अगर अतर संग,
केसर उसीर नीर घनसार घँसिए ॥
जेठ में गोबिंद लाल ! चंदन के चहलन,
भरि भरि गोकुल के महलन बसिए ।

इसी प्रकार शिशिर के मसाले सुनिए—

गुलगुली गिलमैं, गलीचा हैं, गुनीजन हैं,
चिक हैं, चिराकै हैं, चिरागन की माला हैं ।
कहै पदमाकर है गजक गजा हू सजी,
सज्जा हैं, सुरा है, सुराही हैं, सुप्याला हैं ॥
सिसिर के पालां को न ब्यापत कसाला तिन्हैं,
जिनके अधीन एते उदित मसाला है ॥

सौंदर्य

सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुंदर वस्तु से पृथक् सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिये हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती है कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते है। हमारी अंतस्सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौंदर्य की अनुभूति है। इसके विपरीत कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं

जिनकी प्रतीति या जिनकी भावना हमारे मन में कुछ देर टिकने ही नहीं पाती और एक मानसिक आपत्ति सी जान पड़ती है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार-परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिये सुंदर कही जायगी। इस विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है वही बाहर है।

यही बाहर हँसता-खेलता, रोता-गाता, खिलता-मुरझाता जगत् भीतर भी है जिसे हम मन कहते हैं। जिस प्रकार यह जगत् रूपमय और गतिमय है उसी प्रकार मन भी। मन भी रूप-गति का संघात ही है। रूप मन और इंद्रियों द्वारा संघटित हैं या मन और इंद्रियाँ रूपों द्वारा, इससे यहाँ प्रयोजन नहीं। हमें तो केवल यही कहना है कि हमें अपने मन का और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है।

किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौंदर्य की अनुभूति कही जायगी। जिस प्रकार की रूपरेखा या वर्णविन्यास से किसी की तदाकार-परिणति होती है उसी प्रकार की रूपरेखा या वर्ण-विन्यास उसके लिये सुंदर है। मनुष्यता की सामान्य भूमि पर पहुँची हुई संसार की सब सभ्य जातियों में सौंदर्य के सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हैं। भेद अधिकतर अनुभूति की मात्रा में पाया जाता है। न सुंदर को कोई एकबारगी कुरूप कहता है और न बिलकुल कुरूप को सुंदर। जैसा कि कहा जा चुका है, सौंदर्य का दर्शन मनुष्य मनुष्य ही में नहीं करता है, प्रत्युत पल्लव-गुंफित पुष्पहास में, पक्षियों के पक्षजाल में, सिंदूराभ सांध्य दिगंचल

के हिरण्य-मेखला-मंडित घनखंड में, तुषारावृत तुंग गिरि-शिखर में, चंद्रकिरण से झलझलाते निर्झर में और न जाने कितनी वस्तुओं में वह सौंदर्य की झलक पाता है।

जिस सौंदर्य की भावना में मग्न होकर मनुष्य अपनी पृथक् सत्ता की प्रतीति का विसर्जन करता है वह अवश्य एक दिव्य विभूति है। भक्त लोग अपनी उपासना या ध्यान में इसी विभूति का अवलंबन करते हैं। तुलसी और सूर ऐसे सगुणोपासक भक्त राम और कृष्ण की सौंदर्य-भावना में मग्न होकर ऐसी मंगलदशा का अनुभव कर गए है जिसके सामने कैवल्य या मुक्ति की कामना का कहीं पता नहीं लगता।

कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप में सौंदर्य की छटा नहीं दिखाती प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौंदर्य के भी अत्यंत मार्मिक दृश्य सामने रखती है। वह जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुखमंडल आदि का सौंदर्य मन में लाती है उसी प्रकार उदारता, वीरता, त्याग, दया, प्रेमोत्कर्ष इत्यादि कर्मों और मनोवृत्तियों का सौंदर्य भी मन में जमाती है। जिस प्रकार वह शव को नोचते हुए कुत्तों और शृगालों के बीभत्स व्यापार की झलक दिखाती है उसी प्रकार क्रूरों की हिंसावृत्ति और दुष्टों की ईर्ष्या आदि की कुरूपता से भी क्षुब्ध करती है। इस कुरूपता का अवस्थान सौंदर्य की पूर्ण और स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिये ही समझना चाहिए। जिन मनोवृत्तियों का अधिकतर बुरा रूप हम संसार में देखा करते है उनका भी सुंदर रूप कविता ढूँढ़कर दिखाती है। दशवदन-निधनकारी राम के क्रोध के सौंदर्य पर कौन मोहित न होगा?

जो कविता रमणी के रूपमाधुर्य से हमें तृप्त करती है वही उसकी अंतर्वृत्ति की सुंदरता का आभास देकर हमें मुग्ध करती

है। जिस बंकिम की लेखनी ने गढ़ पर बैठी हुई राजकुमारी तिलोत्तमा के अंग-प्रत्यंग की सुषमा को अंकित किया है उसी ने नवाबनंदिनी आयशा के अंतस् की अपूर्व सत्त्वकी ज्योति की झलक दिखाकर पाठकों को चमत्कृत किया है। जिस प्रकार बाह्य प्रकृति के बीच वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि की रूप-विभूति से हम सौंदर्य-मग्न होते हैं उसी प्रकार अंतःप्रकृति में दया, दाक्षिण्य, श्रद्धा, भक्ति आदि वृत्तियों की स्निग्ध शीतल आभा में सौंदर्य लहराता हुआ पाते हैं। यदि कहीं बाह्य और आभ्यंतर दोनों सौंदर्यों का योग दिखाई पड़े तो फिर क्या कहना है! यदि किसी अत्यंत सुंदर पुरुष की धीरता, वीरता, सत्यप्रियता आदि अथवा किसी अत्यंत रूपवती स्त्री की सुशीलता, कोमलता और प्रेम-परायणता आदि भी सामने रख दी जायँ तो सौंदर्य की भावना सर्वांगपूर्ण हो जाती है।

सुंदर और कुरूप—काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी—ये सब शब्द काव्यक्षेत्र के बाहर के है। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं। शुद्ध काव्यक्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी ; न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखाई जाती हैं—सुंदर और असुंदर। जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है कवि उसके सौंदर्य-पक्ष पर आप भी मुग्ध रहता है और दूसरों को भी मुग्ध करता है। जिसे धर्मज्ञ अपनी दृष्टि के अनुसार शुभ या मंगल समझता है उसी को कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुंदर कहता है। दृष्टिभेद अवश्य है। धार्मिक की दृष्टि जीव के कल्याण, परलोक में सुख, भवबंधन से मोक्ष आदि की ओर रहती है। पर कवि की दृष्टि इन सब बातों की ओर नहीं रहती।

वह उधर देखता है जिधर सौंदर्य दिखाई पड़ता है। इतनी सी बात ध्यान में रखने से ऐसे ऐसे झमेलों में पड़ने की आवश्यकता बहुत कुछ दूर हो जाती है कि 'कला में सत्-असत्, धर्माधर्म का विचार होना चाहिए या नहीं', 'कवि को उपदेशक बनना चाहिए या नहीं'।

कवि की दृष्टि तो सौंदर्य की ओर जाती है, चाहे वह जहाँ हो—वस्तुओं के रूपरंग में अथवा मनुष्यों के मन, वचन और कर्म में। उत्कर्ष-साधन के लिये, प्रभाव की वृद्धि के लिये, कवि लोग कई प्रकार के सौंदर्यों का मेल भी किया करते हैं। राम की रूपमाधुरी और रावण की विकरालता भीतर का प्रतिबिंब सी जान पड़ती है। मनुष्य के भीतरी-बाहरी सौंदर्य के साथ चारों ओर की प्रकृति के सौंदर्य को भी मिला देने से वर्णन का प्रभाव कभी कभी बहुत बढ़ जाता है। चित्रकूट ऐसे रम्य स्थान में राम और भरत ऐसे रूपवानों की रम्य अंतःप्रकृति की छटा का क्या कहना है!

चमत्कारवाद

काव्य के संबंध में 'चमत्कार', 'अनूठापन' आदि शब्द बहुत दिनों से लाए जाते हैं। चमत्कार मनोरंजन की सामग्री है, इसमें संदेह नहीं। इससे जो लोग मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य समझते हैं वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूँढ़ा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर जो लोग इससे ऊँचा और गभीर लक्ष्य समझते हैं वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते। 'चमत्कार' से हमारा अभिप्राय यहाँ प्रस्तुत वस्तु के अद्भुतत्व या वैलक्षण्य से नहीं जो अद्भुत रस के आलंबन में होता है। 'चमत्कार' से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है जिसके अंतर्गत वर्णविन्यास की विशेषता (जैसे, अनुप्रास

में), शब्दों की क्रीड़ा (जैसे श्लेष, यमक आदि में), वाक्य की वक्रता या वचनभंगी (जैसे काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या संबंध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना (जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं।

चमत्कार का प्रयोग भावुक कवि भी करते है, पर किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिये। जिस रूप या जिस मात्रा में भाव की स्थिति है उसी रूप और उसी मात्रा में उसकी व्यंजना के लिये प्रायः कवियों को व्यंजना का कुछ असामान्य ढंग पकड़ना पड़ता है। बातचीत में भी देखा जाता है कि कभी कभी हम किसी को मूर्ख न कहकर 'बैल' कह देते है। इसका मतलब यही है कि उसकी मूर्खता की जितनी गहरी भावना मन में है वह 'मूर्ख' शब्द से नहीं व्यक्त होती। इसी बात को देखकर कुछ लोगों ने यह निश्चय किया कि यही चमत्कार या उक्तिवैचित्र्य ही काव्य का नित्य लक्षण है। इस निश्चय के अनुसार कोई वाक्य, चाहे वह कितना ही मर्मस्पर्शी हो, यदि उक्तिवैचित्र्यशून्य है तो काव्य के अंतर्गत न होगा और कोई वाक्य जिसमें किसी भाव या मर्म-विकार की व्यंजना कुछ भी न हो पर उक्तिवैचित्र्य हो, वह खासा काव्य कहा जायगा। उदाहरण के लिये पद्माकर का यह सीधा सादा वाक्य लीजिए—

"नैन नचाय कही मुसकाय 'लला फिर आइयो खेलन होरी'।"

अथवा मंडन का यह सवैया लीजिए—

अलि ! हौं तो गई जमुना-जल को, सो कहा कहौं, बीर ! विपत्ति परी।
घहराय कै कारी घटा उनई, इतनेई में गागर सीस धरी।

रपट्यो पग, घाट चढ्यो न गयो, कवि मंडन ह्वैकै बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नंद को बारो अरी, गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी॥

इसी प्रकार ठाकुर की यह अत्यंत स्वाभाविक वितर्क-व्यंजना देखिए—

वा निरमोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वैहै।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वैहै।
ठाकुर या मन को परतीति है, जौ पै सनेह न मानति ह्वैहै।
आवत हैं नित मेरे लिए, इतनो तो बिसेष कै जानति ह्वैहै॥

मंडन ने प्रेम-गोपन के जो वचन कहलाए हैं वे ऐसे ही है जैसे जल्दी में स्वभावतः मुँह से निकल पड़ते हैं। उनमें विदग्धता की अपेक्षा स्वाभाविकता कहीं अधिक झलक रही है। ठाकुर के सवैये में भी अपने प्रेम का परिचय देने के लिये आतुर नए प्रेमी के चित्त के वितर्क की बड़े सीधे सादे शब्दों में, बिना किसी वैचित्र्य या लोकोत्तर चमत्कार के, व्यंजना की गई है। क्या कोई सहृदय वैचित्र्य के अभाव के कारण कह सकता है कि इनमें काव्यत्व नहीं है?

अब इनके सामने उन केवल चमत्कारवाली उक्तियों का विचार कीजिए जिनमें कहीं कोई कवि किसी राजा की कीर्ति की धवलता चारों ओर फैलती देख यह आशंका प्रकट करता है कि कहीं मेरी स्त्री के बाल भी सफेद न हो जायँ[1] अथवा प्रभात होने पर कौवों के काँव-काँव का कारण यह भय बताता है कि कालिमा

---

१ [यथा यथा भोजयशो विवर्धते सितां त्रिलोकीमिव कर्तुमुद्यतम्,
तथा तथा मे हृदयं विदूयते प्रियालकालीधवलत्वशङ्कया॥
—भोजप्रबंध, ७६।]

या अंधकार का नाश करने में प्रवृत्त सूर्य कहीं उन्हें काला देख उनका भी नाश न कर दें[1]। भोजप्रबंध तथा और और सुभाषित-संग्रहों में इस प्रकार की उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। केशव की रामचंद्रिका में पचीसों ऐसे पद्य हैं जिनमें अलंकारों की भद्दी भरती के चमत्कार के सिवा हृदय को स्पर्श करनेवाली या किसी भावना में मग्न करनेवाली कोई बात न मिलेगी। उदाहरण के लिये पताका और पंचवटी के ये वर्णन लीजिए—

पताका

अति सुंदर अति साधु। थिर न रहति पल आधु।
परम तपोमय मानि। दंडधारिणी जानि॥

पंचवटी

वेर भयानक सी अति लगै। अर्क-समूह जहाँ जगमगै।
पांडव की प्रतिमा सम लेखौ। अर्जुन भीम महामति देखौ॥
है सुभगा सम दीपति पूरी। सिंदुर औ तिलकावलि रूरी।
राजति है यह ज्यों कुलकन्या। धाय विराजति है सँग धन्या॥

क्या कोई भावुक इन उक्तियों को शुद्ध काव्य कह सकता है? क्या वे उसके मर्म का स्पर्श कर सकती है?

ऊपर दिए अवतरणों में हम स्पष्ट देखते है कि किसी उक्ति की तह में उसके प्रवर्तक के रूप में यदि कोई भाव या मार्मिक अंतर्वृत्ति छिपी है तो चाहे वैचित्र्य हो या न हो, काव्य की सरसता बराबर पाई जायगी। पर यदि कोरा वैचित्र्य या चमत्कार ही चमत्कार है तो थोड़ी देर के लिये कुछ कुतूहल या

---

१ [देखिए पीछे, पृष्ठ १४।]

मनबहलाव चाहे हो जाय पर काव्य को लीन करनेवाली सरसता न पाई जायगी। केवल कुतूहल तो बालवृत्ति है। कविता सुनना और तमाशा देखना एक ही बात नहीं है। यदि सब प्रकार की कविता में केवल आश्चर्य या कुतूहल का ही संचार मानें तब तो अलग अलग स्थायी भावों की रसरूप में अनुभूति और भिन्न भिन्न भावों के आश्रयों के साथ तादात्म्य का कहीं प्रयोजन ही नहीं रह जाता।

यह बात ठीक है कि हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके मर्म का जो स्पर्श होता है, वह उक्ति ही के द्वारा। पर उक्ति के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह सदा विचित्र, अद्भुत या लोकोत्तर हो—ऐसी हो जो सुनने में नहीं आया करती या जिसमें बड़ी दूर की सूझ होती है। ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौंदर्य आदि) में लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं, सूक्ति है। बहुत से लोग काव्य और सूक्ति को एक ही समझा करते हैं। पर इन दोनों का भेद सदा ध्यान में रहना चाहिए। जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।

यदि किसी उक्ति में रसात्मकता और चमत्कार दोनों हों तो प्रधानता का विचार करके सूक्ति या काव्य का निर्णय हो सकता है। जहाँ उक्ति में अनूठापन अधिक मात्रा में होने पर भी

उसकी तह में रहनेवाला भाव आच्छन्न नहीं हो जाता वहाँ भी काव्य ही माना जायगा। जैसे, देव का यह सवैया लीजिए—

साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि।
देव जियै मिलिवेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरें हँसि हेरि हियो जो लियो हरि जू हरि॥

सवैये का अर्थ यह है कि वियोग में उस नायिका के शरीर को संघटित करनेवाले पंचभूत धीरे धीरे निकलते जा रहे हैं। वायु दीर्घ निःश्वासों के द्वारा निकल गई, जलतत्त्व सारा आँसुओं ही आँसुओं में ढल गया, तेज भी न रह गया—शरीर की सारी दीप्ति या कांति जाती रही, पार्थिव तत्त्व के निकल जाने से शरीर भी क्षीण हो गया; अब तो उसके चारों ओर आकाश ही आकाश रह गया है—चारों ओर शून्य दिखाई पड़ रहा है। जिस दिन से श्रीकृष्ण ने उसकी ओर मुँह फेरकर ताका है और मंद मंद हँसकर उसके मन को हर लिया है उसी दिन से उसकी यह दशा है।

इस वर्णन में देवजी ने विरह की भिन्न भिन्न दशाओं में चार भूतों के निकलने की बड़ी सटीक उद्भावना की है। आकाश का अस्तित्व भी बड़ी निपुणता से चरितार्थ किया है। यमक, अनुप्रास आदि भी हैं। सारांश यह कि उनकी उक्ति में एक पूरी सावयव कल्पना है, मजमून की पूरी बंदिश है, पूरा चमत्कार या अनूठापन है। पर इस चमत्कार के बीच में भी विरह-वेदना स्पष्ट झलक रही है, उसकी चकाचौंध में अदृश्य नहीं हो गई है। इसी प्रकार मतिराम के इस सवैये की पिछली दो पंक्तियों में वर्षा के रूपक का जो व्यंग्य-चमत्कार है वह भाव-शबलता के साथ अनूठे ढंग से गुंफित है—

दोऊ अनंद सो आँगन माँझ बिराजैं असाढ़ की साँझ सुहाई।
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई।
आई उनै मुँह में हँसी, कोहि तिया पुनि चाप सी भौंह चढ़ाई।
आँखिन तें गिरे आँसू के बूँद, सुहास गयो उड़ि हंस की नाईं॥

इसके विरुद्ध विहारी की उन उक्तियों में जिनमें विरहिणी के शरीर के पास ले जाते ले जाते शीशी का गुलाबजल सूख जाता है;[1] उसके विरह-ताप की लपट के मारे माघ के महीने में भी पड़ोसियों का रहना कठिन हो जाता है,[2] कृशता के कारण विरहिणी साँस खींचने के साथ दो-चार हाथ पीछे और साँस छोड़ने के साथ दो-चार हाथ आगे उड़ जाती है,[3] अत्युक्ति का एक बड़ा तमाशा ही खड़ा किया गया है। कहाँ यह सब मजाक कहाँ विरहवेदना!

यह कहा जा चुका है कि उमड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अक्सर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ जाती है। ऐसी वक्रता काव्य की 'प्रक्रिया के भीतर रहती है। उसका अनूठापन भावविधान के बाहर की वस्तु नहीं। उदाहरण के लिये दासजी की ये विरहदशा-सूचक उक्तियाँ लीजिए—

अब तौ बिहारी के वे बानक गए री,
तेरी तन-दुति-केसर को नैन कसमीर भो।

---

१ [औंधाई सीसी सुलखि बिरह बरति बिललात।
बिचहीं सूखि गुलाब गो, छींटौ छुई न गात॥]

२ [आड़े दै आले बसन जाड़ेहू की राति।
साहसु ककै सनेह-बस सखी सबै ढिग जाति॥]

३ [इत आवति चलि जाति उत चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरै सै रहै लगी उसासन साथ॥]

औन तुव बानी स्वाति-बूँदन के चातक भे,
साँसन को भरिबो द्रुपदजा को चीर भो।
हिय को हरष मरु धरनि को नीर भो, री!
जियरो मनोभव-सरन को तुनीर भो।
एरी! वेगि करिकै मिलापु थिर थापु,
न तौ आपु अब चहत अतनु को सरीर भो॥

ऐसी ही भावप्रेरित वक्रता द्विजदेव की इस मनोहर उक्ति में है—

तू जो कही, सखि! लोनो सरूप, सो मो अँखियान को लोनी गई लगि।

प्रेम के स्फुरण की विलक्षण अनुभूति नायिका को हो रही है—कभी आँसू आते हैं, कभी अपनी दशा पर आप अचरज होता है, कभी हलकी सी हँसी भी आ जाती है कि अच्छी बला मैंने मोल ली। इसी बीच अपनी अंतरंग सखी को सामने पाकर किंचित् विनोद-चातुरी की भी प्रवृत्ति होती है। ऐसी जटिल अंतर्वृत्ति द्वारा प्रेरित उक्ति में विचित्रता आ ही जाती है। ऐसी चित्त-वृत्तियों के अवसर घड़ी घड़ी नहीं आया करते। सूरदासजी का 'भ्रमरगीत' ऐसी भाव-प्रेरित वक्र उक्तियों से भरा पड़ा है।

उक्ति की वहीं तक वचनभंगी या वक्रता के संबंध में हमसे कुंतलजी का 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' मानते बनता है, जहाँ तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अंतर्वृत्ति से संबद्ध हो; उसके आगे नहीं। कुंतलजी की वक्रता बहुत व्यापक है जिसके अंतर्गत वे वाक्य-वैचित्र्य की वक्रता और वस्तु-वैचित्र्य की वक्रता दोनों लेते हैं। सालंकृत वक्रता के चमत्कार ही में वे काव्यत्व मानते हैं। योरप में भी आजकल क्रोस के प्रभाव से एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद जोर पर है। विलायती वक्रोक्तिवाद लक्षणा-प्रधान है। लाक्षणिक चपलता

और प्रगल्भता में ही, उक्ति के अनूठे स्वरूप में ही, बहुत से लोग वहाँ कविता मानने लगे हैं। उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी उक्ति, किस प्रकार की व्यंजना करनेवाला वाक्य। वक्रोक्तिवादी कहेंगे कि ऐसी उक्ति जिसमें कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हो, व्यंजना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक ठीक बात की न भी हो। पर जैसा कि हम कह चुके हैं, मनोरंजन मात्र काव्य का उद्देश्य न माननेवाले उनकी इस बात का समर्थन करने में असमर्थ होंगे। वे किसी लक्षणा में उसका प्रयोजन अवश्य ढूँढ़ेंगे।

काव्य की भाषा

कविता में कही गई बात चित्र-रूप में हमारे सामने आनी चाहिए, यह हम पहले कह आए हैं। अतः उसमें गोचर रूपों का विधान अधिक होता है। वह प्रायः ऐसे रूपों और व्यापारों को ही लेती है जो स्वाभाविक होते हैं और संसार में सबसे अधिक मनुष्यों को सबसे अधिक दिखाई पड़ते है।

अगोचर बातो या भावनाओं को भी, जहाँ तक हो सकता है, कविता स्थूल गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्त विधान के लिये वह भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेती है। जैसे, 'समय बीता जाता है' कहने की अपेक्षा 'समय भागा जाता है' कहना वह अधिक पसंद करेगी। किसी काम से हाथ खींचना, किसी का रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना, दिन ढलना या डूबना, मन मारना, मन छूना, शोभा बरसना, उदासी टपकना इत्यादि ऐसी ही कवि-समय-सिद्ध उक्तियाँ है जो बोलचाल में रूढ़ि होकर आ गई हैं। लक्षणा द्वारा स्पष्ट और

सजीव आकार-प्रदान का विधान प्रायः सब देशों के कवि-कर्म में पाया जाता है। कुछ उदाहरण देखिए—

(क) धन्य भूमि बनपंथ पहारा।
जहँ जहँ नाथ **पाँव तुम धारा**।—तुलसी।

(ख) मनहु **उमगि** अँग अँग छवि **छलकै**।—तुलसी।

(ग) चूनरि चारु **चुई सी परै**।

(घ) बनन में बागन में **बगरो** बसंत है।—पद्माकर।

(ङ) वृंदावन बागन पै बसंत **बरसो परै**।—पद्माकर।

(च) हौं तो स्यामरंग में चोराय चित चोराचोरी,
बोरत तो **बोरयो** पै **निचोरत** बनै नहीं।—पद्माकर।

(छ) एहो नंदलाल ! ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तौ चलौ, जोरे **जुरि जायगी**।
कहै पद्माकर नहीं तौ ये झकोरे लगे,
औरे लौं अचाका बिनु घोरे **घुरि जायगी**।
तौ ही लगि चैन जौ लौं चेतिहै न चंदमुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चाँदनी में **चुरि जायगी**।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वस्तु या तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा भाव या मार्मिक अंतर्वृत्ति के अनुरूप व्यंजना के लिये लक्षणा का बहुत कुछ सहारा कवि को लेना पड़ता है।

भावना को मूर्त रूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जाति-संकेतवाले शब्दों की अपेक्षा विशेष-रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं। बहुत से ऐसे शब्द होते हैं जिनसे किसी एक का नहीं बल्कि बहुत से रूपों या व्यापारों का एक साथ चलता सा अर्थग्रहण हो जाता है। ऐसे शब्दों को हम जाति-संकेत कह

सकते हैं। ये मूर्त विधान के प्रयोजन के नहीं होते। किसी ने कहा 'वहाँ बड़ा अत्याचार हो रहा है'। इस अत्याचार शब्द के अंतर्गत मारना-पीटना, डाटना-डपटना, लूटना-पाटना, इत्यादि बहुत से व्यापार हो सकते हैं, अतः 'अत्याचार' शब्द के सुनने से उन सब व्यापारों की एक मिली-जुली अस्पष्ट भावना थोड़ी देर के लिये मन में आ जाती है; कुछ विशेष व्यापारों का स्पष्ट चित्र या मूर्त रूप नहीं खड़ा होता। इससे ऐसे शब्द कविता के उतने काम के नहीं। ये तत्त्व-निरूपण, शास्त्रीय विचार आदि में ही अधिक उपयोगी होते हैं। भिन्न भिन्न शास्त्रों में बहुत से शब्द तो विलक्षण ही अर्थ देते हैं और पारिभाषिक कहलाते हैं। शास्त्र-मीमांसक या तत्त्व-निरूपक को किसी सामान्य तथ्य या तत्त्व तक पहुँचने की जल्दी रहती है, इससे वह किसी सामान्य धर्म के अंतर्गत आनेवाली बहुत सी बातों को एक मानकर अपना काम चलाता है, प्रत्येक का अलग अलग दृश्य देखने-दिखाने में नहीं उलझता।

पर कविता कुछ वस्तुओं और व्यापारों को मन के भीतर मूर्त रूप में लाने और प्रभाव उत्पन्न करने के लिये कुछ देर रखना चाहती है। अतः उक्त प्रकार के व्यापक अर्थ-संकेतों से ही उसका काम नहीं चल सकता। इससे जहाँ उसे किसी स्थिति का वर्णन करना रहता है वहाँ वह उसके अंतर्गत सबसे अधिक मर्मस्पर्शिनी कुछ विशेष वस्तुओं या व्यापारों को लेकर उनका चित्र खड़ा करने का आयोजन करती है। यदि कहीं के घोर अत्याचार का वर्णन करना होगा तो वह कुछ निरपराध व्यक्तियों के वध, भीषण यंत्रणा, स्त्री-बच्चों पर निष्ठुर प्रहार आदि का क्षोभकारी दृश्य सामने रखेगी। 'वहाँ घोर अत्याचार हो रहा है' इस वाक्य द्वारा वह कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकती।

'अत्याचार' शब्द के अंतर्गत न जाने कितने व्यापार आ सकते हैं, अतः उसे सुनकर या पढ़कर संभव है कि भावना में एक भी व्यापार स्पष्ट रूप से न आए या आए भी तो ऐसा जिसमें मर्म को क्षुब्ध करने की शक्ति न हो।

उपर्युक्त विचार से ही किसी व्यवहार या शास्त्र के पारिभाषिक शब्द भी काव्य में लाए जाने योग्य नहीं माने जाते। हमारे यहाँ के आचार्यों ने पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग को 'अप्रतीतत्व' दोष माना है। पर दोष स्पष्ट होते हुए भी चमत्कार के प्रेमी कब मान सकते हैं? संस्कृत के अनेक कवियों ने वेदांत, आयुर्वेद, न्याय के पारिभाषिक शब्दों को लेकर बड़े बड़े चमत्कार खड़े किए है या अपनी बहुज्ञता दिखाई है। हिंदी के किसी मुकद्मेबाज कवित्त कहनेवाले ने 'प्रेमफौजदारी' नाम की एक छोटी सी पुस्तक में शृंगाररस की बातें अदालती कार्रवाइयों पर घटाकर लिखी हैं। 'एकतरफा डिगरी', 'तनकीह' ऐसे ऐसे शब्द चारों ओर अपनी बहार दिखा रहे हैं, जिन्हें सुनकर कुछ अशिक्षित या भद्दी रुचिवाले वाह वाह भी कर देते हैं।

शास्त्र के भीतर निरूपित तथ्य को भी जब कोई कवि अपनी रचना के भीतर लेता है तब वह पारिभाषिक तथा अधिक व्याप्तिवाले जाति-संकेत शब्दों को हटाकर उस तथ्य को व्यंजित करनेवाले कुछ विशेष मार्मिक रूपों और व्यापारों का चित्रण करता है। कवि गोचर और मूर्त रूपो के द्वारा ही अपनी बात कहता है। उदाहरण के लिये गोस्वामी तुलसीदासजी के ये वचन लीजिए—

जेहि निसि सकल जीव सूतहि तव कृपापात्र जन जागै।

इसमें माया में पड़े हुए जीव की अज्ञानदशा का काव्य-पद्धति
र कथन है। और देखिए। प्राणी आयु भर क्लेश-निवारण

और सुखप्राप्ति का प्रयास करता रह जाता है और कभी वास्तविक सुख-शांति प्राप्त नहीं करता, इस बात को गोस्वामीजी यों सामने रखते हैं—

डासत ही गई बीति निसा सब, कबहुँ न नाथ ! नींद भरि सोयो।

भविष्य का अज्ञान अत्यंत अद्भुत और रहस्यमय है जिसके कारण प्राणी आनेवाली विपत्ति की कुछ भी भावना न करके अपनी दशा में मग्न रहता है। इस बात को गोस्वामीजी ने 'चरै हरित तृन बलिपसु' इस चित्र द्वारा व्यक्त किया है। अँगरेज कवि पोप ने भी भविष्य के अज्ञान का यही मार्मिक चित्र लिया है, यद्यपि उसने इस अज्ञान को ईश्वर का बड़ा भारी अनुग्रह कहा है—

उस बलिपशु को देख आज जिसका तू, रे नर !
अपने रँग में रक्त बहाएगा वेदी पर।
होता उसको ज्ञान कहीं तेरा है जैसा,
क्रीड़ा करता कभी उछलता फिरता ऐसा ?
अंतकाल तक हरा हरा चारा चभलाता।
हनन हेतु उस उठे हाथ को चाटे जाता।
आगम का अज्ञान ईश का परम अनुग्रह ॥*

बातचीत में भी जब किसी को अपने कथन द्वारा कोई

---

* The lamb thy riot dooms to bleed today,
Had he thy reason, would he skip and play ?
Pleased to the last he crops the flow'ry food,
And licks the hand just raised to shed his blood,
The blindness to the future kindly given.
—Essay on Man.

मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करना होता है तब वह इसी पद्धति का अवलंबन करता है। यदि अपनी पत्नी पर अत्याचार करनेवाले किसी व्यक्ति को उसे समझाना है तो वह कहेगा कि 'तुमने इसका हाथ पकड़ा है'; यह न कहेगा कि 'तुमने इसके साथ विवाह किया है'। 'विवाह' शब्द के अंतर्गत न जाने कितने विधि-विधान हैं जो सबके सब एकबारगी मन में आ भी नहीं सकते और उतने व्यंजक या मर्मस्पर्शी भी नहीं होते। अतः कहनेवाला उनमें से जो सबसे अधिक व्यंजक और स्वाभाविक व्यापार 'हाथ पकड़ना' है, जिससे सहारा देने का चित्र सामने आता है, उसे भावना में लाता है।

तीसरी विशेषता कविता की भाषा में वर्ण-विन्यास की है। 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' और 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' का भेद हमारी पंडित-मंडली में बहुत दिनों से प्रसिद्ध चला आता है। काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्त विधान के लिये कविता चित्र-विद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद-सौष्ठव के लिये वह संगीत का कुछ कुछ सहारा लेती है। श्रुति-कटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्तविधान, लय, अंत्यानुप्रास आदि नाद-सौंदर्य-साधन के लिये ही हैं। नाद-सौष्ठव के निमित्त निरूपित वर्ण-विशिष्टता को हिंदी के हमारे कुछ पुराने कवि इतनी दूर तक घसीट ले गए कि उनकी बहुत सी रचना बेडौल और भावशून्य हो गई। उसमें अनुप्रास की लंबी लड़ी—वर्ण-विशेष की निरंतर आवृत्ति—के सिवा और किसी बात पर ध्यान नहीं जाता। जो बात भाव या रस की धारा का मन के भीतर अधिक प्रसार करने के लिये थी, वह अलग चमत्कार या तमाशा खड़ा करने के लिये काम में लाई गई।

नाद-सौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती है। तालपत्र, भोजपत्र, कागज आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत सी उक्तियों को लोग, उनके अर्थ की रमणीयता इत्यादि की ओर ध्यान ले जाने का कष्ट उठाए बिना ही, प्रसन्न-चित्त रहने पर गुनगुनाया करते हैं। अतः नाद-सौंदर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिये कुछ न कुछ आवश्यक होता है। इसे हम बिल्कुल हटा नहीं सकते। जो अंत्यानुप्रास को फालतू समझते हैं वे छंद को पकड़े रहते हैं, जो छंद को भी फालतू समझते हैं वे लय में ही लीन होने का प्रयास करते हैं। संस्कृत से संबंध रखनेवाली भाषाओं में नाद-सौंदर्य के समावेश के लिये बहुत अवकाश रहता है। अतः अँगरेजी आदि अन्य भाषाओं की देखादेखी, जिनमें इसके लिये कम जगह है, अपनी कविता को हम इस विशेषता से वंचित कैसे कर सकते हैं ?

हमारी काव्यभाषा में एक चौथी विशेषता भी है जो संस्कृत से ही आई है। वह यह है कि कहीं कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप, गुण या कार्य-बोधक शब्दों का व्यवहार किया जाता है। ऊपर से देखने में तो पद्य के नपे हुए चरणों में शब्द खपाने के लिये ही ऐसा किया जाता है, पर थोड़ा विचार करने पर इससे गुरुतर उद्देश्य प्रकट होता है। सच पूछिए तो यह बात कृत्रिमता बचाने के लिये की जाती है। मनुष्यों के नाम यथार्थ में कृत्रिम संकेत हैं, जिनसे कविता की पूर्ण परिपोषकता नहीं होती। अतएव कवि मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी कभी उनके ऐसे रूप, गुण या व्यापार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक और अर्थगर्भित होने के कारण सुननेवाले की भावना के निर्माण में योग देते हैं। गिरिधर,

मुरारि, त्रिपुरारि, दीनबंधु, चक्रपाणि, मुरलीधर, सव्यसाची इत्यादि शब्द ऐसे ही हैं।

ऐसे शब्दों को चुनते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे प्रकरण-विरुद्ध या अवसर के प्रतिकूल न हों। जैसे, यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ष अत्याचारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिये 'हे गोपिकारमण! हे वृंदावन-विहारी!' आदि कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा 'हे मुरारि! हे कंसनिकंदन!' आदि संबोधनों से पुकारना अधिक उपयुक्त है; क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा कंस आदि दुष्टों का मारा जाना देखकर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा होती है न कि उनका वृंदावन में गोपियों के साथ विहार करना देखकर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिये कृष्ण को 'मुरलीधर' कहकर पुकारने की अपेक्षा 'गिरिधर' कहना अधिक अर्थसंगत है।

अलंकार

कविता में भाषा की सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिये कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है; कभी उसके रूपरंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूपरंग मिलाकर तीव्र करने के लिये समान रूप और धर्मवाली और-और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी कभी बात को भी घुमा-फिराकर कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं। इनके सहारे से कविता अपना प्रभाव बहुत कुछ बढ़ाती है। कहीं कहीं तो इनके बिना काम

ही नहीं चल सकता। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ये साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य को भुलाकर इन्हीं को साध्य मान लेने से कविता का रूप कभी कभी इतना विकृत हो जाता है कि वह कविता ही नहीं रह जाती। पुरानी कविता में कहीं कहीं इस बात के उदाहरण मिल जाते हैं।

अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हों (जैसे, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि में) चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में (जैसे, अप्रस्तुतप्रशंसा, परिसंख्या, व्याजस्तुति, विरोध इत्यादि में), चाहे वर्ण-विन्यास के रूप में (जैसे, अनुप्रास में) लाए जाते हैं वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष-साधन के लिये ही। मुख के वर्णन में जो कमल, चंद्र आदि सामने रखे जाते हैं वह इसी लिये जिनमें इनकी वर्णरुचिरता, कोमलता, दीप्ति इत्यादि के योग से सौंदर्य की भावना और बढ़े। सादृश्य या साधर्म्य दिखाना उपमा, उत्प्रेक्षा इत्यादि का प्रकृत लक्ष्य नहीं है। इस बात को भूलकर कवि-परंपरा में बहुत से ऐसे उपमान चला दिए गए है जो प्रस्तुत भावना में सहायता पहुँचाने के स्थान पर बाधा डालते है। जैसे, नायिका का अंगवर्णन सौंदर्य की भावना प्रतिष्ठित करने के लिये ही किया जाता है। ऐसे वर्णन में यदि कटि का प्रसंग आने पर भिड़ या सिंह की कमर सामने कर दी जायगी तो सौंदर्य की भावना में क्या वृद्धि होगी? प्रभात के सूर्यबिंब के संबंध में इस कथन से कि 'है शोणित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल को'[1] अथवा शिखर की तरह उठे हुए मेघखंड के ऊपर उदित होते हुए चंद्रबिंब के संबंध में इस उक्ति से कि "मनहुँ क्रमेलक-पीठ पै धर्यो गोल

---

१ [केशवदासकृत रामचंद्र-चंद्रिका, पाँचवाँ प्रकाश छंद १०।]

घंटा लसत," दूर की सूझ चाहे प्रकट हो, पर प्रस्तुत सौंदर्य की भावना की कुछ भी पुष्टि नहीं होती।

पर जो लोग चमत्कार ही को काव्य का स्वरूप मानते हैं वे अलंकार को काव्य का सर्वस्व कहा ही चाहें। चंद्रालोककार तो कहते हैं कि—

अङ्गीकरोति य. काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

भरत मुनि ने रस की प्रधानता की ओर ही संकेत किया था; पर भामह, उद्भट आदि कुछ प्राचीन आचार्यों ने वैचित्र्य का पल्ला पकड़ अलंकारों को प्रधानता दी। इनमें बहुतेरे आचार्यों ने अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में—रस, रीति, गुण आदि काव्य में प्रयुक्त होनेवाली सारी सामग्री के अर्थ में—किया है। पर ज्यों ज्यों शास्त्रीय विचार गंभीर और सूक्ष्म होता गया त्यो त्यों साध्य और साधनों को विविक्त करके काव्य के नित्य स्वरूप या मर्म-शरीर को अलग निकालने का प्रयास बढ़ता गया। रुद्रट और मम्मट के समय से ही काव्य का प्रकृत स्वरूप उभरते उभरते विश्वनाथ महापात्र के साहित्यदर्पण में साफ ऊपर आ गया।

प्राचीन गड़बड़झाला मिटे बहुत दिन हो गए। वर्ण्य वस्तु और वर्णन-प्रणाली बहुत दिनों से एक दूसरे से अलग कर दी गई है। प्रस्तुत अप्रस्तुत के भेद ने बहुत सी बातों के विचार और निर्णय के सीधे रास्ते खोल दिए हैं। अब यह स्पष्ट हो गया है कि अलंकार प्रस्तुत या वर्ण्य वस्तु नहीं; बल्कि वर्णन की भिन्न भिन्न प्रणालियाँ है, कहने के खास खास ढंग हैं। पर प्राचीन अव्यवस्था के स्मारक-स्वरूप कुछ अलंकार ऐसे चले आ

रहे हैं जो वर्ण्य वस्तु का निर्देश करते हैं और अलंकार नहीं कहे जा सकते—जैसे, स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति। स्वभावोक्ति को लेकर कुछ अलंकार-प्रेमी कह बैठते है कि प्रकृति का वर्णन भी तो स्वभावोक्ति अलंकार ही है। पर स्वभावोक्ति अलंकार-कोटि में आ ही नहीं सकती। अलंकार वर्णन करने की प्रणाली है। चाहे जिस वस्तु या तथ्य के कथन को हम किसी अलंकार-प्रणाली के अंतर्गत ला सकते हैं। किसी वस्तु विशेष से किसी अलंकार-प्रणाली का संबंध नहीं हो सकता। किसी तथ्य तक वह परिमित नहीं रह सकती। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं, रस-व्यवस्था का विषय है। किन किन वस्तुओं, चेष्टाओं या व्यापारों का वर्णन किन किन रसों के विभावों और अनुभावों के अतर्गत आएगा, इसकी सूचना रसनिरूपण के अंतर्गत ही हो सकती है।

अलंकारों के भीतर स्वभावोक्ति का ठीक ठीक लक्षण-निरूपण हो भी नहीं सका है। काव्यप्रकाश की कारिका में यह लक्षण दिया गया है—

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादे स्वक्रियारूप-वर्णनम्।

अर्थात् 'जिसमें बालकादिकों की निज की क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति है।' प्रथम तो बालकादिक पद की व्याप्ति कहाँ तक है, यही स्पष्ट नहीं। अतः यही समझा जा सकता है कि सृष्टि की वस्तुओं के रूप और व्यापार का वर्णन स्वभावोक्ति है। खैर, बालक की रूपचेष्टा को लेकर ही स्वभावोक्ति की अलंकारता पर विचार कीजिए। वात्सल्य में बालक के रूप आदि का वर्णन आलंबन विभाव के अंतर्गत और उसकी चेष्टाओं का वर्णन उद्दीपन विभाव के अंतर्गत होगा। प्रस्तुत

वस्तु की रूप-क्रिया आदि के वर्णन को रस-क्षेत्र से घसीटकर अलंकार-क्षेत्र में हम कभी नहीं ले जा सकते। मम्मट ही के ढंग के और आचार्यों के लक्षण भी हैं। अलंकार-सर्वस्व-कार राजानक रुय्यक कहते हैं—

सूक्ष्म-वस्तु-स्वभाव-यथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः।

आचार्य दंडी ने अवस्था की योजना करके यह लक्षण लिखा है—

नानावस्थं पदार्थानां साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥

बात यह है कि स्वभावोक्ति अलंकारों के भीतर आ ही नहीं सकती। वक्रोक्तिवादी कुंतल ने भी इसे अलंकार नहीं माना है।

जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलंकार लादकर सुंदर नहीं हो सकती ? उसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की रमणीयता के अभाव में अलंकारों का ढेर काव्य का सजीव स्वरूप नहीं खड़ा कर सकता। केशवदास के पचीसों पद्य ऐसे रखे जा सकते हैं जिनमें यहाँ से वहाँ तक उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ भरी है, शब्द-साम्य के बड़े बड़े खेल-तमाशे जुटाए गए हैं, पर उनके द्वारा कोई मार्मिक अनुभूति नहीं उत्पन्न होती। उन्हें कोई सहृदय या भावुक काव्य न कहेगा। आचार्यों ने भी अलंकारों को 'काव्य-शोभाकर,' 'शोभातिशायी' आदि ही कहा है। महाराज भोज भी अलंकार को 'अलमर्थमलंकर्त्तुं:' ही कहते हैं। पहले से सुंदर अर्थ को ही अलंकार शोभित कर सकता है। सुंदर अर्थ की शोभा बढ़ाने में जो अलंकार प्रयुक्त नहीं वे काव्यालंकार नहीं। वे ऐसे ही हैं जैसे शरीर पर से उतारकर किसी अलग कोने में रखा हुआ गहनों का ढेर। किसी भाव या मार्मिक भावना से

असंपृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशे हैं। चमत्कार का विवेचन पहले हो चुका है।

अलंकार हैं क्या? सूक्ष्म दृष्टिवालों ने काव्यों के सुंदर सुंदर स्थल चुने और उनकी रमणीयता के कारणों की खोज करने लगे। वर्णन-शैली या कथन की पद्धति में ऐसे लोगों को जो जो विशेषताएँ मालूम होती गईं उनका वे नामकरण करते गए। जैसे, 'विकल्प' अलंकार का निरूपण पहले-पहल राजानक रुय्यक ने किया। कौन कह सकता है कि काव्यों में जितने रमणीय स्थल हैं सब ढूँढ़ डाले गए, वर्णन की जितनी सुंदर प्रणालियाँ हो सकती हैं सब निरूपित हो गईं अथवा जो जो स्थल रमणीय लगे उनकी रमणीयता का कारण वर्णन-प्रणाली ही थी? आदि-काव्य रामायण से लेकर इधर तक के काव्यों में न जाने कितनी विचित्र वर्णन-प्रणालियाँ भरी पड़ी हैं जो न निर्दिष्ट की गई हैं और न जिनके कुछ नाम रखे गए हैं।

उपसंहार

कविता पर अत्याचार भी बहुत कुछ हुआ है। लोभियों, स्वार्थियों और खुशामदियों ने उसका गला दबाकर कहीं अपात्रों की—आसमान पर चढ़ानेवाली—स्तुति कराई है, कहीं द्रव्य न देनेवालों की निराधार निंदा। ऐसी तुच्छ वृत्तिवालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास के योग्य नहीं। कविता-देवी के मंदिर ऊँचे, खुले, विस्तृत और पुनीत हृदय हैं। सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री, में ही सौंदर्य नहीं ढूँढ़ा करते। वे फूस के झोपड़ों, धूल-मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुँह में चारा डालते हुए पक्षियों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी

करती हुई विल्लियों में कभी कभी ऐसे सौंदर्य का दर्शन करते हैं जिसकी छाया महलों और दरबारों तक नहीं पहुँच सकती। श्रीमानों के शुभागमन पर पद्य बनाना, बात बात में उनको बधाई देना, कवि का काम नहीं। जिनके रूप या कर्मकलाप जगत् और जीवन के बीच में उसे सुंदर लगते हैं उन्हीं के वर्णन में वह 'स्वांत:सुखाय' प्रवृत्त होता है।

मनुष्य के लिये कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में, किसी न किसी रूप में, पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा। बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा सघन और जटिल मंडल बाँधता चला आ रहा है जिसके भीतर बँधा बँधा वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का संबंध भूला सा रहता है। इस परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है। इसी से अंत:प्रकृति में मनुष्यता को समय समय पर जगाते रहने के लिये कविता मनुष्यजाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं।

काव्य के विभाग

आत्मबोध और जगद्बोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी पर हृदय ने कभी उसकी परवा न की; भावना दोनों को एक ही मानकर चलती रही। इस दृश्य जगत् के बीच जिस आनंद-मंगल की विभूति का साक्षात्कार होता रहा उसी के स्वरूप की नित्य और चरम भावना द्वारा भक्तों के हृदय में भगवान् के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई। लोक में इसी स्वरूप के प्रकाश को किसी ने 'रामराज्य' कहा, किसी ने 'आसमान की बादशाहत'। यद्यपि मूसाइयों और उनके अनुगामी ईसाइयों की धर्म-पुस्तक में आदम खुदा की प्रतिमूर्त्ति बताया गया पर लोक के बीच नर में नारायण की दिव्य कला का सम्यक् दर्शन और उसके प्रति हृदय का पूर्ण निवेदन भारतीय भक्तिमार्ग में ही दिखाई पड़ा।

सत्, चित् और आनंद—ब्रह्म के इन तीन स्वरूपों में से काव्य और भक्तिमार्ग 'आनंद' स्वरूप को लेकर चले। विचार करने पर लोक में इस आनंद की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएँ

पाई जायँगी—साधनावस्था और सिद्धावस्था। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ब्रह्म के 'आनंद' स्वरूप का सतत आभास नहीं रहता, उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इस जगत् में न तो सदा और सर्वत्र लहलहाता वसंत-विकास रहता है, न सुख-समृद्धि-पूर्ण हास-विलास। शिशिर के आतंक से सिमटी और झोंके झेलती वनस्थली की खिन्नता और हीनता के बीच से ही क्रमशः आनंद की अरुण आभा धुँधली धुधली फूटती हुई अंत में वसंत की पूर्ण प्रफुल्लता और प्रचुरता के रूप में फैल जाती है; इसी प्रकार लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनंद-ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोकमंगल और लोकरंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।

कुछ कवि और भक्त तो जिस प्रकार आनंद-मंगल के सिद्ध या आविर्भूत स्वरूप को लेकर सुख-सौंदर्यमय माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेमव्यापार इत्यादि उपभोग-पक्ष की ओर आकर्षित होते हैं उसी प्रकार आनंद-मंगल की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में भी—उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गति-विधि में भी—पूरी रमणीयता देखते हैं। वे जिस प्रकार प्रकाश को फैला हुआ देखकर मुग्ध होते हैं उसी प्रकार फैलने के पूर्व उसका अंधकार को हटाना देखकर भी। ये ही पूर्ण कवि हैं, क्योंकि जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर ये सौंदर्य का साक्षात्कार करते हैं। साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को ग्रहण करनेवाले कुछ ऐसे कवि भी होते हैं जिनका मन सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष की ओर नहीं जाता, जैसे, भूषण। इसी प्रकार कुछ कवि या भावुक आनंद के केवल

सिद्ध स्वरूप या उपभोग-पक्ष में ही अपनी वृत्ति रमा सकते हैं। उनका मन सदा सुख-सौंदर्यमय माधुर्य, दीप्ति, उल्लास, प्रेम-क्रीड़ा इत्यादि के प्राचुर्य ही की भावना में लगता है। इसी प्रकार की भावना या कल्पना उन्हें कला-क्षेत्र के भीतर समझ पड़ती है।

उपर्युक्त दृष्टि से हम काव्यों के दो विभाग कर सकते है—

(१) आनंद की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलनेवाले।

(२) आनंद की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलनेवाले।

डंटन (Theodore Watts-Dunton) ने जिसे शक्ति-काव्य (Poetry as an energy)[1] कहा है वह हमारे प्रथम प्रकार के अंतर्गत आ जाता है जिसमें लोक-प्रवृत्ति को परिचालित करनेवाला प्रभाव होता है, जो पाठकों या श्रोताओं के हृदय में भावों की स्थायी प्रेरणा उत्पन्न कर सकता है। पर डटन ने शक्ति-काव्य से भिन्न को जो कला-काव्य (Poetry as an art) कहा है वह कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन मानकर। वास्तव में कला की दृष्टि दोनों प्रकार के काव्यों में अपेक्षित है। साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों में भी यदि कला में चूक हुई तो लोकगति को परिचालित करनेवाला स्थायी प्रभाव न उत्पन्न हो सकेगा। यहीं तक नहीं; व्यंजित भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति या साधारणीकरण तक, जो रस की पूर्ण अनुभूति के लिये आवश्यक है, न हो सकेगा। यदि 'कला' का वही अर्थ लेना है जो कामशास्त्र की चौंसठ कलाओं में है—अर्थात् मनोरंजन या उपभोग मात्र का विधायक—

१ [देखिए पोयट्री एंड दि रिनेसाँ आव् वंडर।]

तो काव्य के संवंध में दूर ही से इस शब्द को नमस्कार करना चाहिए। काव्य-समीक्षा में फरासीसियों की प्रधानता के कारण इस शब्द को इसी अर्थ में ग्रहण करने से योरप में काव्य-दृष्टि इधर कितनी संकुचित हो गई, इसका निरूपण हम किसी अन्य प्रवंध में करेंगे।

आनंद की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों के उदाहरण हैं—रामायण, महाभारत, रघुवंश, शिशुपाल-वध, किरातार्जुनीय। हिंदी में रामचरित-मानस, पद्मावत (उत्तरार्ध), हम्मीररासो, पृथ्वीराजरासो, छत्रप्रकाश इत्यादि प्रवंधकाव्य; भूषण आदि कवियों के वीररसात्मक मुक्तक तथा आल्हा आदि प्रचलित वीरगाथात्मक गीत। उर्दू के वीररसात्मक मरसिये। योरपीय भाषाओं में इलियड, ओडेसी, पैराडाइज लास्ट, रिवोल्ट ऑफ् इसलाम इत्यादि प्रवंधकाव्य तथा पुराने वैलड (Ballads)।

आनंद की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों के उदाहरण हैं—आर्यासप्तशती, गाथा-सप्तशती, अमरु-शतक, गीतगोविंद तथा शृंगार के फुटकल पद्य। हिंदी में सूरसागर, कृष्णभक्त कवियों की पदावली, विहारी-सतसई, रीतिकाल के कवियों के फुटकल शृंगारी पद्य, रास-पंचाध्यायी ऐसे वर्णनात्मक काव्य तथा आजकल की अधिकांश छायावादी कविताएँ। फारसी उर्दू के शेर और गजलें। अँगरेजी की लीरिक कविताएँ (Lyrics) तथा कई प्रकार की वर्णनात्मक कविताएँ।

आनंद की साधनावस्था

लोक में फैली दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनंद-कला जो शक्तिमय रूप धारण करती है उसकी भीषणता में भी

अद्भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचडता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का सौंदर्य है जिसकी ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता। इस सामंजस्य का और कई रूपों में भी दर्शन होता है। किसी कोट-पतलून-हैट-वाले को धारा-प्रवाह संस्कृत बोलते अथवा किसी पंडितवेशधारी सज्जन को अँगरेजी की प्रगल्भ वक्तृता देते सुन व्यक्तित्व का जो एक चमत्कार सा दिखाई पड़ता है उसकी तह में भी सामंजस्य का यही सौंदर्य समझना चाहिए। भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचंडता और मृदुता का सामंजस्य ही लोकधर्म का सौंदर्य है। आदि-कवि वाल्मीकि की वाणी इसी सौंदर्य के उद्घाटन-महोत्सव का दिव्य संगीत है। सौंदर्य का यह उद्घाटन असौंदर्य का आवरण हटाकर होता है। धर्म और मंगल की यह ज्योति अधर्म और अमंगल की घटा को फाड़ती हुई फूटती है। इससे कवि हमारे सामने असौंदर्य, अमंगल, अत्याचार, क्लेश इत्यादि भी रखता है; रोष, हाहाकार और ध्वंस का दृश्य भी लाता है। पर सारे भाव, सारे रूप और सारे व्यापार भीतर भीतर आनंद-कला के विकास में ही योग देते पाए जाते हैं। यदि किसी ओर उन्मुख ज्वलंत रोष है तो उसके और सब ओर करुण दृष्टि फैली दिखाई पड़ती है। यदि किसी ओर ध्वंस और हाहाकार है तो और सब ओर उसका सहगामी रक्षा और कल्याण है। व्यास ने भी अपने 'जयकाव्य'[१] में अधर्म के पराभव और धर्म की जय का सौंदर्य प्रत्यक्ष किया था।

---

१ [महाभारत।]

वह व्यवस्था या वृत्ति, जिससे लोक में मंगल का विधान होता है, 'अभ्युदय' की सिद्धि होती है, धर्म है। अतः अधर्म-वृत्ति को हटाने में धर्म-वृत्ति की तत्परता—चाहे वह उग्र और प्रचंड हो, चाहे कोमल और मधुर—भगवान् की आनंद-कला के विकास की ओर बढ़ती हुई गति है। यह गति यदि सफल हुई तो 'धर्म की जय' कहलाती है। इस गति में भी सुंदरता है और इसकी सफलता में भी। यह बात नहीं है कि जब यह गति सफल होती है तभी इसमें सुंदरता आती है। गति में सुंदरता रहती ही है; आगे चलकर चाहे यह सफल हो, चाहे विफल। विफलता में भी एक निराला ही विषण्ण सौंदर्य होता है। तात्पर्य यह कि यह गति आदि से अंत तक सुंदर होती है—अंत चाहे सफलता के रूप में हो चाहे विफलता के। उपर्युक्त दोनों आर्ष कवियों ने पूर्णता के विचार से धर्म की गति का सौंदर्य दिखाते हुए उसका सफलता में पर्यवसान किया है। ऐसा उन्होंने उपदेशक की बुद्धि से नहीं किया है; धर्म की जय के बीच भगवान् की मूर्ति के साक्षात्कार पर मुग्ध होकर किया है। यदि राम द्वारा रावण का वध तथा कृष्ण के साहाय्य द्वारा जरासंध और कौरवों का दमन न हो सकता तो भी रामकृष्ण की गति-विधि में पूरा सौंदर्य रहता, पर उनमें भगवान् की पूर्ण कला का दर्शन न होता क्योंकि भगवान् की शक्ति अमोघ है।

आनंद-कला के प्रकाश की ओर बढ़ती हुई गति की विफलता में भी सौंदर्य का दर्शन करनेवाले अनेक कवि हुए हैं। अँगरेज कवि शेली संसार में फैले पाषंड, अन्याय और अत्याचार के दमन तथा मनुष्य मनुष्य के बीच सीधे सरल प्रेमभाव के सार्वभौम संसार का स्वप्न देखनेवाले कवि उनके 'इसलाम का विप्लव' (The Revolt of Islam) नामक द्वादश-

सर्ग-बद्ध महाकाव्य में मनुष्य जाति के उद्धार में रत नायक और नायिका (Laon and Cythna) में मंगल-शक्ति के अपूर्व संचय की छटा दिखाकर तथा उनके द्वारा एक बार दुर्दांत अत्याचार के पराभव के मनोरम आभास से अनुरंजित करके अंत में उस शक्ति की विफलता की विषादमयी छाया से लोक को फिर आवृत दिखाकर छोड़ दिया है।

जैसा ऊपर कह आए हैं, मंगल-अमंगल के द्वंद्व में कवि लोग अंत में मंगल-शक्ति की जो सफलता दिखा दिया करते है उसमें सदा शिक्षावाद (Didacticism) या अस्वाभाविकता की गंध समझकर नाक-भौं सिकोड़ना ठीक नहीं। अस्वाभाविकता तभी आएगी जब बीच का विधान ठीक न होगा अर्थात् जब प्रत्येक अवसर पर सत्पात्र सफल और दुष्ट पात्र विफल या ध्वस्त दिखाए जायँगे। पर सच्चे कवि ऐसा कभी नहीं करते। इस जगत् में अधर्म प्रायः दुर्दमनीय शक्ति प्राप्त करता है जिसके सामने धर्म की शक्ति बार बार उठकर व्यर्थ होती रहती है। कवि जहाँ मंगल-शक्ति की सफलता दिखाता है वहाँ कला की दृष्टि से सौंदर्य का प्रभाव डालने के लिये; धर्मशासक की हैसियत से डराने के लिये नहीं कि यदि ऐसा कर्म करोगे तो ऐसा फल पाओगे। कवि कर्म-सौंदर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अंतःप्रकृति में उत्पन्न करता है, उसका उपदेश नहीं देता।

कवि सौंदर्य से प्रभावित रहता है और दूसरों को भी प्रभावित करना चाहता है। किसी रहस्यमयी प्रेरणा से उसकी कल्पना में कई प्रकार के सौंदर्यों का जो मेल आपसे आप हो जाया करता है उसे पाठक के सामने भी वह प्रायः रख देता है जिस पर कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसा मेल क्या संसार में बराबर देखा जाता है। मंगल-शक्ति के अधिष्ठान राम और

कृष्ण जैसे पराक्रमशाली और धीर हैं वैसा ही उनका रूप-माधुर्य और उनका शील भी लोकोत्तर है। लोक-हृदय आकृति और गुण, सौंदर्य और सुशीलता, एक ही अधिष्ठान में देखना चाहता है। इसी से 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' सामुद्रिक की यह उक्ति लोकोक्ति के रूप में चल पड़ी। 'नैषध' में नल हंस से कहते है—

न तुला-विषये तवाकृतिर्न वचो वर्त्मनि ते सुशीलता।
त्वदुदाहरणाऽकृतौ गुणा इति सामुद्रिक-सार-मुद्रणा ॥[1]

[नैषधीय चरित, द्वितीय सर्ग, ५।]

भीतरी और बाहरी सौंदर्य, रूप-सौंदर्य और कर्म-सौंदर्य के मेल की यह आदत धीरोदात्त आदि भेद-निरूपण से बहुत पुरानी है और बिलकुल छूट भी नहीं सकती। यह हृदय की एक भीतरी वासना की तुष्टि के हेतु कला की रहस्यमयी प्रेरणा है। १६ वीं शताब्दी के कवि शेली—जो राजशासन, धर्मशासन समाज-शासन आदि सब प्रकार की शासन-व्यवस्था के घोर विरोधी थे—इस प्रेरणा से पीछा न छुड़ा सके। उन्होंने भी अपने प्रबंध-काव्यों में रूप-सौंदर्य और कर्म-सौंदर्य का ऐसा ही मेल किया है। उनके नायक (या नायिका) जिस प्रकार पीड़ा, अत्याचार आदि से मनुष्य जाति का उद्धार करने के लिये अपना प्राण तक उत्सर्ग करनेवाले, घोर से घोर कष्ट और यंत्रणा से

---

१ [आपकी आकृति का न तो कोई उपमान है और न आपकी सुशीलता ही वाणी के पथ पर आ सकती—वाणी द्वारा कही जा सकती। 'आकृति में गुणों का निवास होता है' सामुद्रिकशास्त्र-रहस्य के इस नियम के उदाहरण आप ही हैं।]

मुहँ न मोड़नेवाले, पराक्रमी, दयालु और धीर है उसी प्रकार रूप-माधुर्य-संपन्न भी। *

आज भी किसी कवि से राम की शारीरिक सुंदरता कुंभकर्ण को और कुभकर्ण की कुरूपता राम को न देते बनेगी। माइकेल मधुसूदन दत्त ने मेघनाद को अपने काव्य का रूप-गुण-संपन्न नायक बनाया पर लक्ष्मण को वे कुरूप न कर सके। उन्होने जो उलटफेर किया वह कला या काव्यानुभूति की किसी प्रकार की प्रेरणा से नहीं; बल्कि एक पुरानी धारणा तोड़ने की बहादुरी दिखाने के लिये, जिसका शौक किसी विदेशी नई शिक्षा के पहले-पहल प्रचलित होने पर प्राय: सब देशों में कुछ दिन रहा करता है। इसी प्रकार बंगभाषा के एक दूसरे कवि नवीनचंद्र ने अपने 'कुरुक्षेत्र' नामक काव्य में कृष्ण का आदर्श ही बदल दिया है। उसमें वे ब्राह्मणों के अत्याचार से पीड़ित जनता के उद्धार के लिये उठ खड़े हुए एक क्षत्रिय महात्मा के रूप में अंकित

---

*Certain it is that with Shelley goodness is ever near to sensuous beauty and passes easily into passion. Hence his choice of heroic types rather than simple ones, of Laon and Cythna and Prometheus rather than Michael, Mathew, etc. Laon and Cythna possess youth, strength and beauty no less than courage and the instinct for self-sacrifice and their passion for freedom. A further admirable instance of this harmony of goodness and beauty is seen in the description of Lady Beneficient who tended the garden of 'The Sensitive Plant.'

—'Studies in Shelley' by A. T. Strong.

किए गए हैं। अपने समय में उठी हुई किसी खास हवा की झोंक में प्राचीन आर्ष काव्यों के पूर्णतया निर्दिष्ट स्वरूपवाले आदर्श पात्रों को एकदम कोई नया मनमाना रूप देना भारती के पवित्र मंदिर में व्यर्थ गड़बड़ मचाना है।

शुद्ध मर्मानुभूति द्वारा प्रेरित कुशल कवि भी प्राचीन आख्यानों को बराबर लेते आए हैं और अब भी लेते हैं। वे पात्रों में अपनी नवीन उद्भावना का, अपनी नई कल्पित बातों का बराबर आरोप करते हैं, पर वे बातें उन पात्रों के चिर-प्रतिष्ठित आदर्शों के मेल में होती हैं। केवल अपने समय की परिस्थिति-विशेष को लेकर जो भावनाएँ उठती हैं उनके आश्रय के लिये जब कि नये आख्यानों और नये पात्रों की उद्भावना स्वच्छंदतापूर्वक की जा सकती है तब पुराने आदर्शों को विकृत या खंडित करने की क्या आवश्यकता है?

कर्म-सौंदर्य के जिस स्वरूप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिये स्वाभाविक है और जिसका विधान कवि-परंपरा बराबर करती चली आ रही है, उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करने और कर्म-सौंदर्य के एक दूसरे पक्ष में ही—केवल प्रेम और भ्रातृभाव के प्रदर्शन और आचरण में ही—काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन टाल्सटाय के समय से चला है वह एकदेशीय है। दीन और असहाय जनता को निरंतर पीड़ा पहुँचाते चले जानेवाले क्रूर आततायियों को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा करने में ही कर्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती, कर्मक्षेत्र का एकमात्र सौंदर्य नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्य-कला

की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौंदर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।

भावों की प्रक्रिया की समीक्षा से पता चलता है कि उदय से अस्त तक भाव-मंडल का कुछ भाग तो आश्रय की चेतना के प्रकाश (Conscious) में रहता है और कुछ अंतस्संज्ञा के क्षेत्र (Subconscious region) में छिपा रहता है। संचारी भावों के संचरण-काल में कभी कभी उनके स्थायी भाव कारण-रूप में अंतस्संज्ञा के भीतर पड़ जाते हैं। रति-भाव में संचारी होकर आई हुई असूया या ईर्ष्या ही को लीजिए। जिस क्षण में वह अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई होती है उस क्षण में आश्रय को ही रति-भाव की कोमल सत्ता का ज्ञान नहीं रहता, उस क्षण में उसके भीतर ईर्ष्या की ही तीक्ष्ण प्रतीति रहती है और बाहर ईर्ष्या के ही लक्षण दिखाई देते हैं। जिस प्रकार किसी आश्रय के भीतर कोई एक भाव स्थायी रहता है और अनेक भाव तथा अंतर्दशाएँ उसके संचारी के रूप में आती हैं उसी प्रकार किसी प्रबंधकाव्य के प्रधान पात्र में कोई मूल प्रेरक भाव या बीजभाव रहता है जिसकी प्रेरणा से घटना-चक्र चलता है और अनेक भावों के स्फुरण के लिये जगह निकलती चलती है। इस बीजभाव को साहित्य-ग्रंथों में निरूपित स्थायी भाव और अंगी भाव[1] दोनों से भिन्न समझना चाहिए।

बीजभाव द्वारा स्फुरित भावों में कोमल और मधुर—कठोर और तीक्ष्ण—दोनों प्रकार के भाव रहते हैं। यदि बीजभाव की प्रकृति मंगल-विधायिनी होती है तो उसकी व्यापकता और निर्विशेषता के अनुसार सारे प्रेरित भाव तीक्ष्ण और कठोर होने पर

१ [प्रधान भाव, नाटकों के लक्षण में कथित अंगी रस।]

भी सुंदर होते हैं। ऐसे बीजभाव की प्रतिष्ठा जिस पात्र में होती है उसके सब भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति होती है अर्थात् पाठक और श्रोता भी रसरूप में उन्हीं भावों का अनुभव करते हैं जिन भावों की वह व्यंजना करता है। ऐसे पात्र की गति में बाधा डालनेवाले पात्रों के उग्र या तीक्ष्ण भावों के साथ पाठकों का वास्तव में तादात्म्य नहीं होता; चाहे उनकी व्यंजना में रस की निष्पत्ति करनेवाले तीनों अवयव वर्तमान हों। राम यदि रावण के प्रति क्रोध या घृणा की व्यंजना करेंगे तो पाठक या श्रोता का भी हृदय उस क्रोध या घृणा की अनुभूति में योग देगा। इस क्रोध या घृणा में भी काव्य का पूर्ण सौंदर्य होगा। पर रावण यदि राम के प्रति क्रोध या घृणा की व्यंजना करेगा तो रस के तीनों अवयवों के कारण "शास्त्र-स्थिति-सम्पादन"* चाहे हो जाय पर उस व्यंजित भाव के साथ पाठक के भाव का तादात्म्य कभी न होगा, पाठक केवल चरित्र-द्रष्टामात्र रहेगा। उसका केवल मनोरंजन होगा, भाव में लीन करनेवाली प्रथम कोटि की रसानुभूति उसको न होगी।

ऊपर कहा गया है कि किसी शुभ बीजभाव की प्रेरणा से प्रवर्तित तीक्ष्ण और उग्र भावों की सुंदरता की मात्रा उस बीजभाव की निर्विशेषता और व्यापकता के अनुसार होती है। जैसे, यदि करुणा किसी व्यक्ति की विशेषता पर अवलंबित होगी—कि पीड़ित व्यक्ति हमारा कुटुंबी, मित्र आदि है—तो उस करुणा के द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भावों में उतनी

---

* रसव्यक्तिमपेक्ष्यैषामङ्गानां सन्निवेशनम्।
न तु केवलया शास्त्र-स्थिति-सम्पादनेच्छया॥
—साहित्यदर्पण [६-१२०।]।

सुंदरता न होगी। पर बीजरूप में अंतस्संज्ञा में स्थित करुणा यदि इस ढब की होगी कि इतने पुरवासी, इतने देशवासी या इतने मनुष्य पीड़ा पा रहे हैं तो उसके द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भावों का सौंदर्य उत्तरोत्तर अधिक होगा। यदि किसी काव्य में वर्णित दो पात्रों में से एक तो अपने भाई को अत्याचार और पीड़ा से बचाने के लिये अग्रसर हो रहा है और दूसरा किसी बड़े भारी जनसमूह को, तो गति में बाधा डालनेवालों के प्रति दोनों के प्रदर्शित क्रोध के सौंदर्य के परिमाण में बहुत अंतर होगा।

भावों की छानबीन करने पर मंगल का विधान करनेवाले दो भाव ठहरते हैं—करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजन की ओर। लोक में प्रथम साध्य रक्षा है। रंजन का अवसर उसके पीछे आता है। अतः साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों का बीज-भाव करुणा ही ठहरता है। इसी से शायद अपने दो नाटकों में रामचरित को लेकर चलनेवाले महाकवि भवभूति ने 'करुण' को ही एक-मात्र रस कह दिया।[1] रामायण का बीजभाव करुणा है जिसका संकेत क्रौंच को मारनेवाले निषाद के प्रति वाल्मीकि के मुहँ से निकले वचन द्वारा आरंभ ही में मिलता है। उसके उपरांत भी बालकांड के १५ वें सर्ग में इसका आभास दिया गया है जहाँ देवताओं ने ब्रह्मा से रावण-द्वारा पीड़ित लोक की

---

१ [एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥
—उत्तररामचरित, ३–४७।]

दारुण दशा का निवेदन किया है। उक्त आदि-काव्य के भीतर लोक-मंगल की शक्ति के उदय का आभास ताड़का और मारीच के दमन के प्रसंग में ही मिल जाता है। पंचवटी से वह शक्ति जोर पकड़ती दिखाई देती है। सीता-हरण होने पर उसमें आत्मगौरव और दांपत्य प्रेम की प्रेरणा का भी योग हो जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि इस आत्मगौरव और दांपत्य प्रेम की प्रेरणा बीच से प्रकट होकर उस विराट् मंगलोन्मुखी गति में समन्वित हो जाती है। यदि राक्षसराज पर चढ़ाई करने का मूल कारण केवल आत्मगौरव या दांपत्य प्रेम होता तो राम के 'कालाग्नि-सदृश क्रोध' में काव्य का वह लोकोत्तर सौंदर्य न होता। लोक के प्रति करुणा जब सफल हो जाती है, लोक जब पीड़ा और विघ्न-बाधा से मुक्त हो जाता है, तब रामराज्य में जाकर लोक के प्रति प्रेम-प्रवर्तन का, प्रजा के रंजन का, उसके अधिकाधिक सुख के विधान का, अवकाश मिलता है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेमभाव की कोमल व्यंजना में ही नहीं माना जा सकता जैसा कि टालसटाय के अनुयायी या कुछ कलावादी कहते हैं। क्रोध आदि उग्र और प्रचंड भावों के विधान में भी, यदि उनकी तह में करुण-भाव अव्यक्त रूप में स्थित हो, पूर्ण सौंदर्य का साक्षात्कार होता है। स्वतंत्रता के उन्मत्त उपासक, घोर परिवर्तन-वादी शेली के महाकाव्य The Revolt of Islam [दि रिवोल्ट आव् इसलाम] के नायक-नायिका अत्याचारियों के पास जाकर उपदेश देनेवाले गिड़गिड़ानेवाले, अपनी साधुता, सहनशीलता और शांत वृत्ति का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन करनेवाले नहीं हैं। वे उत्साह की उमंग में प्रचंड वेग से युद्धक्षेत्र में बढ़नेवाले; पाषंड, लोकपीड़ा

और अत्याचार देख पुनीत क्रोध के सात्त्विक तेज से तमतमानेवाले, भय या स्वार्थवश आततायियों की सेवा स्वीकार करनेवालों के प्रति उपेक्षा प्रकट करनेवाले हैं। शेली ने भी काव्य-कला का मूलतत्त्व प्रेमभाव ही माना था पर अपने को सुख-सौंदर्य-मय माधुर्य भाव तक ही बद्ध न रखकर प्रबंधक्षेत्र में भी अच्छी तरह घुसकर भावों की अनेकरूपता का विन्यास किया था। स्थिर (Static) सौंदर्य और गत्यात्मक (Dynamic) सौंदर्य, उपभोग-पक्ष और प्रयत्न-पक्ष, दोनों उनमें पाए जाते हैं।

टाल्सटाय के मनुष्य मनुष्य में भ्रातृ-प्रेम-संचार को ही एकमात्र काव्यतत्त्व कहने का बहुत कुछ कारण सांप्रदायिक था। इसी प्रकार कलावादियों का केवल कोमल और मधुर की लीक पकड़ना मनोरंजन मात्र की हलकी रुचि और दृष्टि की परिमिति के कारण समझना चाहिए। टाल्सटाय के अनुयायी प्रयत्न-पक्ष को लेते अवश्य हैं पर केवल पीड़ितों की सेवा-शुश्रूषा की दौड़-धूप, आततायियों पर प्रभाव डालने के लिये साधुता के लोकोत्तर-प्रदर्शन, त्याग, कष्ट-सहिष्णुता इत्यादि में ही उसका सौंदर्य स्वीकार करते हैं। साधुता की इस मृदुल गति को वे 'आध्यात्मिक शक्ति' कहते हैं। पर भारतीय दृष्टि से हम इसे भी प्राकृतिक शक्ति—मनुष्य की अंतःप्रकृति की सात्त्विक विभूति—मानते हैं। विदेशी अर्थ में इस 'आध्यात्मिक' शब्द का प्रयोग हमारी देशभाषाओं में भी प्रचार पा रहा है। 'अध्यात्म' शब्द की, मेरी समझ में, काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं है।

पूर्ण प्रभविष्णुता के लिये काव्य में हम भी सत्त्वगुण की सत्ता आवश्यक मानते हैं, पर दोनों रूपों में—दूसरे भावों की तह में अर्थात् अंतस्संज्ञा में स्थित अव्यक्त बीजरूप में भी और प्रकाशरूप में भी। हम पहले कह आए हैं कि लोक में मंगल-

विधान की ओर प्रवृत्त करनेवाले दो भाव हैं—करुणा और प्रेम। यह भी दिखा आए हैं कि क्रोध, युद्धोत्साह आदि प्रचंड और उग्र वृत्तियों की तह में यदि इन दोनों में से कोई भाव बीजरूप में स्थित होगा तभी सच्चा साधारणीकरण और पूर्ण सौंदर्य का प्रकाश होगा। उच्च दशा का प्रेम और करुणा दोनों सत्त्वगुण-प्रधान हैं। त्रिगुणों में सत्त्वगुण सबके ऊपर है। यहाँ तक कि उसकी ऊपरी सीमा नित्य पारमार्थिक सत्ता के पास तक—व्यक्त और अव्यक्त की संधि तक—जा पहुँचती है। इसी से शायद वल्लभाचार्यजी ने सच्चिदानंद के 'सत्' स्वरूप का प्रकाश करनेवाली शक्ति को 'संधिनी' कहा है। व्यवहार में भी 'सत्' शब्द के दो अर्थ लिए जाते हैं—'जो वास्तव में हो,' तथा 'अच्छा या शुभ'।

जब कि अव्यक्तावस्था से छूटी हुई प्रकृति के व्यक्त स्वरूप जगत् में आदि से अंत तक सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुण रहेंगे तब समष्टि रूप में लोक के बीच मंगल का विधान करनेवाली ब्रह्म की आनंद-कला के प्रकाश की यही पद्धति हो सकती है कि तमोगुण और रजोगुण दोनों सत्त्वगुण के अधीन होकर उसके इशारे पर काम करें। इस दशा में किसी ओर अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने पर भी समष्टि रूप में और सब ओर वे सत्त्वगुण के लक्ष्य की ही पूर्ति करेंगे। सत्त्वगुण के इस शासन में कठोरता, उग्रता और प्रचंडता भी सात्त्विक तेज के रूप में भासित होंगी। इसी से अवतार-रूप में हमारे यहाँ भगवान् की मूर्ति एक ओर तो 'वज्रादपि कठोर' और दूसरी ओर 'कुसुमादपि मृदु' रखी गई है—

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।

आनंद की सिद्धावस्था

साधना या प्रयत्न में तत्पर करने के लिये फल की सुंदरता या सुखदता की पूर्ण भावना जागरित करने की आवश्यकता हुआ करती है। साध्य आनंद की प्रचुरता तथा उस आनंद के विषय की सुंदरता या सुखदता हमारे मन में जितना ही घर करेगी उतनी ही अधिक तन्मयता के साथ हम उस आनंद तथा उसके विषय तक पहुँचानेवाली साधना में प्रवृत्त होंगे। एक बहुत ही ऊँचे प्रकार का सुख देनेवाली वस्तु का नाम सुंदरता है। लड्डू खाना, इत्र सूँघना, मुलायम गद्दे पर सोना, कोमल संगीत सुनना, सुंदर रूप देखना—ये सब सुखद होते हैं। इनमें से पिछली दो बातों का सुख पहली तीन बातों के सुख से ऊँचे दरजे का जान पड़ता है। कारण विचारने पर यही सुझाई पड़ता है कि आँख और कान दोनों का ज्ञान-व्यापार में प्रधान योग रहता है। अतः इनका सुख शेष और इंद्रियों के सुखों से ऊँचे दरजे का होना चाहिए। वास्तव में यदि यह सुख अपने शुद्ध रूप में रखा जाय, और प्रकार के स्थूल सुखों से मिलाया न जाय, तो ऊँचा जरूर दिखाई देता है।

दर्शन-वृत्ति की बोध दशा भी होती है और रागात्मिका दशा भी। नई वस्तुओं को देखकर जानकारी भी हो सकती है, प्रेम, क्रोध आदि भी। मन की दर्शन-वृत्ति की रागात्मिका दशा ही सौंदर्य की अनुभूति कहलाती है। जो सुदर्शन हो, जिसकी आकृति रुचिकर हो, वही सुंदर होता है यद्यपि इस शब्द का प्रयोग लक्षणा से और विस्तृत अर्थ में भी किया जाता है। उदाहरण के लिये 'कर्म-सौंदर्य' शब्द लीजिए जिसका

व्यवहार हमने अन्यत्र अनेक स्थलों पर किया है। रूप-सौंदर्य से मध्यम कोटि की वस्तु नाद-सौंदर्य या शब्द-माधुर्य है। जिस प्रकार दर्शन-वृत्ति की बोध-दशा और रागात्मिका दशा—ये दो दशाएँ होती हैं, उसी प्रकार श्रवण-वृत्ति की भी। शब्द द्वारा ज्ञान-संचार और माधुर्य-संचार दोनों होते हैं। वार्तालाप, उपदेश, व्याख्यान इत्यादि में शब्द द्वारा हमें नई नई बातों की जानकारी होती है; संगीत में हमें शब्द द्वारा माधुर्य की अनुभूति होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नाद के संबंध में 'सुंदर', 'मधुर', 'कोमल' आदि शब्दों का प्रयोग भी लाक्षणिक ही होता है। शास्त्रीय दृष्टि से इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग भाषा की त्रुटि सूचित करते है। श्रवण के विषय शब्द की रुचिरता के लिये यदि कोई अलग शब्द होता तो दर्शनेंद्रिय, रसनेंद्रिय और त्वगिंद्रिय की अनुभूतियों से लिए हुए 'सुंदर', 'मधुर' और 'कोमल' शब्द अधिकतर कवियों और साहित्य-समीक्षकों के ही काम में आते।

रूप और गति दोनों दृष्टि के विषय है। अतः दर्शन-वृत्ति को तुष्ट करनेवाले दो प्रकार के विषय ठहरते है—रूप और गति। प्रयत्न पक्ष में गति की रुचिरता का वर्णन साधनावस्था के अंतर्गत हो चुका है। उपभोग-पक्ष में गति की रुचिरता हमें नृत्यकला आदि में दिखाई पड़ती है। इस प्रकार दर्शन और श्रवण दोनों के उपभोग-पक्ष को लेकर कई कलाओं का प्रादुर्भाव हुआ—दर्शन की तुष्टि के लिये चित्रकला, मूर्त्तिकला और नृत्यकला का; श्रवण की तुष्टि के लिये संगीत का। काव्य का इतना व्यापक विधान होता है कि उसमें इन सबका थोड़ा बहुत योग रहा करता है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि उपभोग-

पक्ष की तुष्टि ही काव्य का एकांत लक्ष्य है। रसात्मक तुष्टि का क्षेत्र उपभोग-वृत्ति से और आगे तक है, यह बात साधनावस्था के अंतर्गत कही जा चुकी है। गोस्वामी तुलसीदासजी का 'रामचरितमानस' मनोरंजन करके या जी बहलाकर ही नहीं रह जाता। वह हृदय के मूल में सत्त्व की ज्योति जगाता है।

पर यहाँ हमें उस काव्यभूमि का वर्णन करना है जिसमें 'आनंद' अपनी सिद्धावस्था में दिखाई पड़ता है; जहाँ सब प्रकार के प्रयत्नों की अशांति तिरोहित और उपभोग की कला जगी रहती है। 'आनंद' का ध्वज यहाँ चलता नहीं दिखाई पड़ता, गड़ा दिखाई पड़ता है। यहाँ नगाड़े की धमक, गर्जन-तर्जन और हुंकार नहीं, विप्लव, ध्वंस और हाहाकार नहीं; वेग और तेज की तिग्मिता नहीं। यह दीप्ति, माधुर्य और कोमलता की स्निग्ध भूमि है, लहलहाते सरस प्रसार और परिमल-घटित पुष्पहास का कलकंठ-कूजित क्षेत्र है; मद और उल्लास की मृदुल-तरंगमयी संगीत-धारा का मानस लोक है। इस भूमि का प्रवर्तक भाव है—प्रेम।

देश के विस्तार और काल की दौड़ के बीच ऐसी भूमियाँ कहीं कहीं और कभी कभी मिल जाया करती है। सच पूछिए तो मनुष्य अपने जीवन-पथ पर इन्हीं के लोभ में बराबर दौड़ता चला जाता है *। यहीं तक नहीं; 'सुगुन-छीर' और 'अवगुन-

---

* Many a green isle needs must be
In the deep wide sea of misery;
Or the mariner warn and wan,
Never thus could voyage on.

—Shelley.

जल' मिले इस महा प्रपंच से कल्पना द्वारा इन्हें अलग करके वह एक निराला आनंद-लोक खड़ा करता है जो शुष्क धार्मिकों का स्वर्ग और कवियों का स्वप्न ठहरता है। जिनके भीतर सत्त्व की ज्योति अत्यंत क्षीण या मंद होती है, जिन्हें धर्म के सौंदर्य का साक्षात्कार नहीं होता, जिनका मन कर्म की भावना में न लगकर फल ही की भावना में लगता है, वे इसी स्वर्ग की कामना से बहुत से गिनाए हुए पुण्य कार्य, बिना उनके संपादन का प्रकृत सुख अनुभव किए, यों ही रूखे सूखे ढंग से करते पाए जाते है।

ऊपर कह आए हैं कि उस काव्य-भूमि में जहाँ आनंद अपनी सिद्धावस्था में दिखाई पड़ता है प्रवर्तक भाव है—प्रेम। इसी भाव के विविध प्रकार के आलंबनों और उद्दीपनों का चित्रण इस भूमि के विभाव-पक्ष में पाया जाता है। दीप्ति, माधुर्य और कोमलता के नाना रूप यहाँ मिलते हैं। बाहर नयनाभिराम रूपरेखा, विकसित वर्ण-वैचित्र्य, दीप्ति-विभूति-प्रभूत चमक-दमक, शीतल स्निग्ध छाया, कलकंठ-स्वर-स्पंदित-सौरभ-समन्वित समीर, स्मित आनन, चपल भ्रूविलास, हास-परिहास, सगीतसज्जा, वीणा की झंकार इत्यादि हैं तो भीतर सौंदर्य की मादक अनुभूति, प्रेमोल्लास, स्वप्न, स्मृति-विस्मृति, व्रीडा-क्रीड़ा, दर्शन-पिपासा, उत्कंठा, मुग्धता इत्यादि।

इस भूमि के मानस या आभ्यंतर पक्ष की एक खासी उलझन हमारे पुराने आचार्य सुलझा गए हैं। यद्यपि प्रेमदशा के भीतर सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के भाव पाए जाते है पर कान में 'प्रेमानंद' शब्द ही पड़ता है, 'प्रेमापन्न' नहीं। इससे 'प्रेम आनंद स्वरूप है' यह लोक-धारणा प्रकट होती है, जो

साहित्य-मीमांसकों को भी मान्य है। वियोग काल की सारी अश्रुधारा इस आनंद-स्वरूप को नहीं धो सकती; अश्रुधारा के तल में आनंद की रेखाएँ दिखाई पड़ती रहती हैं। विरह में आनंद नष्ट नहीं हुआ रहता, केवल 'आवृत' रहता है। विरहियों का रोना एक प्रकार का हँसना ही है। उनके तीव्र ताप और प्रचंड ज्वाला की जड़ में एक रसमयी शीतलता रहती है जब तक प्रिय इस जगत् में रहता है तब तक उसके कहीं दूर चले जाने पर भी, उसका कहीं पता न रहने पर भी, जो दुःख और वेदना होती है वह प्रेम भाव की ही अनुभूति समझी जाती है और साहित्य में विप्रलंभ श्रृंगार के ही अंतर्गत मानी जाती है। बात यह है कि वियोग-काल चाहे कितना ही दारुण हो उसके बीच बीच में मिलने की लालसा जगती रहती है, संयोग की कल्पना के सुख का अनुभव होता रहता है, प्रिय के रूप आदि का ध्यान आने पर मन लुभाता रहता है। यह लालसा या यह लुब्धता, आनंद के ढंग की चीज है, दुःख के ढग की नहीं। आनंद के रूप में ही प्रेम का उदय होता है और उसका यह भीतरी रूप बराबर बना रहता है। किसी के रूप सौंदर्य और शील-सौंदर्य का पहले-पहल साक्षात्कार या परिचय होते ही सबसे पहली अनुभूति आनंद की होती है; सबसे पहले हृदय विकसित और लुब्ध होता है। सारांश यह कि प्रेमकाल जीवन का आनंदकाल ही है। इसी से भक्तिमार्ग में वल्लभाचार्यजी ने भक्ति या प्रेम ही को साध्य कह दिया है।

प्रेम वास्तव में राग का ही पूर्ण विकसित रूप है। राग और द्वेष दोनों की स्थिति वासना के रूप में प्रत्येक प्राणी में होती है। वासनात्मक अवस्था में इन दोनों के विषय सामान्य रहते हैं। सामान्यतः सुख देनेवाली या चिरकाल से साथ

रहनेवाली वस्तुओं के प्रति राग और दुःख देनेवाली वस्तुओं के प्रति द्वेष का बीज सबके हृदय-क्षेत्र में ढँका रहता है। यही राग जब व्यक्त होकर किसी विशेष व्यक्ति की ओर पहले-पहल उन्मुख होता है तब 'लुभाना' कहलाता है और जब उस विशेष में जाकर स्थिर हो जाता है तब प्रेम कहा जाता है।[१] सीधी बात यह कि वासनात्मक अवस्था से भावात्मक अवस्था में आया हुआ राग ही अनुराग या प्रेम है। राग वास्तव में व्यक्तिबद्ध नहीं होता। किसी के रूप, गुण आदि का उत्कर्ष सुनकर जो पूर्वराग होता है वह भी उत्तेजित राग ही रहता है। यद्यपि उत्तेजना व्यक्ति विशेष के ही उत्कर्ष का परिचय पाकर होती है पर पूर्वराग की दशा में प्रेम की अनन्यता और पूर्ण एकनिष्ठता नहीं रहती; वह पीछे प्राप्त होती है। किसी के प्रति पूर्वराग उत्पन्न होने पर यह संभावना रहती है कि अन्य समय उससे अधिक उत्कर्षवाले किसी दूसरे का परिचय पाकर वह उस पर हो जाय।

राग मिलानेवाली वासना है और द्वेष अलग करनेवाली। रासायनिक मूल द्रव्यों के राग से ही सृष्टि का विकास होता है। राग की अभिव्यक्ति विशेष, दांपत्य और वात्सल्य भाव, से ही सजीव प्राणियों की परपरा चिरकाल से चलती आ रही है। प्रेम में पालन की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष है। माता का प्रेम शिशु का पालन करता है। पर प्रेम द्वारा पालन का विधान एक परिमित क्षेत्र के भीतर तथा अबाध और निर्विघ्न दशा में ही संभव

---

१ [विस्तार के लिये देखिए 'लोभ और प्रीति' नामक निबंध—चिंतामणि पहला भाग, पृष्ठ ६४।]

है। विघ्न और बाधा की दशा में प्रेम काम करता हुआ नहीं दिखाई देता; एक ओर करुणा और दूसरी ओर क्रोध का प्रवर्तन ही देखा जाता है। जब तक शांति है, कहीं से अत्याचार आदि की बाधा नहीं उपस्थित हुई है तब तक तो माता प्रेम के बल से अपने शिशुओं का पालन करती चली चलती है। पर जब कोई बच्चों को मारता है, कष्ट या पीड़ा पहुँचाता है तब रक्षा अपेक्षित होती है। अतः प्रेम तो हृदय के किसी कोने में जा छिपता है; क्रोध और करुणा का उदय होता है। तात्पर्य यह कि अत्याचार द्वारा उपस्थित घोर विघ्न-बाधा की दशा में प्रेमपात्र की भी रक्षा का सीधा लगाव प्रेम से नहीं रहता, करुणा से रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'आनंद' की सिद्धावस्था—शांति-सुख की अवस्था—लेकर चलनेवाले कवियों का ही 'प्रेम' को बीजभाव मानना ठीक है, 'आनंद' की साधनावस्था लेकर चलनेवालों का नहीं। पर आनंद की साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर चलनेवाले योरपीय लोकमंगल-वादियों का एक दल, जिसके अनुयायी हमारे यहाँ के श्री रवींद्रनाथ ठाकुर भी हैं, मनुष्य मनुष्य के बीच भ्रातृप्रेम को ही काव्यभूमि का एकमात्र आधिकारिक भाव मानता है। इस दल के लोग साधनावस्था को लेकर भी माधुर्य और कोमलता के बाहर नहीं जाना चाहते। ये अपने हृदयंगत काव्यदेश की कोमलता और मधुरता के साथ तीक्ष्णता, कठोरता और उग्रता का सामंजस्य नहीं कर सकते। अतः काव्य के कोमल और मधुर पक्ष में ही लीन रहते हैं। ऐसे लोग लोकरक्षा की साधनावस्था के विधान में 'प्रेम' को ही बीजभाव बनाना चाहते हैं। पर साधनावस्था के वर्णन में हम कह आए हैं कि उक्त विधान में हमारे यहाँ के कवियों ने 'करुणा' को ही बीजभाव रखा है। इन दोनों मतों

में, सच पूछिए तो, तत्त्वभेद नहीं है; दृष्टिभेद है। 'प्रेम' को बीजभाव माननेवालों की दृष्टि उसके मूल वासनात्मक रूप 'राग' की ओर रहती है जो मनुष्य की अंतःप्रकृति में निहित रहकर संपूर्ण सजीव सृष्टि के साथ किसी गूढ़ संबंध की अनुभूति के रूप में समय समय पर जगा करता है। अच्छी तरह देखा जाय तो मनुष्य की प्रकृति के भीतर अव्यक्त रूप में यह रागात्मक संबंध-सूत्र चर-अचर सारे प्राणियों के साथ जुड़ा हुआ है। केवल मनुष्य मनुष्य को ही जोड़नेवाला नहीं है। पर इतने असीम और व्यापक रूप में वासनात्मक राग ही रह सकता है, उसका व्यक्त और स्फुरित स्वरूप प्रेम नहीं। प्रेम का आलंबन परिमित, परिचित और निर्दिष्ट होगा अपरिमित, अपरिचित और अनिर्दिष्ट नहीं।

राग की वासना दो भावों का प्रवर्तन करती है—प्रेम का और करुणा का। इनमें से प्रेम का व्यापार परिमित, परिचित और निर्दिष्ट के प्रति होता है। प्रेम के लिये व्यक्ति की कोई विशेषता अपेक्षित होती है। अपने प्रवर्तक 'राग' के समान उसमें निर्विशेषता नहीं होती। इस प्रकार की निर्विशेषता करुणा ही में होती है।

यदि किसी अत्याचार-पीड़ित अपरिचित को देख कोई व्याकुल होकर सहायता के लिये दौड़ पड़े तो प्रेम को बीजभाव माननेवाला कहेगा 'उसके हृदय में बड़ा प्रेम है', पर करुणा को बीजभाव माननेवाला कहेगा 'वह बड़ा दयालु है'। इनमें से प्रथम जिसे 'प्रेम' कहता है वह वास्तव में प्रत्यक्ष प्रेरणा करनेवाले करुणा भाव के मूल में रहनेवाली 'राग' नाम की वासना है। यह पहले कहा जा चुका है कि 'राग' नाम की वासना का विषय सामान्य होता है और 'प्रेम' नामक भाव का आलंबन कोई निर्दिष्ट विशेष होता है। आर्द्र होकर सहायता करनेवाले

का उस अपरिचित पीड़ित व्यक्ति से प्रेम था, यह न कहा जाता है न कहा जा सकता है। कहा यहीं तक जा सकता है कि उसकी अंतःप्रकृति में सामान्यतः सब जीवों के प्रति जो राग की वासना निहित थी उसी के प्रभाव से करुणा उत्पन्न हुई जिसने उसे व्याकुल और सहायता के लिये सन्नद्ध किया। यह कहा जा चुका है कि शुद्ध करुणा के उद्रेक के लिये पीड़ित आलंबन में किसी प्रकार की विशेषता अपेक्षित नहीं। यह बात नहीं है कि जिससे प्रेम हो उसी की पीड़ा देख करुणा उत्पन्न हो। करुणा वैर-प्रीति कुछ नहीं देखती। करुणा करनेवाले के मन में केवल यही रहता है कि उसके समान ही सुख-दुःख अनुभव करनेवाला कोई प्राणी है जिसे कष्ट या पीड़ा पहुँच रही है। इससे स्पष्ट है कि करुणा प्रेम से एक स्वतंत्र भाव है। वह रक्षा का कार्य प्रेम के संचारी के रूप में करती हो, यह बात भी नहीं है यह कार्य उसका अपना है। उसका मूल चाहे अंतर्निहित राग की वासना में हो, पर कविता अव्यक्त मूल को लेकर नहीं चलती, व्यक्त प्रसार को लेकर चलती है।

कविता अभिव्यंजना है। वह अभिव्यक्ति या विकास को लेकर चलती है। इसी दृष्टि से हमारे यहाँ के कवियों ने लोक-रक्षा के विधान में करुणा को ही बीजभाव रखा है। करुणा से रक्षा का विधान होता है; प्रेम से पालन और रंजन का। रक्षा और पालन में अंतर अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। विष्णु भगवान् जगत् का पालन तो हर समय करते रहते हैं, पर रक्षा समय समय पर किया करते है। रक्षा आपद्ग्रस्त की होती है, पालन रक्षित का होता है। बच्चे को समय पर दूध पिलाना पालन है; भूख से मरते को खिला देना रक्षा है। लोकरक्षा का विधान किसी आई हुई आपत्ति से बचाने का

विधान है। अतः लोक-मंगल की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलनेवाले कवियों या समीक्षकों को 'करुणा' ही को बीजभाव कहना चाहिए। सिद्धावस्था की प्रशांत भूमि पर चलनेवाले कवियों का ही 'प्रेमतत्त्व' को बीजभाव कहना ठीक है।

यहाँ पर अब हमें सिद्धावस्था के संबंध में ही विचार करना है जो काव्य की प्रशांत, निर्विघ्न और अबाध भूमि है। इस भूमि में पालन और रंजन का ही पूर्ण प्रसाद दिखाई पड़ता है। इस भूमि का एकमात्र अधिष्ठाता देवता 'प्रेम' है। उसी के द्वारा पालन और रंजन दोनों संपन्न होते है। वात्सल्य भाव द्वारा पालन का और दांपत्य भाव द्वारा रंजन का विधान होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार के प्रेम द्वारा पालन और रंजन नहीं होता। इन दोनों भावों को रस-पद्धति में मुख्य रूप से ग्रहण करने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि इनमें पालन और रंजन दोनों चरम उत्कर्ष को पहुँचते हैं। आनंद की सिद्धावस्था पर ही दृष्टि रखनेवाले कवियों का 'प्रेम' को ही प्रवर्तक या बीजभाव मानना ठीक है किंतु पालन और रंजन दोनों पक्षों के सहित। पर महाराज भोज ने रंजन-पक्ष ही लेकर शृंगार (दांपत्य-भाव) को ही एकमात्र रस कहा है।[१] इससे यह प्रकट होता है कि काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में सिद्धांत या 'वाद' बहुत कुछ रुचि-वैचित्र्य के इशारे पर खड़े हुआ करते हैं; सम्यक् दृष्टि के अनुरोध से कम। काव्य के जिस देश की ओर किसी की रुचि अधिक होती है उसी को वह काव्य का संपूर्ण देश मानना मनाना चाहता है।

---

१ [शृङ्गार एवैकश्चतुर्वर्गैककारणं रस इति।

—शृंगारप्रकाश, प्रथम प्रकाश, १३।]

आरंभ में ही यह कहा जा चुका है कि आनंद की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष का प्रदर्शन करनेवाली काव्यभूमि दीप्ति, माधुर्य और कोमलता की भूमि है जिसमें प्रवर्तक या बीजभाव प्रेम है। काव्य की इस भोगभूमि में दुःखात्मक भावों को बेधड़क चले आने की इजाजत नहीं। आने के पहले उन्हें प्रेम का पूरा शासन स्वीकार करना पड़ता है और बहुत दबकर आना पड़ता है। पड़ोसियों का नाकों दम करनेवाले, माघ में लू चलानेवाले विरह-ताप की अपेक्षा बीच बीच में छानेवाली आशा-सुख की शीतलता अधिक ही मानी गई है[1]। यहाँ अमर्ष, ईर्ष्या, त्रास इत्यादि स्वतंत्र होकर सिर नहीं उठा सकते। हास्य और आश्चर्य नामक आनंदात्मक भाव अलबत्त स्वतंत्र बिचर सकते हैं। आश्चर्य असामान्यत्व पर होता है, अतः उसका आविर्भाव काव्य की कर्मभूमि और भोगभूमि—आनंद की साधनावस्था और सिद्धावस्था—दोनों मे देखा जाता है। यहाँ हमें केवल भोगभूमि की चर्चा करना है। इस भूमि में आश्चर्य के विषय असामान्य शोभा, सौंदर्य, दीप्ति, आत्मोत्सर्ग, विरह-वेदना इत्यादि पाए जाते हैं।

बहुत से लोग इस असामान्य या विरल को ही काव्य की एकमात्र सामग्री मानते हैं जिनमें से कुछ तो उसे प्रस्तुत अर्थ या विषय के स्वरूप में और कुछ उक्ति के स्वरूप में देखा चाहते

---

१ [सीरैं जतननु सिसिर-रितु सहि बिरहिनि-तन-तापु।
बसिबे कौं ग्रीषम-दिननु पर्‌यौ परोसिनि पापु ॥ २६६ ॥
सुनत पथिक-मुहँ, माह-निसि चलति लुवैं उहि गाम।
बिनु बूझैं, बिनु हीं कहैं, जियति बिचारी बाम ॥ २८९ ॥

—बिहारी-रत्नाकर]

हैं। आनंद की सिद्धावस्था लेकर चलनेवाले काव्यों में अर्थात् काव्य की भोगभूमि में आश्चर्य अधिकतर रंजन का अंग होकर आया करता है। विभाव-पक्ष में असामान्य शोभा, दीप्ति, प्राचुर्य, प्रफुल्लता, कोमलता, सौकुमार्य इत्यादि के द्वारा अद्भुत या अलौकिक रंजन की योजना की जाती है। सारांश यह कि मन और इंद्रियों के सुखद विषय ही काव्य की इस भूमि में लिए जाते हैं। अतः उन विषयों की प्रचुरता और असामान्यता की भावना भी रंजन की अनुभूति में योग देती है। असामान्यता या चमत्कार की रुचिवाले कवि बाह्य प्रकृति का चित्रण उसकी असाधारण विभूति को—उसकी चमक-दमक, सजावट, वैचित्र्य, अनोखेपन इत्यादि को—लेकर ही करते हैं। इसी रुचि को बहुत से लोग कला की रुचि मानते हैं। उनके मत से जगत् के साधारण और अरुचिर के बीच से असाधारण और रुचिर को छाँट-छाँट कर सजाना ही और कलाओं के समान काव्यकला का भी काम है। श्रीयुत रवींद्रनाथ ठाकुर अपने 'साहित्य-धर्म' नामक निबंध में कहते हैं—

"कोठार और रसोईघर की गृहस्थ को रोज आवश्यकता पड़ती है, पर संसार के लोगों से वह उन्हें छिपाए रखने की कोशिश करता है। बैठक के बिना भी काम चल सकता है, फिर भी उसी घर में सारा साज सामान रहता है ; पूरी सजावट रहती है। घर का मालिक उसी घर में तसवीरें टाँगकर, कार्पेट बिछाकर उसपर सदा के लिये अपनी छाप लगा देना चाहता है। उस घर को उसने खास तौर से छाँटा है। उसी के द्वारा वह सबसे परिचित होना चाहता है—अपनी व्यक्तिगत महिमा से। ···इसीलिये उसकी बैठक अलंकृत रहती है।"

इस कथन का अभिप्राय यह है कि इसी 'सजावट की रुचि' का ही एक रूप काव्य की रुचि है; इसी रुचि की प्रेरणा से कवि की कल्पना काम करती है और इसी रुचि की तुष्टि के लिये कविता पढ़ी या सुनी जाती है। पर जो कुछ अब तक कहा जा चुका है उसके अनुसार ऊपर उद्धृत कथन काव्य के केवल एक पक्ष विशेष का निरूपण करता है। यह अवश्य है कि इस पक्ष पर खड़े होनेवाले पहले भी रहे हैं और अब भी बहुत से लोग हैं। शृंगार को ही एकमात्र रस माननेवाले महाराज भोज का जिक्र हो चुका है। भोज ऐसे राजाओं के दरबार में रत्नों की जगमगाहट और यश की चाँदनी फैलानेवाली वाणी का बहुत ही अनुरंजनकारी संग्रह हमारे साहित्य में है। फारस की शायरी भी अधिकतर चुनी हुई सजावट ही लेकर चली है। फ्रांस और इटली के प्रभाव से योरप में भी 'सजावट और अनूठेपन' की वासना को ही कला की मूल वासना समझनेवाले बहुत से हैं।

कहना न होगा कि 'सजावट और अनूठेपन' का यह सिद्धांत असामान्यतावाद के ही अंतर्गत है। काव्य का यह असामान्यतावाद धीरे धीरे उस लोकोत्तरवाद तक पहुँचा जिसका प्रतिपादन काव्य को आध्यात्मिक क्षेत्र में ले जाने के लिये किया गया। श्रीयुत रवींद्र कहते हैं—

"जिसे सीमा में बाँध सकें उसका नाम भी रखा जा सकता है; किन्तु जो सीमा के बाहर है, जो पकड़ने या छूने में नहीं आ सकता, उसे बुद्धि द्वारा नहीं पाते, बोध के अंदर—किसी भीतरी तह में—पाते हैं। उपनिषत् ने ब्रह्म के संबंध में कहा है—न तो उसे मन में पाते हैं, न वचन में। उसे जब पाते हैं तब आनंद के अनुभव में। हमारी इस अनुभव की भूख आत्मा की भूख है। वह इसी अनुभव से अपने को पहचानती है।

जिस प्रेम में, जिस ध्यान में, जिस दर्शन में केवल इस अनुभव की भूख मिटती है वही स्थान पाता है साहित्य में, रूपकला में।"

श्रीयुत रवींद्र के उपर्युक्त दोनों कथनों को मिलाकर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका लक्ष्य आनंद की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को भासित करनेवाली काव्यभूमि की ओर है। यह कहा जा चुका है कि इस भूमि में शोभा, दीप्ति, प्राचुर्य, प्रफुल्लता, कोमलता इत्यादि द्वारा रंजन की योजना की जाती है। प्रथम उद्धरण इसी भूमि की ओर स्पष्ट संकेत करता है। उसमें सजावट की रुचि का—शोभन, दीप्त और रुचिर के चुनाव की प्रवृत्ति का—पूरा आभास मिलता है। इस उपभोग या रंजन की जो वृद्धि आश्चर्य के मेल से होती है उसकी ओर दूसरा उद्धरण इशारा करता है। उस उद्धरण में शोभा-सौंदर्य की असीमता के आनंद का उल्लेख है जो आगे चलकर इस प्रकार बताया गया है—

"बाहर जिस अखंड आकाश में ग्रह-ताराओं का मेला लगा रहता है उसकी असीमता का आनंद सिर्फ हमारे अनुभव में ही है। जीवलीला के लिये वह आकाश बिल्कुल फालतू है। जमीन के भीतर रहनेवाला कीड़ा इस बात का सबूत है।"

विभाव-पक्ष में शोभन और दीप्त को चुनकर उनकी असामान्य योजना द्वारा अद्‌भुत रंजन की सामग्री तैयार करना तथा भाव-पक्ष में अनुभूति और व्यंजना का वैचित्र्य प्रदर्शित करना काव्य में कलावाद के नए और पुराने अनुयायियों का लक्ष्य रहा है। शोभा और दीप्ति की लोकोत्तर कल्पना हमारे यहाँ के भक्तों में भी भगवान् की विभूति की भावना मानी जाती है और विलायती ढंग की 'आध्यात्मिक कविता' में भी असीम

और अनंत की झाँकी समझी जाती है। हमारे यहाँ के भक्ति-मार्ग में इसे 'अचिन्त्यैश्वर्य्य-योग' कहते हैं।

माधुर्य-पक्ष

असामान्यता, दीप्ति, चमत्कार इत्यादि से सर्वथा स्वतंत्र आकर्षण माधुर्य का है। इस गुण के अधिष्ठान का असामान्य, अलौकिक या दीप्त होना आवश्यक नहीं। सामान्य से सामान्य, तुच्छ से तुच्छ वस्तुओं और दृश्यों में माधुर्य का पूरा आकर्षण रहता है। महाकवि कालिदास ने बरसात में चारो ओर दिखाई पड़नेवाले खुमी के पौधों, तुरंत के जुते खेतों की सोंधी मिट्टी, और 'भ्रूविलासानभिज्ञ' गाँव की सीधी सादी स्त्रियों और पुरानी कहानी कहते हुए बुड्ढों तक में इस माधुर्य का साक्षात्कार किया है।[1] परम भावुक अँगरेज कवि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) का हृदय पगडंडी के किनारे उगे हुए गर्द से मैले तुच्छ से तुच्छ फूल के पौधे (**Meanest flower**) को भी अपनाता था[2]। हृदय की पूरी व्यापकता हम दीप्ति और माधुर्य, असामान्य और सामान्य, दोनों पक्षों के रसात्मक ग्रहण में मानते हैं। साहित्य की पुस्तकों में 'सब अवस्थाओं में पाई जानेवाली रमणीयता' को माधुर्य कहा है—

सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्य्यं रमणीयता।

—[साहित्य-दर्पण ३-६७]

---

१ [मेघदूत, पूर्वमेघ—११, १६, १२।]

२ [To me the meanest flower that blows can give
Thoughts that do often lie too deep for tears.
—Ode on Intimations of Immortality from
Recollections of Early Childhood.]

सामान्य से सामान्य प्राकृतिक वस्तुओं में, नगण्य से नगण्य के जीवन-व्यापार में इस माधुर्य का अनुभव होता है। अतीत की स्मृति में, कौमार अवस्था के परिचित पुराने पेड़ों और उजाड़ टीलों में, किसानों के झोपड़ों में, काई और कीचड़-भरे तालों में, चरकर लौटती हुई गायों के धूल उड़ाते हुए झुंड में, गड़ेरियों और ग्वालों की कमली में, ऊसर की पगडंडियों में मन को लीन करनेवाला जो गुण है, वह माधुर्य है। प्रत्येक देश के सच्चे कवियों ने सीधे सादे और सामान्य में भी बराबर इस माधुर्य का अनुभव किया है। इस माधुर्य की अनुभूति के स्वरूप को दीप्ति और सज्जा की अनुभूति के स्वरूप से सर्वथा भिन्न समझना चाहिए। जैसे घास के चौरस मैदान को मखमली कालीन या पन्ने का फर्श कहने से माधुर्य की अनुभूति के ठीक स्वरूप की व्यंजना नहीं होगी। ऐसे कथन में केवल दीप्ति और सजावट की भावना पाई जायगी।

रूप-सौंदर्य के अंतर्गत प्रायः दीप्ति और माधुर्य दोनों मिले रहते हैं। दीप्ति चकित और स्तंभित करती है। प्रेम-काव्यों में कहीं कहीं नायिका के रूप को देखते ही नायक जो मूर्च्छित होकर गिर जाया करते हैं उसे दीप्ति का प्रभाव समझना चाहिए। जायसी की पद्मावत में शिव-मंदिर में प्रवेश करती हुई पद्मिनी को देखते ही राजा रत्नसेन तो मूर्च्छित हो ही गए; शिव और देवता लोग भी स्तब्ध हो गए[१]। रूप में लोभ उत्पन्न करनेवाली या लुभानेवाली वस्तु, मन को पास खींचनेवाली शक्ति माधुर्य है। दीप्ति मात्र में चिपक नहीं होती। लोग न जाने कितने दमकते हुए रूप देखते हैं, चकित होते हैं पर सब जगह उनका

१ [देखिए पदमावत, बसंत खंड ।]

मन नहीं चिपका करता। प्रेम के रूप में राग का आविर्भाव माधुर्य पाकर ही होता है। पर इस माधुर्य की अनुभूति व्यक्तिगत होती है। दीप्ति का स्वीकार तो बहुत से आदमी एक साथ करते हैं; पर किसी व्यक्ति या वस्तु में माधुर्य दस पाँच आदमियों में एक या दो ही आदमी देखेंगे। लैला में मजनूँ की ही आँख ने माधुर्य देखा था। सांनिध्य और संपर्क की प्रबल प्रवृत्ति जगानेवाली दशा, जिसे आसक्ति कहते हैं, माधुर्य-भावना के संचार से ही प्राप्त होती है। भवधारा के भीतर भीतर चलनेवाली जो भावधारा है मनुष्य के हृदय को द्रवीभूत करके उसमें मिलानेवाली भावना माधुर्य की है। 'कविता क्या है' नामक प्रबंध* में काव्य को हमने भावयोग कहा है[१]। इस भावयोग की चरम साधना से हृदय को जो मुक्तावस्था प्राप्त होती है वह इसी माधुर्य की अनुभूति के सहारे। भेद में अभेद की रसात्मक प्रतीति इसी माधुर्य का स्वाद है जिसे हमारे यहाँ के भक्तों ने भगवान् का प्रसाद बताया है—ऐसा प्रसाद जिससे आत्मा का पोषण होता है।

---

* देखिए "विचार-वीथी"।

१ [देखिए ऊपर पृष्ठ ६]

काव्य का लक्ष्य

काव्य या कविकर्म के लक्ष्य को हम क्रम से तीन भागों में बाँट सकते हैं—

(१) शब्द-विन्यास द्वारा श्रोता का ध्यान आकर्षित करना।

(२) भावों का स्वरूप प्रत्यक्ष करना।

(३) नाना पदार्थों के साथ उनका प्रकृत संबंध प्रत्यक्ष करना।

मेरी समझ में काव्य का अंतिम लक्ष्य तीसरा है। यह दूसरी बात है कि अपनी शक्ति के अनुसार कोई पहली सीढ़ी पर रह जाता है, कोई दूसरी ही तक पहुँच पाता है। श्रोता के संबंध में यदि हम पहले दो विभागों का ही विचार करते हैं तो कविता केवल आनंद या मनोरंजन की वस्तु प्रतीत होती है।

× × ×

···भाव के विषय का कैसा ही यथा तथ्य चित्रण क्यों न हो यदि उसके वर्णन के अंतर्गत ही उक्त भाव को शब्द और चेष्टा द्वारा प्रकट करनेवाला न होगा, तो [शास्त्रीय दृष्टि से] रस

कच्चा ही समझा जायगा। इसका निचोड़ यह निकला कि रस-संचार का प्रयासी कवि विषय को श्रोता या दर्शक के सामने नहीं रखता वास्तव में किसी वर्णित पात्र के सामने रखता है। इस [ढंग] से जो कविता श्रोता या दर्शक को संबोधन करके [कही] जाती है और जिसका उद्देश्य पाठक या श्रोता में भाव [संचार] करके उसे किसी ओर प्रवृत्त करना [रहता] है वह 'रस-काव्य' नहीं।* मतलब यह है कि रस-विधायक कवि का काम श्रोता या पाठक में भाव-संचार करना नहीं उसके समक्ष भाव का रूप प्रदर्शित करना है [जिसके] दर्शन से श्रोता के हृदय में भी उक्त भाव की अनुभूति होती है जो प्रत्येक दशा में आनंदस्वरूप ही रहता है।

अब विचारने की बात है कि क्या प्रत्येक दशा में इस रीति से 'साधारणीकरण' होता है [या] भाव का उद्रेक उसके स्वरूप दर्शन मात्र से होता है। दो राजा युद्ध के लिये संनद्ध हैं। उनमें से किसी के संबंध में कोई ऐसी बात नहीं कही गई है कि जिससे हमें उस पर क्रोध हो सके। दोनों समान रूप से सज्जन, वीर और उदार हैं। उनमें से यदि किसी के क्रोध का दृश्य सामने लाया जायगा तो क्या दूसरे पर हमें भी क्रोध आ सकता है? मैं समझता हूँ नहीं। ऐसे वर्णन में हमें केवल उस भाव को दर्साने की निपुणता का अनुभव प्रधान रूप से होगा जिसका लगाव हमारे क्रोध से न होगा। साहित्य के आचार्यों ने काव्य से प्राप्त अनुभव को क्यों आनंदस्वरूप कहा इसका कारण उक्त उदाहरण से प्रत्यक्ष हो जाता है। इस विवेचन के अनुसार 'मनोरंजन' के अतिरिक्त काव्य का और कोई उच्च उद्देश्य नहीं ठहरता।

---

* [यहाँ पर मूल प्रति में फूल बना हुआ है पर उससे संबद्ध अंश अनुपलब्ध है।]

पर क्या हम कह सकते हैं कि आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के महावाक्य का इतना ही परिमित उद्देश्य था? क्या पाठक या श्रोता के हृदय में वे और किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते थे? क्या उनके क्रोध, शोक और जुगुप्सा के आलंबन-उद्दीपन मनुष्य मात्र के क्रोध, शोक और जुगुप्सा के विषय नहीं हैं? क्या रावण पर क्रोध प्रकट करते हुए राम के मुख से निकले हुए शब्द हमारे हृदय से निकले हुए नहीं प्रतीत होते? रावण और उसके कर्म ऐसे हैं जिन पर मनुष्य-जाति क्रोध करने के लिये विवश है। यह क्रोध भारतीय जनता में ऐसा स्थायी हो गया है कि रामलीला में कभी कभी कागज के बने रावण को लड़के युद्ध के पहले ही पत्थरों से मार मारकर गिरा देते हैं। इसका नाम है साधारणीकरण। विशेष का चित्रण करने में भी 'भाव' के विषय के सामान्यत्व की ओर जब कवि की दृष्टि रहेगी तभी यह 'साधारणीकरण' हो सकता है। पर यह सजीव सृष्टिमात्र के हृदय को अपने हृदय में रखनेवाले स्वतंत्र कवियों में ही पाया जायगा। जिनका उद्देश्य राजाओं को प्रसन्न मात्र करना होगा वे ऐसे व्यापक लक्ष्य का निर्वाह नहीं कर सकते।

कवि को अपने कार्य में अंतःकरण की तीन वृत्तियों से काम लेना पड़ता है—कल्पना, वासना और बुद्धि। इनमें से बुद्धि का स्थान बहुत गौण है। कल्पना और वासनात्मक अनुभूति ही प्रधान हैं। बुद्धि की सहायता तो काव्य के बाह्य रूप में पड़ती है। वासना की सहकारिणी होकर जब कल्पना काम करती है तभी वह काव्योचित कल्पना होती है। वासना-कल्पना के सहयोग से भावों के विषय भी प्रत्यक्ष किए जाते हैं और भाव भी व्यक्त किए जाते है। सच्चे काव्य में प्रत्यक्षीकरण के लिये इन

दोनों का संयोग परम आवश्यक है। सच्चा कवि उसी व्यक्ति या वस्तु का स्वरूप कल्पना में लाएगा जिसके प्रति उसकी किसी प्रकार की अनुभूति होगी। पात्र द्वारा भाव की व्यंजना करने में कवि के दो रूप होते है—सहज और आरोपित। यदि व्यंजित किए जानेवाले भाव का आलंबन सामान्य है—ऐसा है जो मनुष्य मात्र के चित्त में वही भाव उत्पन्न कर सकता है—तो समझना चाहिए कि कवि अपने सहज रूप में उसे प्रकट कर रहा है। जैसे रावण के प्रति राम का क्रोध। यदि व्यंजित किया जानेवाला भाव ऐसा नहीं है तो समझना चाहिए कि वह उसे आरोपित रूप में प्रकट कर रहा है; जैसे राम के प्रति रावण का क्रोध। आरोपित भाव कवि अनुभव नहीं करता, कल्पना द्वारा लाता है। आश्रय की स्थिति में अपने को समझकर आलंबन के प्रति कवि भी यदि उसी भाव का अनुभव करता है जिस भाव का आश्रय करता है तो कवि उस भाव का प्रदर्शन सहज रूप में करता है। यदि कवि का भाव उदासीन है या अनौचित्य-ज्ञान के कारण विरक्त है तो आश्रय के भाव का प्रदर्शन वह केवल आरोपित या आहार्य रूप में करता है।

ऐसे स्थल पर रसाभास या भावाभास ही मानना चाहिए। कवि या श्रोता के मन की अनौचित्यजन्य विरक्ति के कारण भाव में जो त्रुटि आती है उसी की ओर लोगों ने ध्यान दिया पर आचार्यों ने तिर्यक् विषयक रतिभाव का जो उल्लेख रसाभास के भीतर किया उससे यह स्पष्ट लक्षित हो जाता है कि जिस भाव के प्रति

१ [प्रतिनायकनिष्ठत्वे तदवदधमपात्रतिर्यगादिगते।
श्रृङ्गारे अनौचित्यम् ....॥

—साहित्य-दर्पण ३–२६४]

कवि या श्रोता का मन उदासीन है उसको भी रसाभास या भावाभास के ही भीतर वे रखना चाहते थे। मृगी के प्रति मृग जिस रति भाव का अनुभव करता है वह अनुचित नहीं है, बात यह है कि मृगी रूप आलंबन में मनुष्य श्रोता या पाठक अपने दांपत्य रति की पूर्ण चरितार्थता का अनुभव नहीं कर सकता।

अपने यहाँ के आचार्यों के दिए हुए संकेतों के अनुसार प्राचीन काव्यों की प्रकृति का अनुसंधान करने से पूर्ण रस का यही स्वरूप निर्दिष्ट होता है जो ऊपर कहा गया। इसे स्वीकार कर लेने पर भारतीय काव्य की प्रकृति के निरूपण के लिये 'आदर्शात्मक' (Idealistic), 'शिक्षात्मक' (Didactic) आदि रस और भाव के क्षेत्र के बाहर के शब्दों के व्यवहार की आवश्यकता नहीं रह जाती। लोक-कल्याण के निमित्त प्रतिष्ठित-धर्म और नीति के लक्ष्य पर पहुँचानेवाला एक दूसरा अधिक सुगम और आकर्षक मार्ग अलग खुला हुआ है इसका पूर्ण आभास हमारे यहाँ के प्राचीन काव्य देते हैं। आदर्शात्मक कहने से चरित्र में असाधारणत्व का होना अनिवार्य समझा जाता है। पर आगे चलकर दिखाया जायगा कि पूर्ण रस के संचार के लिये सवत्र असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता। साधारण असाधारण दोनों प्रकार के चरित्र द्वारा पूर्ण रस की अनुभूति हो सकती है। पूर्ण रस में कसर आलंबन के अनौचित्य और अनुपयुक्तता के कारण होगी, साधारणत्व के कारण नहीं। आलंबन के प्रति श्रोता की जिस उदासीनता का उल्लेख हुआ है वह सच पूछिए तो विशेषत्व के कारण होती है। जो आलंबन मनुष्य-जाति की सामान्य प्रकृति से संबंध नहीं रखता, आश्रय की विशेष प्रकृति या स्थिति से ही संबंध रखता है, उसके प्रति

आश्रय के भाव का भागी श्रोता या पाठक पूर्ण रूप से नहीं हो सकता। इस सहानुभूति के अभाव से रस का पूरा परिपाक न होगा। राम के प्रति रावण के, शकुंतला के प्रति दुर्वासा के, एक अच्छे राजा के प्रति दूसरे अच्छे राजा के क्रोध के साथ योग देने श्रोता या पाठक का क्रोध नहीं जायगा। अतः ऐसे क्रोध के अनुभाव-संचारी से पुष्ट वर्णन द्वारा भी रौद्र रस की पूर्ण अनुभूति नहीं हो सकती। पर कवि के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह सर्वत्र पूर्ण रस ही लाया करे।

भारी भारी महाकाव्यों का प्रधान विषय बनाने के योग्य अवश्य प्राचीन महाकवि असाधारण चरित्र ही मानते थे। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि की वाग्धारा जब प्रवाहोन्मुख हुई थी तब उन्होंने ऐसे चरित्र की जिज्ञासा नारद जी से की थी।[1] महाकाव्य के योग्य आदर्श पुरुष और आदर्श चरित्र जब उन्हें मिल गया तब वे रामायण ऐसे विशद महाकाव्य की रचना में प्रवृत्त हुए। पर उस प्रधान स्थायी चरित्र के भीतर सामान्य चरित्रों का स्वाभाविक वर्णन भी बराबर है। उसमें यहाँ से वहाँ तक राम और भरत के चरित्र का असाधारण उत्कर्ष और रावण के चरित्र का असाधारण अपकर्ष ही नहीं है; बल्कि कैकेयी की स्त्री-सुलभ साधारण ईर्षा, मंथरा की साधारण कुटिलता, सुग्रीव की व्यावहारिक कृतज्ञता आदि की भी पूरी झलक उसके भीतर है। सारांश यह कि आदिकवि के महाकाव्य में देवता और राक्षस ही नहीं हैं साधारण मनुष्य भी हैं। कालिदास ने रघुवंश और कुमारसंभव ऐसे महाकाव्यों के लिये ही असाधारण आदर्श चरित्र की आवश्यकता समझी, मेघदूत ऐसे खंडकाव्य के लिये

१ [वाल्मीकीय रामायण, बालकांड, प्रथम सर्ग १–५ तक।]

नहीं, जिसमें न विरही यक्ष असाधारण है न उसका विरह और न मेघ के मार्ग में पड़नेवाले प्राकृतिक दृश्य। पर वह काव्य संस्कृत-साहित्य में अपने ढंग का सबसे निराला है। इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र ऐसे नाटकों की रचना आदर्श चरित्र लेकर नहीं हुई है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सब प्रकार के भारतीय काव्य आदर्श-प्रधान हैं, मनुष्य-जाति में अधिकतर पाई जानेवाली साधारण वृत्तियों का वास्तव चित्रण कहीं है ही नहीं।

अधिकांश काव्यों में कृत्रिमता अवश्य पाई जाती है पर उसका कारण सर्वत्र उच्च आदर्श चरित्र या दृश्य की योजना नहीं है बल्कि अंधपरंपरानुसरण और रीति-ग्रंथों का कठोर शासन है।

रीति-ग्रंथों का बुरा प्रभाव

काव्य-रीति का निरूपण थोड़ा बहुत सब देशों के साहित्य में पाया जाता है। पर हमारे यहाँ के कवियों को रीति-ग्रंथों ने जैसा चारों ओर से जकड़ा वैसा और कहीं के कवियों को नहीं। इन ग्रंथों के कारण उनकी दृष्टि संकुचित हो गई, लक्षणों की क़वायद पूरी करके वे अपने कर्तव्य की समाप्ति मानने लगे, काव्य का स्वरूप संघटित करने के स्थान पर वे बाहरी सजावट में अधिक उलझने लगे। सारांश यह कि वे इस बात को भूल चले कि किसी वर्णन का उद्देश्य श्रोता के हृदय पर प्रभाव डालना है। बात यह है कि ये ग्रंथ सीमा का अतिक्रमण कर गए। रस-निरूपण में भावों और रसों को गिनाने का यह प्रभाव पड़ा कि जो बातें भावों और रसों के निर्दिष्ट शब्दों के भीतर आती हुई उन्हें प्रत्यक्ष रूप से न दिखाई पड़ीं उनके वर्णन से उन्हें कोई प्रयोजन ही न रह गया। केवल गिनी गिनाई बातों को निर्दिष्ट

शैली के अनुसार आँख मूँदकर कह दिया, बस पूर्ण रस की रसम अदा हो गई। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन का हिंदी काव्यों में जो अभाव पाया जाता है उसका मुख्य कारण यही है। रस, नायिका, अलंकार आदि के लक्षण और उदाहरण जानना जब साहित्य के पाठकों के लिये आवश्यक हो गया तब कवियों को एक ही पद्य में पूर्ण रस लाने का हौसला बढ़ा। कुछ बातें तो कविजी ने कहीं और कुछ बातें नायिका, अलंकार आदि का इशारा पाकर पाठक आप लगा लेने लगे। इस प्रकार उस स्वरूप-चित्रण से बहुत कुछ छुट्टी पा जाने से कवि लोग पद-क्रीड़ा में प्रवृत्त हुए, वर्ण्य वस्तुओं को गिनाने और उनका वर्गीकरण करने से बाह्य और आभ्यंतर दोनों सृष्टियों की अनेकरूपता का काव्यों में अभाव सा हो चला। जिस प्रकार बाह्य दृश्यों के अनंत रूप हैं उसी प्रकार मनुष्य की मानसिक स्थिति के भी; जिस प्रकार पृथ्वी पर अनेक प्रकार के दृश्य हैं उसी प्रकार मनुष्य भी अनेक स्वभाव और चरित्र वाले हैं। उद्दीपन की कुछ वस्तुओं के गिनाने और नायक-नायिका के धीराधीरा, धीरोदात्त इत्यादि भेद निर्दिष्ट करने से दोनों ओर की अनेकता पर पर्दा सा डाल दिया गया। धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशांत जो चार प्रकृति के नायक कहे गए हैं, क्या उनमें जितनी प्रकृति के मनुष्य हो सकते हैं सब आ जाते हैं? विविध प्रवृत्तियों के मेल से संघटित जो अनेक स्वभाव के मनुष्य दिखाई पड़ते हैं उनके स्पष्टीकरण के लिये मानव-प्रकृति के अन्वीक्षण की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता उक्त चार प्रकार के ढाँचे तैयार मिलने से पिछले कवियों को न रह गई। इसी से हमारे यहाँ के अधिकांश नाटकों में नाटकस्थ पात्र निर्दिष्ट साँचों में ढले हुए होते हैं। नायिकाओं के जो भेद किए गए वे भी केवल शृंगार की दृष्टि से, सर्वव्यापार-

व्यापी प्रकृति-भेद की दृष्टि से नहीं। निम्न वर्ग की अशिक्षिता स्त्रियों की सामान्य द्वेषपूर्ण कुटिलता और इधर की उधर लगाने की प्रवृत्ति का जो उदाहरण मंथरा के रूप में वाल्मीकि ने दिया वह नायिकाभेद के ग्रंथों में नहीं मिलेगा। सारांश यह कि नायक-नायिकाभेद चरित्र-चित्रण मे सहायक नहीं हुए, बाधक हुए। उनके अनुसार जिन प्रबंध-काव्यों या नाटकों में पात्रों की योजना हुई उनमें मानव-प्रकृति के बहुत ही थोड़े अंश का चित्र हमें मिलता है—सो भी परंपराभुक्त और पिष्टपेषित। इसी से सामान्य चरित्र-चित्रों की जो अनेकरूपता हम योरप के काव्यों और नाटकों में पाते हैं वह यहाँ के नहीं।

जिस प्रकृति-क्षेत्र के एक एक अंग का दर्शन कवि का काम है उसके बीच पगडंडियाँ निकाल देने से कवियों की यात्रा तो सुगम हो गई पर उसका अधिकांश उनकी दृष्टि से दूर हो गया। कवि को प्रकृति-कानन में विचरण करना रहता है, दूसरे प्रयोजन से यात्रा करनेवालों के समान केवल इस पार से उस पार निकल जाना नहीं। आवश्यकता से अधिक लीक बना देने से लीक पीटनेवालों की संख्या अवश्य बहुत बढ़ गई—पर इससे काव्य के व्यापक उद्देश्य की अधिक सिद्धि नहीं हुई। लीक पीटने की शिक्षा रीति-ग्रंथ लिखनेवाले आचार्यों ने ही दी यह बात कुछ अलंकारों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाती है। रूपकातिशयोक्ति को लीजिए जिसमें पहेली के ढंग पर केवल उपमानों का कथन होता है, उपमेयों को पाठक अपना समझते बूझते रहते हैं। यह तभी संभव है जब उपमान नियत हों। इस वस्तु की उपमा इस वस्तु से कवि देते आए हैं यह साधारण तभी हो सकती है जब एक ही उपमा का खूब पिष्टपेषण हुआ हो।

इस अनंत विश्व के भावोत्तेजक रूप भी अनंत हैं। पर कुछ महापुरुषों ने वर्ण्य वस्तुओं तक को गिनाने का प्रयास किया। केशवदासजी को इस हवा का सबसे पिछला झोंका लगा ; इससे इनकी कविप्रिया में वर्ण्य वस्तुओं की खासी फिहरिस्त मौजूद है—

[कविन कहे कवितान के अलंकार द्वै रूप।
एक कहैं साधारणै एक विसिष्ट सरूप ॥
सामान्यालंकार को चारि प्रकार प्रकास।
वर्ण, वर्ण्य, भू, राजश्री भूषण केसवदास ॥
—कविप्रिया, पाँचवाँ प्रभाव २-१।

इसी सामान्यालंकार के अंतर्गत संपूर्ण वर्ण्य सामग्री का स्वरूप विवेचित है। विशेषालंकार के अंतर्गत वर्णन-शैली अर्थात् प्रसिद्ध उपमादि अलंकारों का वर्णन हुआ है।]

किसी आचार्य ने* कह दिया कि महाकाव्य में इतने सर्ग होने चाहिएँ और इन इन वस्तुओं का वर्णन होना चाहिए। फिर क्या था, जिसे महाकाव्य लिखने का हौसला हुआ उसे झख मारकर उन सब वस्तुओं का वर्णन करना पड़ा, चाहे कथा के प्रसंग में किसी किसी वस्तु की आवश्यकता बिलकुल न हो। इस प्रकार उन्हें अप्रासंगिक वर्णन का भी समावेश अपने काव्यों में करना पड़ा। जलविहार और श्मशान का प्रसंग चाहे कथा में न आता हो पर कविजी को उसे लाना चाहिए।

सच्चे काव्य में सहज भाव प्रधान होता है आरोपित नहीं। उसमें कवि, पात्र और श्रोता तीनों के हृदय का समन्वय होता है जिससे काव्य का जो प्रकृत लक्ष्य है, पदार्थों के साथ

* देखिए विश्वनाथ महापात्रकृत साहित्य-दर्पण, छठाँ परिच्छेद, श्लोक ३१२-३२४।

भावों के प्रकृत संबंध का प्रत्यक्षीकरण—जगत् के साथ हमारी रागात्मिका वृत्ति का सामंजस्य—वह सिद्ध हो जाता है। ऐसे ही काव्य अमर या चिरस्थायी होते हैं जिनमें मनुष्यमात्र अपने भावों के आलंबन पाते हैं।

जो काव्य न कवि की अनुभूति से संबंध रखते हैं न श्रोता की, उनमें केवल कल्पना और बुद्धि के सहारे भावों के स्वरूप का प्रदर्शन होता है। यदि हम किसी भाव के स्वरूप-प्रदर्शन मात्र का विचार करते हैं श्रोता के हृदय में उसके संचार का नहीं, तो कविता केवल ऊपरी दिलबहलाव या मनोरंजन की वस्तु प्रतीत होती है और कवि का कार्य चित्रकार के कार्य से अधिक महत्त्व का नहीं जान पड़ता। जैसे चित्रकार नाना रंगों के मेल से पहले लोगों का ध्यान चित्र की ओर ले जाता है फिर आकार और भाव प्रदर्शित करके उनका मनोरंजन करता है वैसे ही कवि भी अपने सुंदर और चटकीले शब्दों द्वारा श्रोता या पाठक को आकर्षित करता है, फिर किसी भाव का स्वरूप दिखाकर बैठे ठाले लोगों को एक प्रकार के आनंद का अनुभव करा देता है। जो काव्य की पहुँच यहीं तक समझते हैं वे इतना ही कह सुनकर संतुष्ट हो जाते हैं कि जिस प्रकार चित्रकार अपने रंगों से पदार्थों का रूप दिखाता है, उसी प्रकार कवि अपने शब्दों से दिखाता है। वे प्रदर्शन की कुशलता मात्र पर संतुष्ट होते हैं प्रदर्शित वस्तु चाहे जो कुछ हो। प्रदर्शित वस्तु या विषय का मनुष्यमात्र की वासनात्मक प्रकृति से कहाँ तक संबंध है—वह वस्तु या विषय मनुष्यमात्र के हृदय को कहाँ तक स्पर्श कर सकता है—यह देखने का झंझट वे नहीं उठाते। यदि कविजी ने किसी के हाथी की झूल का वर्णन कर दिया और उसमें सहस्रों सूर्य उतार लाए या किसी का त्यौरी बदलना, दाँत पीसना और बड़बड़ाना दिखा

दिया—बिना इसका निर्देश किए कि जिस पर त्यौरी बदली जा रही है वह कैसा है—तो बस उनकी वाहवाही हो गई। क्या इसके भी कहने की आवश्यकता है कि ऐसी रचना मनुष्य के हृदय की भीतरी तह तक नहीं पहुँचती केवल ऊपरी दिलबहलाव भर करती है? इसी हलकेपन के कारण बहुत से लोग काव्य को विलास की सामग्री और अमीरों के शौक की चीज समझने लगे। भाँटों और कवियों में कोई भेद ही न रह गया। भोज ऐसे राजा बात बनानेवाले खुशामदियों को कवि कहकर लाखों का पुरस्कार देने लगे। उसी भोज की तारीफों के पुल बाँधनेवाले—उसके प्रताप[1] को सूर्य से भी बढ़कर बतानेवाले चारो ओर से आते थे जिसके सामने ही विदेशी इस देश में आकर भारतीयों की इतनी दुर्दशा करने लगे थे।

जहाँ आचार्यों ने पूर्ण रस माना है वहाँ तीन हृदयों का समन्वय चाहिए। आलंबन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम तो कवि में चाहिए फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो 'साधारणीकरण' कहा गया है वह तभी चरितार्थ हो सकता है। यदि श्रोता के हृदय में भी प्रदर्शित भाव का उदय न हुआ—उस भाव की स्वानुभूति से भिन्न प्रकार का आनंद रूप अनुभव हुआ तो 'साधारणीकरण' कैसा? क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि के वर्णन यदि श्रोता के हृदय में आनंद का संचार करें तो या तो श्रोता सहृदय नहीं या कवि ने बिना इन भावों का स्वयं अनुभव किए उनका रूप प्रदर्शित किया है। कवि को 'कलानिपुण' और 'सहृदय' दोनों होना चाहिए।

---

१. [भोजप्रतापं तु विधाय धात्रा शेषैर्निरस्तैः परिमाणुभिः किम्।
हरेः करेऽभूत्पविरम्बरे च भानुः पयोधेरुदरे कृशानुः॥
—भोजप्रबंध, ९२।]

'कलानिपुणता' और 'सहृदयता' अब दोनों एक ही वस्तु नहीं हैं। बहुत से लोग सहृदय होते हैं, पर अपनी प्रबल वासनात्मक अनुभूति को व्यक्त करने की निपुणता उनमें नहीं होती। इसी प्रकार इसका उलटा भी होता है। बहुत से काव्यों के बन जाने और लक्षण-ग्रंथों की भरमार हो जाने से इधर बहुत दिनों से हृदयहीनों के लिये जैसे बुद्धि और कल्पना के सहारे काव्य का सा स्वरूप खड़ा कर देना सुगम हो गया है वैसे ही काव्य का रसिक या शौकीन बनना भी। भाव का विषय केवल वह व्यक्ति ही नहीं होता जिसे आलंबन कहते हैं उसके रूप, गुण, कर्म आदि भी होते हैं। कभी कभी तो अन्य भाव के कारण श्रोता की दृष्टि निर्दिष्ट व्यक्ति वा आलंबन से हटकर वर्णित रूप, गुण आदि के सहारे वैसा ही कोई और व्यक्ति अपने भाव के आश्रय के लिये कल्पित कर लेती है। 'कुमारसंभव' में पार्वती के अंग प्रत्यंग के वर्णन और शिव के प्रेम को पढ़कर श्रोता उस वर्णन द्वारा रतिभाव का अनुभव तो करता है पर अनुभूति के साथ पार्वती देवी को कल्पना में नहीं रखता—हटाए रहता है। इसी प्रकार राम के इस विलाप को पढ़कर—

> रे वृक्षाः पर्वतस्था गिरिगहनलता वायुना वीज्यमाना
> रामोऽहं व्याकुलात्मा दशरथतनयः शोकशुक्रेण दग्धः।
> बिम्बोष्ठी चारुनेत्री सुविपुलजघना बद्धनागेन्द्रकाञ्ची
> हा ! सीता केन नीता मम हृदयगता को भवान्केन दृष्टा ॥

—[हनुमन्नाटक, अंक ५, श्लोक १०]

कोई अपनी प्रियतमा के ध्यान में भी लीन हो सकता है। इस प्रकार रत्यादि स्थायी भावों का सामान्य रूप से प्रतीत होना साहित्य के आचार्यों ने स्वीकार किया है।

मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनंद' शब्द से व्यक्त नहीं होता। 'लोकोत्तर' 'अनिर्वचनीय' आदि विशेषणों से न तो उसके अवाचकत्व का परिहार होता है न प्रयोग का प्रायश्चित्त। क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि आनंद का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं, उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते? क्या 'विभावत्व' उनका स्वरूप हरकर उन्हें एक ही स्वरूप—सुख का—दे देता है। क्या दुःख के भेद सुख के भेद से प्रतीत होने लगते हैं? क्या मृत पुत्र को लिये विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चंद्र का कफन माँगना देख सुन-कर आँसू नहीं आ जाते, दाँत निकल पड़ते हैं? क्या महमूद के अत्याचारों का वर्णन पढ़कर यह जी में नहीं आता कि वह सामने आता तो उसे कच्चा खा जाते? क्या कोई दुःखांत कथा पढ़कर बहुत देर तक उसकी खिन्नता नहीं बनी रहती? 'चित्त का यह द्रुत होना' क्या आनंदगत है? इस आनंद शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है—उसे नाच तमाशे की तरह बना दिया है।

सूक्ति और काव्य

'आनंद' शब्द ने जिस प्रकार काव्य की नीयत को बदनाम किया है, उसी प्रकार 'चमत्कार' शब्द ने उसके रूप को बहुत कुछ बिगाड़ा है। उसके कारण विलक्षण रीति से कोई बात कहना, चाहे वह भावोत्तेजक या भावोत्पादक हो या न हो, कविता करना समझा जाने लगा। बात बनानेवाले भी कवि बनाए जाने लगे। 'अनूठी बात' सुनने की उत्कंठा रखनेवाले अपने को काव्य-रसिक समझने लगे। काव्य का प्रकृत स्वरूप

लोगों की आँखों से ओझल हो गया। यहाँ तक कि नारायण पंडित को सर्वत्र अद्भुत रस ही दिखाई देने लगा और उन्होंने कह दिया कि—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥

काव्य में असाधारणत्व

काव्य में असाधारणत्व वहीं अपेक्षित होता है जहाँ भावों का अत्यंत उत्कर्ष दिखाना होता है। इस उत्कर्ष के लिये कहीं कहीं असाधारणत्व पहले विभाव में प्रदर्शित होकर भाव (स्थायी) के उत्कर्ष का कारण-स्वरूप होता है। जैसे, शृंगार के आलंबन के अत्यंत सौंदर्य, करुण के आलंबन के अत्यंत दुःख, रौद्र के आलंबन के अतिशय अत्याचार, वीर के आलंबन की अतिशय दुःसाध्यता इत्यादि द्वारा आश्रय के भावों के उत्कर्ष के लिये हेतु प्रस्तुत किया जाता है। पर आगे चलकर दिखाया जायगा कि भावों के उत्कर्ष के लिये भी सर्वत्र आलंबन का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता। साधारण से साधारण वस्तु हमारे गंभीर से गंभीर भावों का आलंबन हो सकती है। साहचर्यजन्य प्रेम कितना बलवान् होता है, उसमें प्रवृत्तियों को लीन करने की कितनी शक्ति होती है सब लोग जानते हैं, पर वह असाधारणत्व पर अवलंबित नहीं होता। जिनका हमारा लड़कपन में साथ रहा है, जिन पेड़ों के नीचे, जिन टीलों पर, जिन नदी-नालों के किनारे हम अपने साथियों को लेकर बैठा करते थे उनके प्रति हमारा प्रेम जीवन भर स्थायी होकर बना रहता है। अतः चमत्कारवादियों की यह समझ ठीक नहीं कि जहाँ असाधारणत्व होता है वहीं इसका परिपाक होता है अन्यत्र नहीं।

प्रसंग-प्राप्त साधारण असाधारण सभी वस्तुओं का वर्णन कवि का कर्तव्य है। काव्य-क्षेत्र अजायबखाना या नुमाइशगाह नहीं है। जो सच्चा कवि है उसके द्वारा अंकित साधारण वस्तुएँ भी मन को लीन करनेवाली होती हैं। साधारण के बीच में यथा-स्थान असाधारण की योजना करना सहृदय और कलाकुशल कवि का काम है। साधारण असाधारण अनेक वस्तुओं के मेल से एक विस्तृत पूर्ण चित्र संघटित करनेवाले ही कवि कहे जाने के अधिकारी हैं। साधारण के बीच में ही असाधारण की प्रकृत अभिव्यक्ति हो सकती है। साधारण से ही असाधारण की सत्ता है, केवल असाधारण ही असाधारण साधारण हो जाता है। अतः केवल वस्तु के असाधारणत्व या व्यंजन-प्रणाली के असाधारणत्व में ही काव्य समझ बैठना अच्छी समझदारी नहीं।[१]

इसी प्रकार की एकांगदर्शिता के कारण कवि के कर्मक्षेत्र से सहृदयता धक्के देकर निकाल दी गई और कवि का कर्मक्षेत्र जीवन के कर्मक्षेत्र से काटा जाने लगा। फालतू कल्पना और फालतू बुद्धि—जो संसार के किसी काम की न ठहरीं—कविता के मैदान में दखल जमाने लगीं। जो कल्पना घर के प्राणियों तक के दुःख को इस रूप में न उपस्थित कर सकी कि हृदय द्रवीभूत होने का कुछ अभ्यास प्राप्त करता, उसे उस क्षेत्र में घुसने की राह क्या खुल खेलने के लिये मैदान मिल गया, जिसमें विश्व की अनुभूति को प्रत्यक्ष करनेवाली महती कल्पनाएँ अपना विकास दिखाती आती थीं। एक कविजी किसी राजा के सुयश की फैलती हुई सफेदी से घबराकर कहते हैं—

---

१ [देखिए 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य,' चिंतामणि दूसरा भाग, पृष्ठ ६।]

यथा यथा ते सुयशोऽभिवर्द्धते सितां त्रिलोकीमिव कर्तुमुद्यतम् ।
तथा तथा मे हृदयं विदूयते प्रियालकालीधवलत्वशङ्कया ॥

—[भोज-प्रबंध, श्लोक ८६]

भला कहिए तो यह किसी हृदय की वास्तविक अनुभूति हो सकती है ? श्रोता के हृदय पर इस उक्ति का कोई गहरा प्रभाव पड़ सकता है ? क्या यश की शुक्लता का अनुभव चूने की कलई के रूप में ही हुआ करता है ? इस प्रकार बातें बनाने को लोग कविता समझने लगे। फिर तो कविता सिर्फ एक मजाक की चीज या शब्दचातुरी मात्र रह गई। 'सखुनसंज'[1] और 'शायर' एक ही चिड़िया का नाम समझनेवाले मुसलमानों के आने पर यह धारणा और भी जड़ पकड़ गई। पर जो सहृदय हैं वे 'सूक्ति' और 'कविता' को एक ही चीज नहीं समझ सकते। 'सुभाषित' और 'भोजप्रबंध' की सब सूक्तियाँ कविता नहीं कहला सकतीं। हाँ, भावों का उद्रेक करनेवाली रस-सूक्ति को अवश्य कविता कह सकते हैं।

इस प्रकार अनुभूति को जवाब मिल जाने पर जब कल्पना ही का सहारा रह गया, तब 'स्वतःसंभवी वस्तु'[2] की अपेक्षा 'कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु'[3] की ओर कवियों का ध्यान अधिक रहने लगा। उत्प्रेक्षा की भरमार रहने लगी—वस्तु और व्यापार का सूक्ष्म निरीक्षण न रह गया। यहाँ पर यह विचार करना

---

१ [वचनविदग्ध, बात समझनेवाला।]

२ [काव्य के अतिरिक्त लोक में भी दिखाई पड़नेवाले घट, पट आदि पदार्थ।]

३ [कवि की वचन-विदग्धता से कल्पित पदार्थ जो बाहर नहीं दिखाई देते, जैसे कीर्ति का रंग उज्ज्वल मानना आदि।]

आवश्यक हुआ कि काव्य में कल्पना का स्थान क्या है और उसका उपयोग क्या है क्योंकि कुछ लोग काव्य को कल्पना की क्रीड़ा मात्र मान उसे पढ़े लिखों की गपबाजी कहा करते हैं।

काव्य का आभ्यंतर स्वरूप या आत्मा भाव या रस है। अलंकार उसके बाह्य स्वरूप हैं। दोनों में कल्पना का काम पड़ता है। जिस प्रकार विभाव अनुभाव में हम उसका प्रयोग पाते हैं उसी प्रकार रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में भी। जब कि रस ही काव्य में प्रधान वस्तु है तब उसके संयोजकों में जो कल्पना का प्रयोग होता है वही आवश्यक और प्रधान ठहरा। रस का आधार खड़ा करनेवाला जो विभावन व्यापार है कल्पना का प्रधान कर्मक्षेत्र वही है। पर वहाँ उसे अनुभूति वा रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर कार्य करना पड़ता है। उसे ऐसे स्वरूप खड़े करने पड़ते हैं जिनके द्वारा रति, हास, शोक, क्रोध, घृणा आदि स्वयं अनुभव करने के कारण कवि जानता है कि श्रोता भी अनुभव करेंगे। अपनी अनुभूति की व्यापकता के कारण मनुष्यमात्र की अनुभूति को तथा उसके विषयों को अपने हृदय में रखनेवाले ही ऐसे स्वरूपों को अपने मन में ला सकते हैं।[१]

---

१ [मिलाइए 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य,' चिंतामणि, दूसरा भाग, पृ० २]

विभाव

विभाव

कवि-कर्म-विधान के दो पक्ष होते हैं—विभाव-पक्ष और भाव-पक्ष। कवि एक ओर तो ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को और जमाने में समर्थ होती हैं और दूसरी ओर उन वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है। एक विभाव-पक्ष है, दूसरा भाव-पक्ष। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य में ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं, अतः दोनों रहते हैं। जहाँ एक ही पक्ष का वर्णन रहता है वहाँ भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप में रहता है। जैसे, नायिका के रूप या नखशिख का कोरा वर्णन में तो उसमें भी आश्रय का रति-भाव अव्यक्त रूप में वर्तमान रहता है। पर काव्य में विभाव ही मुख्य है। भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का सबसे पहला और सबसे आवश्यक काम है। जैसा पहले कहा जा चुका है, इसके अंतर्गत दो पक्ष होते हैं—

(१) आलंबन (भाव का विषय)

(२) आश्रय (भाव का अनुभव करनेवाला)

इनमें से प्रथम तो मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है। किंतु दूसरा हृदय-संपन्न मनुष्य ही होता है। प्राचीन कविगण इन दोनों का स्वरूप प्रतिष्ठित करने में—इनका बिंब-ग्रहण कराने में—कल्पना का पूरा पूरा उपयोग करते थे। वाल्मीकीय रामायण को मैं आर्यकाव्य का आदर्श मानता हूँ। उसमें राम के रूप, गुण, शील, स्वभाव तथा रावण की विरूपता, अनीति, अत्याचार आदि का पूरा चित्रण तो मिलता ही है, साथ ही अयोध्या, चित्रकूट, दंडकारण्य आदि का चित्र भी पूरे ब्योरे के साथ सामने आता है। इन स्थलों के वर्णन में हमें हाट, बाट, वन, पर्वत, नदी, निर्झर, ग्राम, जनपद, इत्यादि न जाने कितने पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण मिलता है।

साहित्य के आचार्यों की दृष्टि में वन, उपवन, ऋतु आदि शृंगार के 'उद्दीपन' मात्र हैं; वे केवल नायक या नायिका को हँसाने या रुलाने के लिये हैं। जब यही बात है तब फिर इनका संश्लिष्ट चित्रण करके श्रोता को 'बिंब-ग्रहण' कराने से क्या प्रयोजन? उनके नाम गिनाकर अर्थ-ग्रहण करा दिया; बस, हो गया। पर सोचने की बात है कि क्या प्राचीन कवियों ने इनका वर्णन इसी रूप में किया है? क्या विश्वहृदय वाल्मीकि ने वनों और नदियों आदि का वर्णन इसी उद्देश्य से किया है? क्या महाकवि कालिदास ने 'कुमारसंभव' के आरंभ में ही हिमालय का जो विशद वर्णन किया है वह केवल शृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से? कभी नहीं। ये वर्णन पहले तो प्रसंग-प्राप्त हैं, अर्थात् आलंबन की परिस्थिति को अंकित करनेवाले हैं। इनके बिना आश्रय और आलंबन शून्य में खड़े मालूम होते हैं। इस पर यों गौर कीजिए। राम और लक्ष्मण के दो चित्र आपके सामने हैं।

एक में केवल दो मूर्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और दूसरे में पयस्विनी के द्रुम-लताच्छादित तट पर पर्ण-कुटी के सामने दोनों भाई बैठे हैं। इनमें से दूसरा चित्र परिस्थिति को लिए हुए है, इससे उसमें हमारे भावों के लिये अधिक विस्तृत आलंबन है। हमारी परिस्थिति हमारे जीवन का आलंबन है, अतः उपचार से वह हमारे भावों का भी आलंबन है। उसी परिस्थिति में—उसी संसार में—उन्हीं दृश्यों के बीच जिनमें हम रहते हैं, राम-लक्ष्मण को पाकर हम उनके साथ तादात्म्य-संबंध का अधिक अनुभव करते हैं, जिससे 'साधारणीकरण' पूरा पूरा होता है।

पर प्राकृतिक वर्णन केवल अंग-रूप से ही हमारे भावों के आलंबन नहीं है, स्वतंत्र रूप में भी है। जिन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे और अब भी मनुष्यजाति का अधिकांश (जो नगरों में नहीं आ गया है) अपनी आयु व्यतीत करता है, उनके प्रति प्रेम-भाव पूर्व-साहचर्य के प्रभाव से संस्कार या वासना के रूप में हमारे अंतःकरण में निहित है। उनके दर्शन या काव्य आदि में प्रदर्शन से हमारी भीतरी प्रकृति का जो अनुरंजन होता है वह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस अनुरंजन को केवल किसी दूसरे भाव का आश्रित या उत्तेजक कहना अपनी जड़ता का ढिंढोरा पीटना है। जो प्राकृतिक दृश्यों को केवल कामोद्दीपन की सामग्री समझते हैं उनकी रुचि भ्रष्ट हो गई है और संस्कार-सापेक्ष है। मैंने पहाड़ों पर या जंगलों में घूमते समय बहुत से ऐसे साधु देखे हैं जो लहराते हुए हरे भरे जंगलों, स्वच्छ शिलाओं पर चाँदी से ढलते हुए झरनों, चौकड़ी भरते हुए हिरनों और जल को झुककर चूमती हुई डालियों पर कलरव कर रहे विहंगों को देख मुग्ध हो गए हैं। काले मेघ जब

अपनी छाया डालकर चित्रकूट के पर्वतों को नीलवर्ण कर देते हैं तब नाचते हुए नीलकंठों (मोरों) को देखकर सभ्यताभिमान के कारण शरीर चाहे न नाचे, पर मन अवश्य नाचने लगता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसे दृश्यों को देखकर हर्ष होता है। हर्ष एक संचारी भाव है। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि उसके मूल में रति-भाव वर्तमान है और वह रति-भाव उन दृश्यों के प्रति है।

रीति-ग्रंथों की बदौलत रस-दृष्टि परिमित हो जाने से उसके संयोजक विषयों में से कुछ तो 'उद्दीपन' में डाल दिए गए और कुछ 'भाव-क्षेत्र' से ही निकाले जाकर 'अलंकार' के हाते में हाँक दिए गए। इसी व्यवस्था के अनुसार वस्तुओं के स्वाभाविक रूप और क्रिया का वर्णन 'स्वभावोक्ति' अलंकार हो गया; जैसे, लड़कों का खेलना, चीते का पूँछ पटककर झपटना, हाथी का गंडस्थल रगड़ना इत्यादि। पर मैं इन्हें प्रस्तुत विषय मानता हूँ; जिन पर अप्रस्तुत विषयों का उत्प्रेक्षा आदि द्वारा आरोप हो सकता है। वात्सल्य रति-भाव के प्रदर्शन में यदि बच्चे की क्रीड़ा का वर्णन हो तो क्या वह अलंकार मात्र होगा? प्रस्तुत वर्ण्य विषय अलंकार नहीं कहा जा सकता। वह स्वयं रस के संयोजकों में से है; उसकी शोभा मात्र बढ़ानेवाला नहीं। मैं अलंकार को केवल वर्णन-प्रणाली मात्र मानता हूँ; जिसके अंतर्गत करके किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं। इस दृष्टि से कई अलंकार ऐसे हैं जिन्हें अलंकार न कहना चाहिए; जैसे स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति से भिन्न अत्युक्ति, उदात्त इत्यादि। सारांश यह कि स्वभावोक्ति अलंकार नहीं है और इसीसे उसका ठीक ठीक लक्षण भी नहीं स्थिर हो

सका। कुछ लोग 'अलंकार' का बहुत व्यापक अर्थ लेने लगे हैं। इन सब बातों का विस्तृत विवेचन फिर कभी किया जायगा।[1]

मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक संबंध का विच्छेद करने से अपने आनंद की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिये मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेकरूपात्मक क्षेत्र मिला है उसी प्रकार 'भावों' (मन के वेगों) की व्याप्ति के लिये भी। अब यदि आलस्य या प्रमाद के कारण मनुष्य इस द्वितीय क्षेत्र को संकुचित कर लेगा तो उसका आनंद पशुओं के आनंद से विशाल किसी प्रकार नहीं कहा जा सकेगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर, पशु, पक्षी, खेत, बारी इत्यादि के प्रति हमारा प्रेम स्वाभाविक है, या कम से कम वासना के रूप में अंतःकरण में निहित है।

पर प्रेम की प्रतिष्ठा दो प्रकार से होती है—(१) सुंदर रूप के अनुभव द्वारा और (२) साहचर्य द्वारा। सुंदर रूप के आधार पर जो प्रेम-भाव या लोभ (मेरे मानस-कोश में दोनों का अर्थ प्रायः एक ही निकलता है) प्रतिष्ठित होता है उसका हेतु संलक्ष्य होता है; और जो केवल साहचर्य के प्रभाव से अंकुरित और पल्लवित होता है वह एक प्रकार से हेतु-ज्ञान-शून्य होता है। यदि हम किसी किसान को उसकी झोपड़ी से हटाकर किसी दूर देश में ले जाकर राजभवन में टिका दें तो वह उस झोपड़ी का, उसके छप्पर पर चढ़ी हुई कुम्हड़े की बेल का, सामने के नीम के पेड़ का, द्वार पर बँधे हुए चौपायों का ध्यान करके आँसू बहाएगा। वह यह कभी नहीं समझता कि मेरा झोपड़ा इस राजभवन से सुंदर था; परंतु फिर भी झोपड़े का प्रेम उसके हृदय में बना हुआ

१ [देखिए ऊपर पृष्ठ ४६-५०।]

है। यह प्रेम रूप-सौंदर्यगत नहीं है; सच्चा स्वाभाविक और हेतु-ज्ञान-शून्य प्रेम है। इस प्रेम को रूप-सौंदर्यगत प्रेम नहीं पहुँच सकता।

इससे यह स्पष्ट है कि अपने सुख-विलास के अथवा शोभा और सजावट की अपनी रचनाओं के आदर्श को लेकर जो प्रकृति के क्षेत्र का अवलोकन करते हैं और अपना प्रेमानंद केवल इन शब्दों में प्रकट करते हैं कि— 'अहाहा ! कैसे लाल-पीले और सुंदर फूल खिले हैं, पेड़ किस प्रकार यहाँ से वहाँ तक एक पंक्ति में चले गए हैं, लताओं का कैसा सुंदर मंडप सा बन गया है, कैसी शीतल, मंद, सुगंध हवा चल रही है' उनका प्रेम कोई प्रेम नहीं--उसे अधूरा समझना चाहिए। वे प्रकृति के सच्चे उपासक नहीं। वे तमाशबीन हैं, और केवल अनोखापन, सजावट या चमत्कार देखने निकलते हैं। उनका हृदय मनुष्यप्रवर्तित व्यापारों में पड़कर इतना कुंठित हो गया है कि उसमें उन सामान्य प्राकृतिक परिस्थितियों में जिनमें, अत्यंत आदिम कल्प में मनुष्यजाति ने अपना जीवन व्यतीत किया था तथा उन प्राचीन मानव-व्यापारों में जिनमें वन्य दशा से निकलकर वह अपने निर्वाह और रक्षा के लिये लगी, लीन होने की वृत्ति दब गई अथवा यों कहिए कि उनमें करोड़ों पीढ़ियों को पार करके आनेवाली अंतरसंज्ञावर्तिनी वह अव्यक्त स्मृति नहीं रह गई जिसे वासना या संस्कार कहते हैं। वे तड़क-भड़क, सजावट, रंगों की चमक-दमक, कलाओं की बारीकी पर भले ही मुग्ध हो सकते हों, पर सच्चे सहृदय नहीं कहे जा सकते।

कँकरीले टीलों, ऊसर पटपरों, पहाड़ के ऊबड़-खाबड़ किनारों या बबूल-करौंदे के झाड़ों में क्या आकर्षित करनेवाली कोई बात

नहीं होती ? जो फारस की चाल के बगीचों के गोल चौखूँटे कटाव, सीधी सीधी रविशें, मेहँदी के बने भद्दे हाथी-घोड़े, काट-छाँटकर सुडौल किए हुए सरो के पेड़ों की कतारें, एक पंक्ति में फूले हुए गुलाब आदि देखकर ही वाह वाह करना जानते हैं उनका साथ सच्चे भावुक सहृदयों को वैसा ही दुःखदायी होगा जैसा सज्जनों को खलों का। हमारे प्राचीन पूर्वज भी उपवन और वाटिकाएँ लगाते थे। पर उनका आदर्श कुछ और था। उनका आदर्श वही था जो अब तक चीन और योरप में थोड़ा बहुत बना हुआ है। आजकल के पार्कों में हम भारतीय आदर्श की छाया पाते हैं। हमारे यहाँ के उपवन वन के प्रतिरूप ही होते थे। जो वनों में जाकर प्रकृति का शुद्ध स्वरूप और उसकी स्वच्छंद क्रीड़ा नहीं देख सकते थे वे उपवनों में ही जाकर उसका थोड़ा बहुत अनुभव कर लेते थे। वे सर्वत्र अपने को ही नहीं देखना चाहते थे। पेड़ों को मनुष्य की कवायद करते देखकर ही जो मनुष्य प्रसन्न होते हैं वे अपना ही रूप सर्वत्र देखना चाहते हैं; अहंकार-वश अपने से बाहर प्रकृति की ओर देखने की इच्छा नहीं करते।

काव्य का जो चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है (दर्शन के समान केवल ज्ञान कराना नहीं) उसके साधन में भी अहंकार का त्याग आवश्यक है। जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटेगा तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते। खेद है कि फारस की उस महफिली शायरी का कुसंस्कार भारतीयों के हृदय में भी इधर बहुत दिनों से जम रहा है जिसमें चमन, गुल, बुलबुल, लाला, नरगिस आदि का ही कुछ वर्णन विलास की सामग्री के रूप में होता है—कोह, बयाबान आदि का उल्लेख किसी भारी विपत्ति या दुर्दिन के ही प्रसंग में मिलता है। फारस में क्या और पेड़-पौदे

नहीं होते ? पर उनसे वहाँ के शायरों को कोई मतलब नहीं। अलबुर्ज जैसे सुंदर पहाड़ का विशद वर्णन किस फारसी काव्य में है? पर इधर वाल्मीकि को देखिए। उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में केवल मंजरियों से छाए हुए रसालों, सुरभित सुमनों से लदी हुई मालती-लताओं, मकरंद-पराग-पूरित सरोजों का ही वर्णन नहीं किया; इंगुदी, अंकोट, तेंदू, बबूल और बहेड़े आदि जंगली पेड़ों का भी पूर्ण तल्लीनता के साथ वर्णन किया है। इसी प्रकार योरप के कवियों ने भी अपने गाँव के पास से बहते हुए नाले के किनारे उगनेवाली झाड़ी या घास तक का नाम आँखों में आँसू भरकर लिया है[1]। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य को उसके व्यापार-गर्त से बाहर प्रकृति के विशाल और विस्तृत क्षेत्र में ले जाने की शक्ति फारस की परिमित काव्य-पद्धति में नहीं है— भारत और योरप की पद्धति में है।

स्वाभाविक सहृदयता केवल अद्भुत, अनूठी, चमत्कारपूर्ण, विशद या असाधारण वस्तुओं पर मुग्ध होने में ही नहीं है। जितने आदमी भेंड़ाघाट, गुलमर्ग आदि देखने जाते हैं वे सब प्रकृति के सच्चे आराधक नहीं होते; अधिकांश केवल तमाशबीन होते हैं। केवल असाधारणत्व के साक्षात्कार की यह रुचि स्थूल और भद्दी है, और हृदय के गहरे तलों से संबंध नहीं रखती। जिस रुचि से प्रेरित होकर लोग आतशबाजी, जलूस वगैरह देखने दौड़ते हैं यह वही रुचि है। काव्य में इसी असाधारणत्व और चमत्कार की ओछी रुचि के कारण बहुत से लोग अतिशयोक्तिपूर्ण अशक्त वाक्यों में ही काव्यत्व समझने लगे। कोई बिहारी के विरह-वर्णन पर सिर हिलाता है, कोई 'यार' की कमर गायब होने पर वाह-

---

१ [देखिए वर्ड्स्वर्थ की 'एडमॉनीशन टु ए ट्रैवेलर' शीर्षक कविता।]

चाह करता है। कालिदास ने अत्यंत प्राकृतिक ढंग से रथ को धूल के आगे निकाला[1] तो भूषण ने घोड़े को छोड़े हुए तीर से एक तीर आगे कर दिया[2]। पर मुबालगा जहाँ हद से ज्यादा बढ़ा कि मजाक हुआ। खेद है कि उर्दू की शायरी ऐसे ही मजाक की सूरत में आ गई।

सारांश यह कि केवल असाधारणत्व-दर्शन की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। शोभा और सौंदर्य की भावना के साथ साथ जिनमें मनुष्यजाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंशपरंपरागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है, जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय कहे जा सकते हैं। पहले कह आए हैं कि वन्य और ग्रामीण दोनों प्रकार के जीवन प्राचीन हैं, दोनों पेड़-पौदों, पशु-पक्षियों, नदी-नालों और पर्वत-मैदानों के बीच व्यतीत होते हैं, अतः प्रकृति के अधिक रूपों के साथ संबंध रखते हैं। हम पेड़-पौदों और पशु-पक्षियों से संबंध तोड़कर नगरों में आ बसे; पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रखकर एक घेरे में बंद करते हैं, और कभी कभी मन बहलाने को उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों पर सुख से सोते हैं—

---

१ [मुक्तोद्धृतैरपि रजोभिरलङ्घनीया धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः।

— अभिज्ञानशाकुन्तल, १।८]

२ [जिन चढ़ि आगे कों चलाइत तीर,

तीर एक भरि तऊ तीर पीछे ही परत हैं।

— शिवभूषण, २७२।]

तां कस्याञ्चिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः ।
—[मेघदूत, पूर्वमेघ, ४२ ।]

गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याऊँ-म्याऊँ करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं और वासुदेवजी कभी कभी दीवार फोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुरखी-चूने की कड़ाई की परवा न करके हरी हरी घास पुरानी छत पर निकल पड़ती है तब मुझे उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों हमें ढूँढ़ती हुई आती है और कहती है कि तुम मुझसे क्यों दूर दूर भागे फिरते हो ?

वनों, पर्वतों, नदी-नालों, कछारों, पटपरों, खेतों, खेतों की नालियों, घास के बीच से गई हुई ढुर्रियों, हल-बैलों, झोपड़ों और श्रम में लगे हुए किसानों इत्यादि में जो आकर्षण हमारे लिये है वह हमारे अंतःकरण में निहित वासना के कारण है, असाधारण चमत्कार या अपूर्व शोभा के कारण नहीं। जो केवल पावस की हरियाली और वसंत के पुष्प-हास के समय ही वनों और खेतों को देखकर प्रसन्न हो सकते हैं, जिन्हें केवल मंजरी-मंडित रसालों, प्रफुल्ल कदंबों और सघन मालती-कुंजों का ही दर्शन प्रिय लगता है, ग्रीष्म के खुले हुए पटपर, खेत और मैदान, शिशिर की पत्र-विहीन नंगी वृक्षावली और झाड़-बबूल आदि जिनके हृदय को कुछ भी स्पर्श नहीं करते उनकी प्रवृत्ति राजसी समझनी चाहिए। वे केवल अपने विलास या सुख की सामग्री प्रकृति में ढूँढ़ते हैं। उनमें उस 'सत्त्व' की कमी है जो सत्ता-मात्र के साथ एकीकरण की अनुभूति द्वारा लीन करके आत्मसत्ता के विभुत्व का आभास देती है। संपूर्ण सत्ता, क्या

भौतिक क्या आध्यात्मिक, एक ही परम सत्ता या परम भाव के अंतर्गत है, अतः ज्ञान या तर्क-बुद्धि द्वारा हम जिस अद्वैत भाव तक पहुँचते हैं उसी भाव तक इस 'सत्त्व' गुण के बल पर हमारी रागात्मिका वृत्ति भी पहुँचती है। इस प्रकार अंततः दोनों वृत्तियों का समन्वय हो जाता है। यदि हम ज्ञान द्वारा सर्वभूत को आत्मवत् जान सकते हैं तो रागात्मिका वृत्ति द्वारा उसका अनुभव भी कर सकते हैं। तर्क-बुद्धि से हारकर परम ज्ञानी भी इस 'स्वानुभूति' का आश्रय लेते हैं। अतः परमार्थ दृष्टि से दर्शन और काव्य दोनों अंतःकरण की भिन्न भिन्न वृत्तियों का आश्रय लेकर एक ही लक्ष्य की ओर ले जानेवाले हैं। इस व्यापक दृष्टि से काव्य का विवेचन करने से लक्षण-ग्रंथों में निर्दिष्ट संकीर्णता कहीं कहीं बहुत खटकती है। वन, उपवन, चाँदनी इत्यादि को दांपत्य रति के उद्दीपन मात्र मानने से संतोष नहीं होता।

पहले कहा जा चुका है कि रस के संयोजक जो विभाव आदि हैं वे ही कल्पना के प्रधान क्षेत्र हैं। कवि की कल्पना का पूर्ण विकास उन्हीं में देखना चाहिए। पर वहाँ कल्पना को कवि की अनुभूति के आदेश पर चलना पड़ता है, उसकी श्रेष्ठता कवि की सहृदयता से संबंध रखती है, अतः उस कृत्रिमता के काल में जिसमें कविता केवल अभ्यास-गम्य समझी जाने लगी, कल्पना का प्रयोग काव्य का प्रकृत स्वरूप संघटित करने में कम होकर अलंकार आदि बाह्य आडंबर फैलाने में अधिक होने लगा। पर विभावन द्वारा जब वस्तु-प्रतिष्ठा पूर्ण रूप से हो ले तब आगे और कुछ होना चाहिए। विभाव वस्तु-चित्रमय होता है; अतः जहाँ वस्तु श्रोता या पाठक के भावों का आलंबन होती है वहाँ अकेला उसका पूर्ण चित्रण ही काव्य कहलाने में समर्थ हो सकता है। पिछले कवियों में इस वस्तु-चित्र का विस्तार क्रमशः

कम होता गया। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि सच्चे कवियों की कल्पना ऐसे रूपों की योजना करने में, ऐसी वस्तुएँ इकट्ठी करने में प्रयुक्त होती थी जिनसे किसी स्थल का चित्र पूरा होता था, और जो श्रोता के भाव का स्वयं आलंबन होती थीं। वे जिन दृश्यों को अंकित कर गए हैं उनके ऐसे व्योरों को उन्होंने सामने रखा है जिनसे एक भरा-पूरा चित्र सामने आता है। ऐसे दृश्य अंकित करने के लिये प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की आवश्यकता होती है; उसके स्वरूप में इस प्रकार तल्लीन होना पड़ता है कि एक एक व्योरे पर ध्यान जाय। उन्हें इस बात का अनुभव रहता था कि कल्पना के सहारे चित्र के भीतर एक एक वस्तु और व्यापार का संश्लिष्ट रूप में भरना जितना जरूरी है उतना उपमा आदि ढूँढ़ना नहीं। इसी से उनके चित्र भरे-पूरे हैं, और इधर के कवियों ने जहाँ परंपरा-पालन के लिये ऐसे चित्र खींचे भी हैं वहाँ वे पूर्ण चित्र क्या, चित्र भी नहीं हुए हैं। उनके चित्र (यदि चित्र कहे जा सकें) ऐसे ही हुए हैं जैसा किसी चित्रकार का अधूरा छोड़ा हुआ चित्र; जिसमें कहीं एक रेखा यहाँ लगी है, कहीं वहाँ—कहीं कुछ रंग भरा जा सका है, कहीं जगह खाली है। चित्रकला के प्रयोग द्वारा इस बात की परीक्षा हो सकती है। वाल्मीकि के वर्षा-वर्णन को लीजिए और जो जो वस्तुएँ आती जायँ उनकी आकृति ऐसी सावधानी से अंकित करते चलिए कि कोई वस्तु छूटने न पावे [देखिए चित्र संख्या १]। अब गोस्वामी तुलसीदासजी का भागवत से लिया गया वर्षा-वर्णन लेकर ऐसा ही कीजिए, ऐसा करने से यह चित्र बना [देखिए चित्र संख्या २]। और दोनों चित्रों को इस बात का ध्यान रखकर मिलाइए कि ये किष्किंधा की पर्वत-स्थली के चित्र हैं।



चित्र संख्या १



चित्र संख्या २

इस वर्णन में यह स्पष्ट लक्षित होता है कि कवि को दृश्य की एक एक सूक्ष्म वस्तु और व्यापार प्रत्यक्ष करके चित्र पूरा करने की उतनी चिंता नहीं है जितनी कि अद्भुत अद्भुत उपमाओं आदि के द्वारा एक कौतुक खड़ा करने की। पर काव्य कौतुक नहीं है, उसका उद्देश्य गंभीर है।

पाश्चात्य काव्य-समीक्षक किसी वर्णन के ज्ञातृ-पक्ष (Subjective) और ज्ञेय-पक्ष (Objective)—अथवा विषयि-पक्ष और विषय-पक्ष—दो पक्ष लिया करते हैं। जो वस्तुएँ बाह्य प्रकृति में हम देख रहे हैं उनका चित्रण ज्ञेय-पक्ष के अंतर्गत हुआ, और उन वस्तुओं के प्रभाव से हमारे चित्त में जो भाव या आभास उत्पन्न हो रहे हैं वे ज्ञातृ-पक्ष के अंतर्गत हुए। अतः उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के आधिक्य के पक्षपाती कह सकते हैं कि पिछले कवियों के दृश्य-वर्णन ज्ञातृ-पक्ष-प्रधान हैं। ठीक है; पर वस्तु-विन्यास प्रधान कार्य है। यदि वह अच्छी तरह बन पड़ा तो पाठक के हृदय में दृश्य के सौंदर्य, भीषणता, विशालता इत्यादि का अनुभव थोड़ा बहुत आप से आप होगा। वस्तुओं के संबंध में इन भावों का ठीक ठीक अनुभव करने में सहारा देने के लिये कवि कहीं बीच बीच में अपने अंतःकरण की भी झलक दिखाता चले तो यहाँ तक ठीक है। यह झलक दो प्रकार की हो सकती है—भावमय और अपर-वस्तुमय। जैसे, किसी ने कहा—'तालाब के उस किनारे पर खिले कमल कैसे मनोहर लगते हैं!'। यहाँ कमलों के दर्शन से सौंदर्य का

सूर्य के उदय होने से पहले ही सूर्य के साथी अरुण ने सारा अंधकार दूर कर दिया; वैरियों को नष्ट करनेवाले स्वामियों के आगे चलनेवाला सेवक भी शत्रुओं को मार भगाने में समर्थ होता है।

जो भाव चित्त में उदित हुआ वह वाच्य द्वारा स्पष्ट कह दिया गया। यही बात यदि यों कही जाय कि 'तालाब के उस किनारे पर खिले कमल ऐसे लगते हैं मानों प्रभात के गगन-तट पर की ललाई' तो सौंदर्य का भाव स्पष्ट न कहा जाकर दूसरी ऐसी वस्तु सामने ला दी गई जिसके साथ भी वैसे ही सौंदर्य का भाव लगा हुआ है। एक में भाव वाच्य द्वारा प्रकट किया गया दूसरे में अलंकार-रूप व्यंग्य द्वारा। इससे स्पष्ट है कि दृश्य-वर्णन करते समय कवि उपमा, उत्प्रेक्षा आदि द्वारा वर्ण्य वस्तुओं के मेल में जो दूसरी वस्तुएँ रखता है सो केवल भाव को तीव्र करने के लिये। अतः वे दूसरी वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिए जिनसे प्रायः सब मनुष्यों के चित्त में वे ही भाव उदित होते हों जो वर्ण्य वस्तुओं से होते हैं। यों ही खिलवाड़ के लिये बार बार प्रसंग-प्राप्त वस्तुओं से श्रोता या पाठक का ध्यान हटाकर दूसरी वस्तुओं की ओर ले जाना, जो प्रसंगानुकूल भाव उद्दीप्त करने में भी सहायक नहीं काव्य के गांभीर्य और गौरव को नष्ट करना है, उसकी मर्यादा बिगाड़ना है। इसी प्रकार बात बात में 'अहाहा! कैसा मनोहर है! कैसा आह्लादजनक है!' ऐसे भावोद्गार भी भद्देपन से खाली नहीं, और काव्य-शिष्टता के विरुद्ध हैं। तात्पर्य यह कि भावों की अनुभूति में सहायता देने के लिये केवल कहीं कहीं उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग उतना ही उचित है जितने से बिंब ग्रहण करने में, दृश्य का चित्र हृदयंगम करने में, श्रोता या पाठक को बाधा न पड़े।

जहाँ एक व्यापार के मेल में दूसरा व्यापार रखा जाता है वहाँ या तो (क) प्रथम व्यापार से उत्पन्न भाव को अधिक तीव्र करना होता है; जैसे, हिलती हुई मंजरियाँ मानों भौंरों को पास

बुला रही हैं ; अथवा (ख) द्वितीय व्यापार का सृष्टि के बीच एक गोचर प्रतिरूप दिखाना ; जैसे—

"बुंद-अघात सहैं गिरि कैसे ? खल के बचन संत सह जैसे।"

दूसरी अवस्था में प्रस्तुत दृश्य स्वयं सृष्टि या जीवन के किसी रहस्य का गोचर प्रतिबिंबवत् हो जाता है। अतः उस प्रतिबिंब का प्रतिबिंब ग्रहण करने में कल्पना उत्साह नहीं दिखाती। इसी से जहाँ दृश्य-चित्रण इष्ट होता है वहाँ के लिये यह अवस्था अनुकूल नहीं होती।

वाल्मीकिजी भी बीच बीच में उपमाएँ देते गए हैं ; पर उससे उनके सूक्ष्म-निरीक्षण में कसर नहीं आने पाई है। वर्षा में पर्वत की गेरू से मिलकर नदियों की धारा का लाल होकर बहना, पर्वत के ऊपर से पानी की मोटी धारा का काली शिलाओं पर गिरकर छितराना, पेड़ों पर गिरे वर्षा के जल का पत्तियों की नोकों पर से बूँद बूँद टपकना और पक्षियों का उसे पीना, हेमंत में कमलों के नाल मात्र का खड़ा रहना और उसके छोर पर केसर का छितराना, ऐसे ऐसे व्यापारों को वह सामने लाते चले गए हैं। सुंदरकांड के पाँचवें सर्ग में जो छोटा सा 'चंद्रनामा' है वह इसके विरोध में नहीं उपस्थित किया जा सकता ; क्योंकि वह एक प्रकार की स्तुति या वर्णन-मात्र है। वहाँ कोई दृश्य-चित्रण नहीं है।

विषयी या ज्ञाता अपने चारों ओर उपस्थित वस्तुओं को कभी कभी किस प्रकार अपने तत्कालीन भावों के रंग में देखता है इसका जैसा सुंदर उदाहरण आदिकवि ने दिया है वह वैसा अन्यत्र कहीं कदाचित् ही मिले। पंचवटी में आश्रम बनाकर हेमंत मे जब लक्ष्मण एक एक वस्तु और प्राकृतिक व्यापार का

निरीक्षण करने लगे उस समय पाले से धुँधली पड़ी हुई चाँदनी उन्हें ऐसी दिखाई पड़ी जैसी धूप से साँवली पड़ी हुई सीता—

ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते॥

इसी प्रकार सुग्रीव को राज्य देकर माल्यवान् पर्वत पर निवास करते हुए, सीता के विरह में व्याकुल, भगवान् रामचंद्र को वर्षा आने पर ग्रीष्म की धूप से संतप्त पृथ्वी जल से पूर्ण होकर सीता के समान आँसू बहाती हुई दिखाई देती है, काले काले बादलों के बीच में चमकती हुई बिजली रावण की गोद में छटपटाती हुई वैदेही के समान दिखाई पड़ती है और फूले हुए अर्जुन के वृक्षों से युक्त तथा केतकी से सुगंधित शैल ऐसा लगता है जैसे शत्रु से रहित होकर सुग्रीव अभिषेक की जलधारा से सींचा जाता हो। यथा—

एषा घर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता।
सीतेव शोकसन्तप्ता मही वाष्पं विमुञ्चति॥
नीलमेघाश्रिता विद्युत्स्फुरन्ती प्रतिभाति माम्।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेहीव तपस्विनी॥
एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकीरधिवासितः।
सुग्रीव इव शान्तारिर्धाराभिरभिषिच्यते॥

ऐसा अनुमान होता है कि कालिदास के समय से, या उसके कुछ पहले ही से, दृश्य-वर्णन के संबंध में कवियों ने दो मार्ग निकाले। स्थल-वर्णन में तो वस्तु-वर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनों तक वैसी ही बनी रही, पर ऋतु-वर्णन में चित्रण उतना आवश्यक नहीं समझा गया जितना कुछ इनी-गिनी वस्तुओं का कथन मात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन। जान पड़ता है,

ऋतु-वर्णन वैसे ही फुटकर पद्यों के रूप में पढ़े जाने लगे जैसे बारहमासा पढ़ा जाता है। अतः इनमें अनुप्रास और शब्दों के माधुर्य आदि का ध्यान अधिक रहने लगा। कालिदास के ऋतु-संहार और रघुवंश के नवें सर्ग में सन्निविष्ट वसंत-वर्णन से इसका कुछ आभास मिलता है। उक्त वर्णन के श्लोक इस ढंग के हैं—

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्।
इति यथाक्रमयाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्॥

रीति-ग्रंथों के अधिक बनने और प्रचार पाने से क्रमशः यह ढंग जोर पकड़ता गया। प्राकृतिक वस्तु-व्यापार का सूक्ष्म निरीक्षण धीरे धीरे कम होता गया। किस ऋतु में क्या क्या वर्णन करना चाहिए, इसका आधार 'प्रत्यक्ष' अनुभव नहीं रह गया, 'आप्त शब्द' हुआ। वर्षा के वर्णन में जो कदंब, कुटज, इंद्रवधू, मेघ-गर्जन, विद्युत् इत्यादि का नाम लिया जाता रहा वह इसलिये कि भगवान् भरत मुनि की आज्ञा थी—

कदम्बनिम्बकुटजैः शाद्वलैः सेन्द्रगोपकैः।
मेघैर्वातैः सुखस्पर्शैः प्रावृट्काल प्रदर्शयेत्॥

कहना नहीं होगा कि हिंदी के कवियों के हिस्से में यही आया। गिनी गिनाई वस्तुओं के नाम लेकर अर्थ-ग्रहण मात्र कराना अधिकतर उनका काम हुआ, सूक्ष्म रूप-विवरण और आधार-आधेय की संश्लिष्ट योजना के साथ 'बिंब-ग्रहण' कराना नहीं।

ऋतु-वर्णन की यह प्रथा निकल ही रही थी कि कवियों को भी औरों की देखादेखी दंगल का शौक पैदा हुआ। राजसभाओं में ललकार कर टेढ़ी-मेढ़ी विकट समस्याएँ दी जाने लगीं, और कवि लोग उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की अद्भुत अद्भुत उक्तियों द्वारा उनकी पूर्ति करने लगे। ये उक्तियाँ जितनी ही बेसिर-पैर की

होतीं उतनी ही वाहवाही मिलती। काश्मीर के मंखक कवि जब अपना श्रीकंठचरित-काव्य काश्मीर के राजा की सभा में ले गए तब वहाँ कन्नौज के राजा गोविंदचंद्र के दूत सुहल ने उन्हें यह समस्या दी—

एतद्बभ्रुकचानुकारिकिरणं राजद्रुहोऽह्नः शिर-
श्छेदाभं वियतः प्रतीचि निपतत्यब्धौ रवेर्मण्डलम्।

अर्थात् नेवले के बालों के सदृश पीली किरणों को प्रकट करता हुआ सूर्य का यह बिंब, चंद्रमा का द्रोह करनेवाले दिन के कटे हुए सिर के समान, आकाश से पश्चिम-समुद्र में गिरता है (राज=राजा, चंद्रमा)

इसकी पूर्ति मंखक ने इस प्रकार की—

एषापि द्युरमा प्रियानुगमनं प्रोद्दामकाष्ठोत्थिते
सन्ध्याग्नौ विरचय्य तारकमिषाज्जातास्थिशेषस्थितिः॥

अर्थात् दिशाओं में उत्पन्न संध्यारूपी प्रचंड अग्नि में अपने प्रियतम का अनुगमन करके आकाश की श्री (शोभा) भी तारों के बहाने (रूप में) अस्थिशेष हो गई। (काष्ठोत्थिते=काष्ठा+उत्थिते और काष्ठ + उत्थिते। काष्ठा = दिशा; काष्ठ = लकड़ी)। मतलब यह कि सती हो जानेवाली आकाश-श्री की जो हड्डियाँ रह गई वे ही ये तारे हैं।

जो कल्पना पहले भावों और रसों की सामग्री जुटाया करती थी वह बाजीगर का तमाशा करने लगी। होते होते यहाँ तक हुआ कि "पिपीलिका नृत्यति वह्निमध्ये", और "मोम के मंदिर माखन के मुनि बैठे हुतासन आसन मारे" की नौबत आ गई।

कहाँ ऋषि-कवि का पाले से धुँधले चंद्रमा का मुँह की भाप से अंधे दर्पण के साथ मिलान और कहाँ तारे और हड्डियाँ! खैर, यहाँ दोनों का रंग तो सफेद है, और आगे चलकर तो यह

दशा हुई कि दो दो वस्तुओं को लेकर सांग रूपक बाँधते चले जाते हैं, वे किसी बात में परस्पर मिलती-जुलती भी हैं या नहीं इससे कोई मतलब नहीं, सांग रूपक की रस्म तो अदा हो रही है। दूसरी बात विचारने की यह है कि संध्या-समय अस्त होते हुए सूर्य को देख मंखक कवि के हृदय में किसी भाव का उदय हुआ या नहीं, उनके कथन से किसी भाव की व्यंजना होती है या नहीं ? यहाँ अस्त होता हुआ सूर्य 'आलंबन' और कवि ही आश्रय माना जा सकता है। पर मेरे देखने में तो यहाँ कवि का हृदय एकदम तटस्थ है। उससे सारे वर्णन से कोई मतलब ही नहीं। उसमें रति, शोक आदि किसी भाव का पता नहीं लगता। ऐसे पद्यों को काव्य में परिगणित देख यदि कोई "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" की व्याप्ति में संदेह कर बैठे तो उसका क्या दोष ? "ललाई के बीच सूर्य का बिंब समुद्र के छोर पर डूबा और तारे छिटक गए" इतना ही कथन यदि प्रधान होता तो वह दृश्य कवि और श्रोता दोनों के रति-भाव का आलंबन होकर काव्य भी कहला सकता था। पर अलंकार से एकदम आक्रांत होकर वह काव्य का स्वरूप ही खो बैठा। यदि कहिए कि यहाँ अलंकार द्वारा उक्त दृश्य-रूप वस्तु व्यंग्य है तो भी ठीक नहीं ; क्योंकि 'विभाव' व्यंग्य नहीं हुआ करता। 'विभाव' में शब्द द्वारा उन वस्तुओं के स्वरूप की प्रतिष्ठा करनी होती है जो भावों का आश्रय, आलंबन और उद्दीपन होती हैं। जब यह वस्तु-प्रतिष्ठा हो लेती है तब भावों के व्यापार का आरंभ होता है। मुक्तक में जहाँ नायक-नायिका का चित्रण नहीं होता वहाँ उनका ग्रहण 'आक्षेप' द्वारा होता है, व्यंजना द्वारा नहीं।

दृश्य-वर्णन में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का स्थान कितना गौण है इसकी मनोविज्ञान की रीति से भी परीक्षा हो सकती है।

एक पर्वत-स्थली का दृश्य वर्णन करके किसी को सुनाइए। फिर महीने दो महीने पीछे उससे उसी दृश्य का कुछ वर्णन करने के लिये कहिए। आप देखेंगे कि उस संपूर्ण दृश्य की सुसंगत योजना करनेवाली वस्तुओं और व्यापारों में से शायद ही किसी का उसे स्मरण हो। इसका मतलब यही है कि उस वर्णन के जितने अंश पर हृदय की तल्लीनता के कारण पूरा ध्यान रहा उसका संस्कार बना रहा; और इसलिये संकेत पाकर उसकी तो पुनरुद्भावना हुई, शेष अंश छूट गया।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिंदी की कविता का उत्थान उस समय हुआ जब संस्कृत-काव्य लक्ष्यच्युत हो चुका था। इसी से हिंदी की कविताओं में प्राकृतिक दृश्यों का वह सूक्ष्म वर्णन नहीं मिलता जो संस्कृत की प्राचीन कविताओं में पाया जाता है। केशव के पीछे तो प्रबंध-काव्यों का बनना एक प्रकार से बंद ही हो गया। आचार्य बनने का ही हौसला रह गया, कवि बनने का नहीं। अलंकार और नायिका-भेद के लक्षण-ग्रंथ लिखकर अपने रचे उदाहरण देने में ही कवियों ने अपने कार्य की समाप्ति मान ली। रीतिग्रंथ लिखने के कारण ही संस्कृत में कोई कवि नहीं कहलाया। साहित्य के आचार्यों में सब कवि नहीं थे। ऐसे फुटकर पद्य-रचयिताओं की परिमित कृति में प्राकृतिक दृश्य ढूँढ़ना ही व्यर्थ है। शृंगार के उद्दीपन के रूप में 'षट्ऋतु' का वर्णन अवश्य कुछ मिलता है; पर उसमें बाह्य प्रकृति के रूपों का प्रत्यक्षीकरण मुख्य नहीं होता, नायक-नायिका का प्रमोद या संताप ही मुख्य होता है। अब रहे दो-चार आख्यानकाव्य। उनमें दृश्य-वर्णन को स्थान ही बहुत कम दिया गया है। अगर कुछ वर्णन परंपरा-पालन की दृष्टि से है भी तो वह अलंकारप्रधान है। उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की भरमार इस

बात की स्पष्ट सूचना दे रही है कि कवि का मन दृश्यों के प्रत्यक्षीकरण में लगा नहीं है, उचट उचटकर दूसरी ओर जा पड़ा है।

कोई एक वस्तु सामने आई कि उपमा के पीछे परेशान। श्याम के 'छबीले मुख' का प्रसंग आया। बस, अंधे सूरदास चारों ओर उपमा टटोल रहे हैं—

बलि बलि जाउँ छबीले मुख की, या पटतर को को है !
या बानक उपमा दीबे को सुकबि कहा टकटोहै !

उपमाएँ यदि मिलती गईं तब तो सब ठीक ही ठीक, एक वस्तु के ऊपर उपमा पर उपमा, उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा लादते चले जा रहे हैं। "हरि-कर राजत माखन, रोटी", बस, इतनी ही सी तो बात है, उस पर—

मनों बारिज ससि-बैर जानि जिय गह्यो सुधांसुहि ओटी ;
मनों बराह भूधर-सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी।

एक छोटी सी रोटी की हकीकत ही कितनी, उस पर पहाड़ के सहित जमीन का बोझा लाकर रख दिया ! उपमाएँ यदि न मिलीं तो बस, 'शेष, शारदा' पर फिरे, उनकी इज्जत लेने पर उतारू !

मलिक मुहम्मद जायसी की 'पद्मावत' यद्यपि एक आख्यान-काव्य है पर उसमें भी स्थल-वर्णन सूक्ष्म नहीं है। सिंहल द्वीप के गढ़, राजद्वार, बगीचे आदि का वर्णन है। बगीचे के वर्णन में पेड़ों और चिड़ियों की फेहरिस्त है ; जो बहेलियों से भी मिल सकती है ? प्राप्त प्रथा के अनुसार पद्मावती के संयोग-सुख के संबंध में 'षट्ऋतु' और नागमती की विरह-वेदना के प्रसंग में 'बारहमासा' अलबत है। दोनों का ढंग वही है जो ऊपर कहा गया है। दो उदाहरण यथेष्ट होंगे—

ऋतु पावस बरसे पिउ पावा ; सावन-भादौं अधिक सुहावा ।
पदमावति चाहति ऋतु पाई ; गगन सुहावन, भूमि सुहाई ।
कोकिल बैन, पाँति बग छूटी ; धन निसरीं जनु बीरबहूटी ।
चमक बीजु, बरसै जल सोना ; दादुर-मोर-सबद सुठि लोना ।
रँग राती पिय-सँग निसि जागी ; गरजे गगन, चौंकि गर लागी ।
सीतल बूँद, ऊँच चौपारा ; हरियर सब दीखै संसारा ।
हरियर भूमि, कुसुंभी चोला ; औ धन पिय-सँग रचा हिंडोला ।

संयोग शृंगार की दृष्टि से यह वर्णन बड़ा मनोहर है। पर इसमें कवि का अपना सूक्ष्म निरीक्षण 'बरसै जल सोना' में ही दिखाई पड़ता है। और सब वर्णन परंपरानुसारी ही है। अब विप्रलंभ शृंगार के अंतर्गत आषाढ़ का वर्णन लीजिए—

चढ़ा असाढ़, गगन घन गाजा ; साजा बिरह दुंद दल बाजा ।
धूम स्याम धोरी घन धाए ; सेत धुजा बग-पाँति दिखाए ।
खरग-बीजु चमकै चहुँ ओरा ; बुंद-बान बरसहि घन घोरा ।
उनई घटा आइ चहुँ फेरी ; कंत ! उबार मदन हौं घेरी ।
दादुर, मोर, कोकिला पीऊ ; गिरहि बीज, घट रहै न जीऊ ।
पुष्य-नखत सिर ऊपर आवा ; हौं बिनु नाह, मँदिर को छावा ।

पाठक देख सकते हैं कि फुटकर कहने या गाने के लिये ये पद्य कितने सुंदर हैं। पर एक प्रबंध-काव्य के भीतर दृश्य-चित्रण की दृष्टि से यदि इन्हें देखते हैं तो संतोष नहीं होता। अन्य के संबंध में स्थित किसी भाव के 'उद्दीपन'-मात्र के लिये जितना वस्तु-विन्यास अपेक्षित था उतना जायसी ने किया, इसमें कोई संदेह नहीं। 'उद्दीपन'-रूप में दृश्य जो प्रभाव उत्पन्न करता है वह दूसरे के—अर्थात् 'आलंबन के—संबंध से, स्वतंत्र रूप में नहीं। पर, जैसा कि सिद्ध किया जा चुका है; प्राकृतिक दृश्य

मनुष्य के भावों के स्वतंत्र आलंबन भी होते हैं। प्राचीन कवियों ने इन्हें पात्र के आलंबन के रूप में और श्रोता के आलंबन के रूप में, दोनों रूपों में संनिविष्ट किया है। 'कुमार-संभव' का हिमालय-वर्णन श्रोता या पाठक के आलंबन के रूप में है। वाल्मीकि-रामायण में लक्ष्मण का हेमंत के अंतर्गत पंचवटी-दृश्य-वर्णन पात्र और श्रोता दोनों के भाव का आलंबन है; वर्षा और शरत् का वर्णन पात्र (राम) के पक्ष में तो 'उद्दीपन' है, किंतु रूप के सूक्ष्म विश्लेषण के बल से श्रोता के लिये आलंबन हो गया है।

एक बड़े प्रबंध-काव्य में प्राकृतिक दृश्यों का श्रोता के भाव के आलंबन-रूप में वर्णन भी आवश्यक है, और यह स्वरूप उन्हें तभी प्राप्त हो सकता है जब उनका चित्रण ऐसे ब्योरे के साथ हो कि उनका बिंब-ग्रहण हो, उनका पूर्ण स्वरूप पाठक या श्रोता की कल्पना में उपस्थित हो जाय। कारण, रति या तल्लीनता उत्पन्न करने के लिये प्रत्यक्ष स्वरूप का परिचय आवश्यक है। सारांश यह कि 'उद्दीपन' होने के लिये रूप का थोड़ा-थोड़ा प्रकाश क्या, संकेत-मात्र यथेष्ट है; पर 'आलंबन' होने के लिये पूर्ण और स्पष्ट स्फुरण होना चाहिए।

गोस्वामी तुलसीदासजी के भक्तिपूर्ण हृदय में भगवान् रामचंद्र के संबंध से चित्रकूट के प्रति जो प्रेम-भाव प्रतिष्ठित था उसके कारण उन्होंने उसके रम्य स्वरूप पर अधिक दृष्टि जमाई है। नीचे दिए हुए वर्णन में यद्यपि प्रचलित रीति के अनुसार प्रत्येक वस्तु और व्यापार के साथ दृष्टांत और उत्प्रेक्षा लगी हुई है, पर निरीक्षण बहुत अच्छा है—

सब दिन चित्रकूट नीको लागत;
बरषा-ऋतु-प्रबेस बिसेष गिरि देखत मन अनुरागत।

चहुँ दिसि बन संपन्न, बिहग मृग बोलत सोभा पावत ;
जनु सुनरेस-देस-पुर प्रमुदित प्रजा-सकल सुख छावत।
सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु-रँगमगे सृंगनि ;
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृंगनि।
सिखर परसि घन-घटहि मिलति बगपाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि-बराह बिहरि बारिधि मनों उठ्यो है दसन धरि धरनी।
जल-जुत बिमल सिलनि झलकत नभ-बन-प्रतिबिंब तरंग ;
मानहुँ जग-रचना बिचित्र बिलसति बिराट-अंग अंग।
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि झरि, भरि भरि जल आछे ;
'तुलसी' सकल सुकृत-सुख लागे मनों राम-भक्ति के पाछे।

वाह्य प्रकृति के संबंध में सूरदासजी की दृष्टि बहुत परिमित है। एक तो व्रज की गोचारण-भूमि के बाहर उन्होंने पैर ही नहीं निकाला, दूसरे उस भूमि का भी पूर्ण चित्र उन्होंने कहीं नहीं खींचा। उद्दीपन के रूप में केवल द्रुम, बल्ली और यमुना के किनारेवाले कदंब का उल्लेख-भर बार बार मिलता है। गोपियों के विरह के प्रसंग में रीति के अनुसार पावस आदि का वर्णन अवश्य है ; पर कहने की आवश्यकता नहीं कि उसमें पावस स्वरूप-स्थित नहीं है, वियोगिनी गोपियों के मानस-प्रदत्त रूप में है—कहीं वह कृष्ण-रूप में है, कहीं चढ़ाई करते हुए राजा के रूप में, इत्यादि ; जैसे—

आजु घन स्याम की अनुहारि ;
उनइ आए साँवरे से, सजनी ! देखु रूप की आरि।
इंद्रधनुष मानों पीतबसन-छबि, दामिनि दसन बिचारि ;
जनु बगपाँति माल मोतिन की, चितवत हितहि निहारि।

अथवा तुम्हारो गोकुल हो, व्रजनाथ !
घेर्‌यो है अरि चतुरंगिनि लै मनमथ-सेना साथ।
गरजत अति गंभीर गिरा, मनु मैगल मत्त अपार ;
धुरवा धूरि उड़त रथ पायक घोरन की खुरतार।

केवल कहीं कहीं नियत वस्तुओं की कुछ अधिक गिनती-भर मिलती है ; जैसे—

बरन-बरन अनेक जलधर अति मनोहर बेष ;
तिहि समय, सखि ! गगन-सोभा सबहि ते सुबिसेष।
उड़त खग, बग-बृंद राजत, रटत चातक, मोर ;
बहुल बिधि-बिधि रुचि बढ़ावत दामिनी घन-घोर।
धरनि तृन तनु रोम पुलकित पिय-समागम जानि ;
द्रुमनि बर बल्ली बियोगिनि मिलति है पहिचानि।
हंस, सुक, पिक, सारिका, अलि गुंज नाना नाद ;
मुदित मंडल भेक-भेकी, बिहग बिगत बिषाद।
कुटज, कुमुद, कदंब, कोबिद कनक आरि, सुकंज ;
केतकी करबीर, बेलउ बिमल बहु बिध मंजु।

यह नामावली निरीक्षण का फल नहीं है। इसकी सूचना 'कुमुद' और 'कोबिद' (कोविदार) पद दे रहे हैं। कचनार की शोभा वसंत-ऋतु में ही होती है, जब कि वह फूलता है ; और कुमुद की तो पत्तियाँ भी वर्षा-काल में अच्छी तरह नहीं बढ़ी रहतीं।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि वस्तुओं की गिनती गिनाना ही वस्तु-विन्यास नहीं है। आस-पास की और वस्तुओं के बीच उनकी प्रकृत स्थापना से दृश्य के एक पूर्ण सुसंगत रूप की योजना होती है। "मौर लगे हैं, समीर चलता है, कोयल बोलती है" इस प्रकार कहना केवल वस्तुओं और व्यापारों की गिनती गिनाना है। रीति-ग्रंथों में प्रत्येक ऋतु में वर्ण्य वस्तुओं

की सूची देखकर यह तो हरएक कर सकता है। यह चित्रण नहीं है। इन्हीं वस्तुओं और व्यापारों को लेकर यदि हम इस प्रकार योजना करें—"वह देखो, मौरों से गुछी, मंद-मंद झूमती हुई आम की डाली पर, हरी-हरी पत्तियों के बीच अपने कृष्ण कलेवर को पूर्ण रूप से न छिपा सकती हुई कोयल बोल रही है!" तो यह दृश्य अंकित करने का प्रयत्न कहा जायगा। किसी वस्तु का वर्णन जितनी ही अधिक वस्तुओं के संबंध को लिए हुए होगा उतना ही वह पेचीला होगा, और कवि के निरीक्षण की सूक्ष्मता प्रकट करेगा। इस दृष्टि से प्राचीन कवियों के वर्णनों का विचार करने पर इस बात का पता लग जायगा। देखिए, वाल्मीकि के 'मुक्तासकाशं' वाले श्लोक में[1] पानी की बूँदों का आकाश से गिरना, गिरकर पत्तों की नोकों पर लगना और चिड़ियों के पंखों को बिगाड़ना, चिड़ियों का पत्तों की नोक पर लगी बूँदों को पीना, इतने अधिक व्यापार एक संबंध-सूत्र में एकत्र पिरोए हैं। इसी प्रकार कालिदास ने हिमालय के पवन के साथ भागीरथी के जल-कण का फैलना, देवदारु के पेड़ों का काँपना, मोर की पूँछों का छितराना, किरातों का मृगों की खोज में निकलना और वायु-सेवन करना, इतने व्यापारों को परस्पर संबद्ध दिखाया है[2]। पर इतनी अधिक संश्लिष्ट योजना के प्रत्यक्षीकरण के लिये विस्तृत और गूढ़ निरीक्षण अपेक्षित है। ऊपर

---

१ [मुक्तासकाशं सलिलं पतद्वै सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम्।
दृष्ट्वा विवर्णच्छदना विहङ्गाः सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिबन्ति ॥
—वाल्मीकीय रामायण किष्किंधाकांड]

२ [भागीरथीनिर्झरशीकराणां वोढा मुहुःकम्पितदेवदारुः।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥
—कुमारसंभव, १—१५।]

गोस्वामी तुलसीदासजी का जो चित्रकूट-वर्णन दिया गया है उसमें यह बात कुछ कुछ है। "सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु-रँगमगे सृंगनि" में यों ही काले बादल का नाम नहीं ले लिया है; वह ऊपर उठे हुए शृंग पर दिखाया गया है, और वह शृंग भी गेरू के रंग में रँगा हुआ है। इसी प्रकार "जल-जुत बिमल सिलनि झलकत नभ-बन-प्रतिबिंब तरंग" में शिलाओं का धुलकर स्वच्छ होना, उन पर बरसाती पानी का लगना, स्वच्छता के कारण उनमें आकाश और बन का प्रतिबिंब दिखाई पड़ना, इतनी बातों की एक वाक्य में संबंध-योजना पाई जाती है।

जायसी से कवियों के एक और झुकाव का पता लगता है। 'कवि' और 'सयाने' जब एक ही समझे जाने लगे तब मनुष्य के व्यवसाय विशेष की जानकारी का खजाना भी काव्यों में खुलने लगा। घोड़ों का वर्णन है तो घोड़ों के पचासों भेदों के नाम सुन लीजिए; जिन्हें शायद घोड़ों के व्यवसायी ही जानते होंगे। भोजन का वर्णन है तो पूरी, कचौरी, कढ़ी, रायता, चटनी, मुरब्बा, पेड़ा, बरफी, जलेबी, फेनी, गुलाबजामुन आदि जितनी चीजों के नाम कविजी जानते हैं सब मौजूद! इन व्यंजनों को सामने रखने से पाठकों को ललचाने के सिवा और क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? पर काव्य भूख जगाने के लिये तो है नहीं। जिसे रोग आदि के कारण भोजन से अरुचि हो गई होगी वह किसी अच्छे वैद्य के नुस्खे का सेवन करेगा। भोजन की पत्तल का वर्णन करना प्राचीन कवि भद्दापन और काव्य-शिष्टता के विरुद्ध समझते थे। इसी से उन्होंने दृश्यकाव्य में भोजन के दृश्य का निषेध किया है। नामावली की इस प्रथा का अनुसरण जायसी, सूरदास, सूदन और महाराज रघुराजसिंह ने अधिक किया है। अस्त्र-शस्त्रों और पहरावों के नामों की फेहरिस्त

देखनी हो तो सूदन का 'सुजानचरित्र' पढ़िए; हाथी-घोड़ों, सवारियों और राजसी ठाट-बाट की वस्तुओं के नाम याद करने हों तो महाराज रघुराजसिंह का 'राम-स्वयंवर' उठा लीजिए।

केशवदासजी को अपने श्लेष, यमक और उत्प्रेक्षा इत्यादि से फ़ुरसत कहाँ कि विस्तृत संबंध-योजना के साथ प्रकृति का निरीक्षण करने जायँ। सीधी तरह से कुछ वस्तुओं का नाम ले जायँ, यही गनीमत है—

फल-फूलन पूरे, तरुवर रूरे, कोकिल-कुल कलरव बोलैं;
अति मत्त मयूरी, पियरस-पूरी, बन-बन प्रति नाचति डोलैं।

देखिए दंडक वन के वर्णन में श्लेष का यह चमत्कार दिखाकर आप चलते हुए—

सोभत दंडक की रुचि बनी, भाँतिन भाँतिन सुंदर घनी।
सेव बड़े नृप की जनु लसै, श्रीफल भूरि भाव जहँ बसै।
बेर भयानक सी अति लगै, अर्क-समूह जहाँ जगमगै।

'बेर', 'बनी', 'श्री-फल' और 'अर्क' शब्दों में श्लेष की कारीगरी दिखा दी, बस हो गया। वन-स्थली के प्रति उनका अनुराग तो था नहीं कि उसके रूप की छटा ब्योरे के साथ दिखाते। 'भयानक' शब्द जो रखा हुआ है वह 'भाव' का सूचक नहीं है; क्योंकि न तो 'बेर' ही कोई भयंकर वस्तु है, न आक (मदार) ही। श्लेष से 'अर्क' का अर्थ सूर्य लेने से 'समूह' के कारण प्रलय-काल का अर्थ निकलता है, जो प्रस्तुत नहीं है। दंडक-वन क्या दे देता—'आनंद' दे सकता था, वह भी नहीं देता था—जो उसके रूप का विश्लेषण केशवदासजी करने जाते? राजा की सेवा से 'श्री-फल' प्राप्त होता था, उसका ज़िक्र मौजूद है।

जब केशवदासजी का यह हाल है तब फुटकर पद्य कहनेवाले उनके अनुयायी 'कविंदों' में प्रकृति का रूपविश्लेषण ढूँढ़ना ही व्यर्थ है। ऋतु-वर्णन की पुरानी रीति उन्होंने निबाही है। उनके वर्णन में उद्दीपन भर के लिये फुटकर वस्तुएँ आई हैं; सो वे भी उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि की भीड़ में छिपी हुई हैं। वसंत कहीं राजा होकर आया है, कहीं फौजदार, कहीं फकीर; कहीं कुछ, कहीं कुछ। किसी ने कुछ बढ़कर हाथ मारा तो शिशिर और ग्रीष्म ऋतु में जो अपने शरीर की दशा देखी उसका वर्णन कर दिया, और उपचार का नुस्खा कह गए—

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम-धाम,
गरमी झुकी है जाम-जाम अति तापिनी।
भीजे खस बीजन डुलाए ना सुखात सेद,
गात ना सुहात, बात दावा सी डरापिनी।
ग्वाल कबि कहैं कोरे कुंभन में कूपन तें
लै लै जलधार बार-बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो, अब पियो फेरि अब,
पीवत हू पीवत बुझै न प्यास पापिनी॥

गरमी के मौसम के लिये एक कविजी राय देते हैं—

× × ×

सीतल गुलाब-जल भरि चहबच्चन में,
डारि कै कमल-दल न्हाइबे को धँसिए।
कालिदास अंग-अंग अगर-अतर-संग,
केसर, उसीर-नीर, घनसार घँसिए।
जेठ में गोबिंदलाल चंदन के चहलन
भरि-भरि गोकुल के महलन बसिए॥

मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं कि इन कवियों में कहीं प्रकृति का निरीक्षण मिलेगा ही नहीं। मिलेगा, पर थोड़ा, और वह भी बहुत ढूँढ़ने पर कहीं एकाध जगह। जैसे—

वृष को तरनि-तेज सहसो किरन तपै,
ज्वालनि के जाल बिकराल बरसत है।
तचति धरनि, जग झुरत झुरनि, सीरी
छाँह को पकरि पंथी, पंछी बिरमत हैं।
'सेनापति' नेक दुपहरी ढरकत होत
घमका* विषम, जो न पात खरकत है।
मेरे जान, पौन सीरे ठौर को पकरि कोऊ,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है॥

नंददासजी एक प्रसिद्ध कृष्णभक्त और कवि थे। पर व्रज-भूमि की महिमा का बखान करते समय दृश्य अंकित करने के बखेड़े में वे भी नहीं पड़े। वहाँ चिरवसंत रहता है, इतने ही में अपना मतलब सबको समझा दिया—

श्रीवृंदावन चिदघन, कछु छवि बरनि न जाई;
कृष्ण ललित लीला के काज गहि रह्यो जड़ताई।
जहँ नग, खग, मृग, लता, कुंज, बीरुध, तृन जेते;
नहिंन काल-गुन, प्रभा सदा सोभित रहैं तेते।
सकल जंतु अविरुद्ध जहाँ, हरि मृग सँग चरहीं;
काम क्रोध मद-लोभ-रहित लीला अनुसरहीं।
सब दिन रहत बसंत कृष्ण-अवलोकनि लोभा;
त्रिभुवन कानन जा बिभूति करि सोभित सोभा।
या बन की बर बानिक या बन ही बनि आवै;
सेस, महेस, सुरेस, गनेस न पारहि पावै।

---

* घमका = हवा का गिरना या ठहर जाना।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से हमारी भाषा नए मार्ग पर आ खड़ी हुई ; पर दृश्य-वर्णन में कोई संस्कार नहीं हुआ। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों की प्रणाली का अध्ययन करके सुधार का यत्न नहीं किया गया। भारतेंदुजी का जीवन एकदम नागरिक था। मानवी प्रकृति में ही उनकी तल्लीनता अधिक पाई जाती है ; बाह्य प्रकृति के साथ उनके हृदय का वैसा सामंजस्य नहीं पाया जाता। 'सत्यहरिश्चंद्र' में गंगा का और 'चंद्रावली' में यमुना का वर्णन अच्छा कहा जाता है। पर ये दोनों वर्णन भी पिछले खेवे के कवियों की परंपरा के अनुसार ही हैं। इनमें भी एक एक साथ कई वस्तुओं और व्यापारों की सूक्ष्म संबंध-योजना नहीं है, केवल वस्तुओं और व्यापारों के पृथक् पृथक् कथन के साथ उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का प्राचुर्य है। दोनों के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

(क)

नव उज्जल जल-धार हार हीरक सी सोहति ;
बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता-मनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत ;
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत, मिटावत।
कहूँ बँधे नवघाट उच्च गिरिवर सम सोहत ;
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत।
धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा-पताका ;
घहरत घंटा-धुनि धमकत धौंसा करि साका।
कहूँ सुंदरी नहाति, नीर कर जुगल उछारत ;
जुग अंबुज मिलि मुक्त-गुच्छ मनु सुच्छ निकारत।
धोवति सुंदरि बदन करन अति ही छबि पावत ;
वारिधि नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत।

(ख)

तरनि तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाए,
झुके कूल सों जल परसन-हित मनहुँ सुहाए।
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज-निज सोभा;
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल-लोभा।
मनु आतप वारन तीर को सिमिटि सबै छाए रहत;
कै हरि सेवा-हित नै रहे, निरखि नैन-मन सुख लहत।
कहूँ तीर पर अमल कमल सोभित बहु भाँतिन;
कहुँ सैवालन-मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन।
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखति ब्रज-सोभा;
कै उमँगे प्रिय-प्रिया-प्रेम के अनगिन गोभा।
कै करिकै कर बहु पीय को टेरत निज ढिग सोहई;
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई।
कै पिय-पद-उपमान मानि यहि निज उर धारत;
कै मुख करि बहु भृंगन-मिस अस्तुति उच्चारत।
कै ब्रज-तियगन-बदन-कमल की झलकति झाँईं;
कै ब्रज हरि पद परस-हेतु कमला बहु आईं।

देखिए, यमुना के वर्णन में 'सैवालन-मध्य कुमुदिनी' में दो वस्तुओं की संबंध-योजना थी; पर आगे चलकर जो 'उत्प्रेक्षा' और 'संदेह' की भरमार हुई तो उसमें अलग अलग कुमुद और कमल ही रह गए, और वे भी अलंकारों के बोझ के नीचे दबे हुए।

इन उद्धृत कविताओं में कहीं प्रकृति के स्थूल और सूक्ष्म रूपों के नूतन उद्घाटन का प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता, सारा वर्णन परंपराभुक्त है अतः चमत्कार लाने के लिये अलंकारों से लादा गया है।

इन अलंकारों के द्वारा कवियों ने अधिकतर विलासिता तथा कृत्रिम शोभा और सजावट का आरोप करके प्रकृति की पवित्रता में पाठक के मन को लीन होने का रास्ता बंद कर दिया है। यदि कहीं हरी घास से ढँकी हुई भूमि का जिक्र आ गया है तो कविजी ने पाठक को उसे पारसी कालीन या पन्ने की फर्श समझने की आज्ञा दे दी है। यदि उदित होता हुआ चंद्र-मंडल दिखाया है तो उसे फानूस या लैंप का ग्लोब मानने को कहा है। तात्पर्य यह कि भोग-विलास की जो सामग्री कोठरी के भीतर हमें मिलती है उसी की ओर खींचकर कविजी फिर ले जाते हैं। मनुष्य अपने उठाए हुए घेरे या प्रवर्तित कार्य-कलाप से कुछ देर वाहर निकलकर प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र का निरीक्षण करे प्राचीन कवि जहाँ इस वात का उद्योग करते थे वहाँ नए कैंड़े के कवि उसे ढकेलकर फिर उसी घेरे के भीतर वंद करने का प्रयत्न करने लगे। प्रकृति के प्रति यह उदासीनता नवीनों का लक्षण है।

मैं समझता हूँ, अव यह दिखाने के लिये और अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं है कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रति-भाव के स्वतंत्र आलंवन हैं, उनमें सहृदयों के लिये सहज आकर्षण वर्तमान है। इन दृश्यों के अंतर्गत जो वस्तुएँ और व्यापार होंगे उनमें जीवन के मूल-स्वरूप और मूल-परिस्थिति का आभास पाकर हमारी वृत्तियाँ तल्लीन होती हैं। जो व्यापार केवल मनुष्य की अधिक समुन्नत बुद्धि के परिणाम होंगे, जो उसके आदिम जीवन से बहुत इधर के होंगे, उनमें प्राकृतिक या पुरातन व्यापारों की सी तल्लीन करने की शक्ति न होगी। जैसे, 'सीतल गुलाव-जल भरि चहबच्चन मे' वैठे हुए कविजी की अपेक्षा तलैया के कीचड़ में बैठकर जीभ निकाल निकाल हाँफते हुए कुत्ते का अधिक प्राकृतिक व्यापार कहा

जायगा। इसी प्रकार शिशिर में दुशाला ओढ़े 'गुल-गुली गिलमें, गलीचा' बिछाकर बैठे हुए स्वाँग से धूप में खपरैल पर बैठी बदन चाटती हुई बिल्ली में अधिक प्राकृतिक भाव है। पुतलीघर में एंजिन चलाते हुए देशी साहब की अपेक्षा खेत में हल चलाते हुए किसान में अधिक स्वाभाविक आकर्षण है। विश्वास न हो तो भवभूति और कालिदास से पूछ लीजिए।

जब कि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों के आलंबन हैं तब इस शंका के लिये कोई स्थान ही नहीं रहा कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन सा रस है? जो जो पदार्थ हमारे किसी न किसी भाव के विषय हो सकते हैं उन सबका वर्णन रस के अंतर्गत है; क्योंकि 'भाव' का ग्रहण भी रस के समान ही होता है। यदि रति-भाव के रस-दशा तक पहुँचने की योग्यता 'दांपत्य रति' में ही मानिए तो पूर्ण भाव के रूप में भी दृश्यों का वर्णन कवियों की रचनाओं में बराबर मिलता है। जैसे काव्य के किसी पात्र का यह कहना कि "जब मैं इस पुराने आम के पेड़ को देखता हूँ तब इस बात का स्मरण हो आता है कि यह वही है जिसके नीचे मैं लड़कपन में बैठा करता था, और सारा शरीर पुलकित हो जाता है, मन एक अपूर्व भाव में मग्न हो जाता है।" विभाव, अनुभाव और संचारी से पुष्ट भाव-व्यंजना का उदाहरण होगा।

पहले कहा जा चुका है कि जो वस्तु मनुष्य के भावों का विषय या आलंबन होती है उसका शब्द-चित्र यदि किसी कवि ने खींच दिया तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। उसके लिये यह अनिवार्य नहीं कि वह 'आश्रय' की भी कल्पना करके उसे उस भाव का अनुभव करता हुआ, हर्ष से नाचता हुआ या विषाद से रोता हुआ, दिखावे। मैं आलंबन-मात्र के

विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ। यह बात नहीं है कि जब तक कोई दूसरा किसी भाव का अनुभव करता हुआ और उसे शब्द और चेष्टा द्वारा प्रकाशित करता हुआ न दिखाया जाय तब तक रसानुभव हो ही नहीं। यदि ऐसा होता तो हिंदी में 'नायिका-भेद' और 'नख-सिख' के जो सैकड़ों ग्रंथ बने हैं उन्हें कोई पढ़ता ही नहीं। नायिका-भेद में केवल शृंगार-रस के आलंबन का वर्णन होता है, और 'नख-सिख' के किसी पद्य में उस आलंबन के भी किसी एक अंग मात्र का। पर ऐसे वर्णनों से रसिक लोग बराबर आनंद प्राप्त करते देखे जाते हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक दृश्य-वर्णन मात्र को, चाहे कवि उसमें अपने हर्ष आदि का कुछ भी वर्णन न करे, हम काव्य कह सकते हैं। हिमालय-वर्णन को यदि हम कुमारसंभव से निकालकर अलग कर लें तो वह एक उत्तम काव्य कहला सकता है। मेघदूत में—विशेषकर पूर्वमेघ में—प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन ही प्रधान है। यक्ष की कथा निकाल देने पर भी उसका काव्यत्व नष्ट नहीं हो सकता।

ऊपर 'नख-सिख' की बात आ गई है, इसलिये मनुष्य के रूपवर्णन के संबंध में भी दो-चार बातें कह देना अप्रासंगिक न होगा। कारण, दृश्य-चित्रण के अंतर्गत वह भी आता है। 'नख-सिख' में केवल नायिका के रूप का वर्णन होता है। पर उसमें भी रूप-चित्रण का कोई प्रयास हम नहीं पाते, केवल विलक्षण उत्प्रेक्षाओं और उपमानों की भरमार पाते हैं। इन उपमानों के योग द्वारा अंगों की सौंदर्य-भावना से उत्पन्न सुखानुभूति में अवश्य वृद्धि होती है; पर रूप नहीं निर्दिष्ट होता। काव्य में मुख, नेत्र और अधर आदि के साथ चंद्र, कमल और

विद्रुम आदि के लाने का मुख्य उद्देश्य वर्ण, आकृति आदि का ज्ञान कराना नहीं, बल्कि कल्पना में साथ साथ इन्हें भी रखकर सौंदर्यगत आनंद के अनुभव को तीव्र करना है। काव्य की उपमा का उद्देश्य भावानुभूति को तीव्र करना है, नैयायिकों के 'गोसदृशो गवयः' के समान ज्ञान उत्पन्न कराना नहीं। इस दृष्टि से विचार करने पर कई एक प्रचलित उपमान बहुत खटकते हैं—जैसे, नायिका की कटि की सूक्ष्मता दिखाने के लिये सिंहिनी को सामने लाना, जाँघों की उपमा के लिये हाथी की सूँड़ की ओर इशारा करना। खैर, इसका विवेचन उपमा आदि अलंकारों पर विचार करते समय कभी किया जायगा। अब प्रस्तुत विषय की ओर आता हूँ।

मनुष्य की आकृति और मुद्रा के चित्रण के लिये भी काव्य-क्षेत्र में पूरा मैदान पड़ा है। आकृति-चित्रण का अत्यंत उत्कर्ष वहाँ समझना चाहिए जहाँ दो व्यक्तियों के अलग अलग चित्रों में हम भेद कर सकें। जैसे, दो सुंदरियों की आँख, कान, नाक, भौं कपोल, अधर, चिबुक इत्यादि सब अंगों को लेकर हमने वर्णन द्वारा दो अलग अलग चित्र खींचे। फिर दोनों वर्णनों को किसी और के हाथ में देकर हमने उन दोनों स्त्रियों को उसके सामने बुलाया। यदि वह बतला दे कि 'यह इसका वर्णन है और यह उसका' तो समझिए कि पूर्ण सफलता हुई। योरप के उपन्यासों में इस ओर बहुत कुछ प्रयत्न दिखाई पड़ता है; पर हमारे यहाँ अभी इधर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। मुद्रा चित्रित करने में गोस्वामी तुलसीदासजी अत्यंत कुशल दिखाई पड़ते हैं। मृग पर चलाने के लिये तीर खींचे हुए रामचंद्रजी को देखिए--

"जटा मुकुट सिर, सारस-नयननि गौंहैं तकत सुभौंह सिकोरे।"

इसी प्रकार राम के आगमन की प्रतीक्षा में शबरी—

"छन भवन, छन बाहर बिलोकति पंथ भ्रू पर पानि कै।"

पूर्वजनों की दीर्घ परंपरा द्वारा चली आती हुई जन्मगत वासना के अतिरिक्त जीवन में भी बहुत से संस्कार प्राप्त किए जाते हैं; जिनके कारण कुछ वस्तुओं के प्रति विशेष भाव अंतःकरण में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। बचपन से अपने घर में या बाहर हम जिन दृश्यों को बराबर देखते आए, जिनकी चर्चा बराबर सुनते आए, उनके प्रति एक प्रकार का सुहृद्भाव मन में घर कर लेता है। हिंदुओं के बालक अपने घर में राम-कृष्ण की कथाएँ और भजन सुनते आते हैं, इससे राम-कृष्ण के चरितों से संबंध रखनेवाले स्थानों को देखने की उत्कंठा उनमें बनी रहती है। गोस्वामीजी के इन शब्दों में यही उत्कंठा भरी है—

अब चित चेतु चित्रकूटहि चलु ;

भूमि बिलोकु राम-पद-अंकित, बन बिलोकु रघुबर-बिहार-थलु ।

ऐसे स्थानों के प्रति संबंध की योजना के कारण हृदय में विशेष रूप से भावों का उदय होता है। कोई राम-भक्त जब चित्रकूट पहुँचता है तब वह वहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य पर ही मुग्ध नहीं होता, अपने इष्टदेव की मधुर भावना के योग से एक विशेष प्रकार के अनिर्वचनीय माधुर्य का भी अनुभव करता है। ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी रास्तों में जब झाड़ियों के काँटे उसके शरीर में चुभते हैं तब उसमें सान्निध्य का यह मधुर भाव बिना उठे नहीं रह सकता कि ये झाड़ उन्हीं प्राचीन झाड़ों के वंशज हैं जो राम, लक्ष्मण और सीता को कभी चुभे होंगे। इस भाव-योजना के कारण उन झाड़ों को वह और ही दृष्टि से देखने लगता है। यह दृष्टि औरों को नहीं प्राप्त हो सकती।

ऐसे संस्कार जीवन में हम बराबर प्राप्त करते जाते हैं। जो पढ़े-लिखे नहीं हैं वे भी आल्हा आदि सुनकर कन्नौज, कालिंजर, महोबा, नयनागढ़ (चुनारगढ़) इत्यादि के प्रति एक विशेष 'भाव' सचित करते हैं। पढ़े-लिखे लोग अनेक प्रकार के इतिहास, पुराण, जीवनचरित आदि पढ़कर उनमें वर्णित घटनाओं से संबंध रखनेवाले स्थानों के दर्शन की उत्कंठा प्राप्त करते है। इतिहास-प्रसिद्ध स्थान उनके लिये तीर्थ से हो जाते हैं। प्राचीन इतिहास पढ़ते समय कल्पना का योग पूरा पूरा रहता है। जिन छोटे छोटे ब्योरों का वर्णन इतिहास नहीं भी करता उनका आरोप अज्ञात रूप से कल्पना करती चलती है। यदि इस प्रकार का थोड़ा-बहुत चित्रण कल्पना अपनी ओर से न करती चले तो इतिहास आदि पढ़ने में जी ही न लगे। सिकंदर और पौरव का युद्ध पढ़ते समय पढ़नेवाले के मन में सिकंदर और उसके साथियों का यवन-वेश तथा पौरव के उष्णीष और किरीट-कुंडल मन में आवेंगे। मतलब यह कि परिस्थिति आदि का कोई चित्र कल्पना में थोड़ा-बहुत अवश्य रहेगा—जो भावुक होंगे उनमें अधिक रहेगा। प्राचीन समय का समाज-चित्र हम 'मेघदूत', 'मालविकाग्निमित्र' आदि में ढूँढ़ते हैं, और उसकी थोड़ी-बहुत झलक पाकर अपने को और अपने समय को भूलकर तल्लीन हो जाते हैं। एक दिन रात को मैं सारनाथ से लौटता हुआ काशी की कुंज-गली में जा निकला। प्राचीन काल में पहुँची हुई कल्पना को लिए हुए उस सँकरी गली में जाकर मैं क्या देखता हूँ कि पीतल की सुंदर दीवटों पर दीपक जल रहे हैं, दूकानों पर केवल धोती पहने और उत्तरीय डाले (गरमी के दिन थे) व्यापारी बैठे हुए हैं, दीवारों पर सिंदूर से कुछ देवताओं के नाम लिखे हुए हैं, पुरानी चाल के चौखूँटे द्वार और खिड़कियाँ

हैं। मुझे ऐसा भान हुआ कि मैं प्राचीन उज्जयिनी की किसी वीथिका में आ निकला हूँ। इतने ही में थोड़ी दूर चलकर म्युनिसिपैलिटी की लालटेन दिखाई दी। बस, सारी भावना हवा हो गई।

इतिहास के अध्ययन से, प्राचीन आख्यानों के श्रवण से, भूतकाल का जो दृश्य इस प्रकार कल्पना में बस जाता है वह वर्त्तमान दृश्यों को खंडित प्रतीत होने से बचाता है, वह उन्हें दीर्घ काल-क्षेत्र के बीच चले आए हुए अतीत दृश्यों के मेल में दिखाता है, और हमारे 'भावों' को काल-बद्ध न रखकर अधिक व्यापकत्व प्रदान करता है। हम केवल उन्हीं से राग-द्वेष नहीं रखते जिनसे हम घिरे हुए हैं, बल्कि उनसे भी जो अब इस संसार में नहीं हैं, पहले कभी हो चुके हैं। पशुत्व और मनुष्यत्व में यही एक बड़ा भारी भेद है। मनुष्य उस कोटि की पहुँची हुई सत्ता है जो उस अल्प क्षण में ही आत्मप्रसार को बद्ध रखकर संतुष्ट नहीं हो सकती जिसे वर्त्तमान कहते हैं। वह अतीत के दीर्घ पटल को भेद कर अपनी अन्वीक्षणबुद्धि को ही नहीं, रागात्मिका वृत्ति को भी ले जाती है। हमारे 'भावों' के लिये भूत-काल का क्षेत्र अत्यंत पवित्र क्षेत्र है। वहाँ वे शरीरयात्रा के स्थूल स्वार्थ से संश्लिष्ट होकर कलुषित नहीं होते—अपने विशुद्ध रूप में दिखाई पड़ते हैं। उक्त क्षेत्र में जिनके 'भावों' का व्यायाम के लिये संचरण होता रहता है उनके 'भावों' का वर्त्तमान विषयों के साथ उचित और उपयुक्त संबंध स्थापित हो जाता है। उनके घृणा, क्रोध आदि भाव भी बहुत कम अवसरों पर ऐसे होंगे कि कोई उन्हें बुरा कह सके।

मनुष्य अपने रति, क्रोध आदि भावों को या तो सर्वथा मार डाले, अथवा साधना के लिये उन्हें कभी कभी ऐसे क्षेत्र में ले

जाया करे जहाँ स्वार्थ की पहुँच न हो, तब जाकर सच्ची आत्माभिव्यक्ति होगी। नए अर्थवादी 'पुराने गीतों' को छोड़ने को लाख कहा करें, पर जो विशाल-हृदय हैं वे भूत को बिना आत्मभूत किए नहीं रह सकते। अतीत-काल की वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति जो हमारा रागात्मक भाव होता है वह प्राप्त-काल की वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति हमारे भावों को तीव्र भी करता है और उनका ठीक ठीक अवस्थान भी करता है। वर्षा के आरंभ में जब हम बाहर मैदान में निकल पड़ते है, जहाँ जुते हुए खेतों की सोंधी महक आती है और किसानों की स्त्रियाँ टोकरी लिए इधर उधर दिखाई देती हैं, उस समय कालिदास की लेखनी से अंकित

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविकारानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभिक्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥

इस दृश्य के प्रभाव से—हमारा भाव और भी तीव्र हो जाता है—हमें वह दृश्य और भी मनोहर लगने लगता है।

जिन वस्तुओं और व्यापारों के प्रति हमारे प्राचीन पूर्वज अपने 'भाव' अंकित कर गए हैं उनके सामने अपने को पाकर मानों हम उन पूर्वपुरुषों के निकट जा पहुँचते हैं, और उसी प्रकार के भावों का अनुभव कर उनके हृदय से अपना हृदय मिलाते हुए उनके सगे बन जाते हैं। वर्तमान सभ्यता ने जहाँ अपना दखल नहीं जमाया है उन जंगलों, पहाड़ों, गाँवों और मैदानों में हम अपने को वाल्मीकि, कालिदास या भवभूति के समय में खड़ा कल्पित कर सकते हैं; कोई बाधक दृश्य सामने नहीं आता। पर्वतों की दरी-कंदराओं में, प्रभात के प्रफुल्ल पद्म-

जाल में, छिटकी चाँदनी में, खिली कुमुदिनी में हमारी आँखें कालिदास, भवभूति आदि की आँखों से जा मिलती हैं। पलाश, इंगुदी, अंकोट वनों में अब भी खड़े हैं, सरोवरों में कमल अब भी खिलते हैं, तालावों मे कुमुदिनी अब भी चाँदनी के साथ हँसती है, वानीर-शाखाएँ अब भी झुक-झुककर तीर का नीर चूमती हैं; पर हमारी आँखें उनकी ओर भूलकर भी नहीं जातीं, हमारे हृदय से मानों उनका कोई लगाव ही नहीं रह गया। अग्निमित्र, विक्रमादित्य आदि को अब हम नहीं देख सकते। उनकी आकृति वहन करनेवाला आलोक अब न जाने किस लोक में पहुँचा होगा; पर ऐसी वस्तुएँ अब भी हम देख सकते हैं जिन्हें उन्होंने भी देखा होगा। सिप्रा के किनारे दूर तक फैले हुए प्राचीन उज्जयिनी के ढूहों पर सूर्यास्त के समय खड़े हो जाइए इधर उधर उठी हुई पहाड़ियाँ कह रही हैं कि महाकाल के दर्शन को जाते हुए कालिदासजी हमें देर तक देखा करते थे; उस समय 'सिप्रावात' उनके उत्तरीय को फहराता था[१]।* काली शिलाओं पर से बहती हुई वेत्रवती की स्वच्छ धारा के तट पर विदिशा के खँड़हरों में वे ईंट-पत्थर अब भी पड़े हुए हैं जिन पर अंगराग-लिप्त शरीर और सुगंध-धूम से बसे केश-कलापवाली रमणियों के हाथ पड़े होंगे[२]।

बिजली से जगमगाते हुए नए अँगरेजी ढंग के शहरों में, धुआँ उगलती हुई मिलों और ह्वाइट-वे लेडला की दूकान के सामने, हम कालिदास आदि से अपने को बहुत दूर पाते हैं। पर प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में हमारा उनका भेद-भाव मिट जाता है, हम सामान्य परिस्थिति के साक्षात्कार द्वारा चिरकाल-व्यापी

१ [मेघदूत, पूर्वमेघ, ३२]। २ [वही, २६]।

शुद्ध 'मनुष्यत्व' का अनुभव करते हैं, किसी विशेष-काल-बद्ध मनुष्यत्व का नहीं।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि विशेष-काल-बद्ध मनुष्यत्व न सही, पर देश-बद्ध मनुष्यत्व तो यह अवश्य है। हाँ, है। इसी देश-बद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची देश-भक्ति या देश-प्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता वह देश-प्रेम का दावा नहीं कर सकता। इस स्वतंत्र सत्ता से अभिप्राय स्वरूप की स्वतंत्र सत्ता से है; केवल अन्न-धन संचित करने और अधिकार भोगने की स्वतन्त्रता से नहीं। अपने स्वरूप को भूलकर यदि भारतवासियों ने संसार में सुख-समृद्धि प्राप्त की तो क्या? क्योंकि उन्होंने उदात्त वृत्तियों को उत्तेजित करनेवाली बँधी-बँधाई परंपरा से अपना संबंध तोड़ लिया, नई उभरी हुई इतिहास-शून्य जंगली जातियों में अपना नाम लिखाया। फिलीपाइन द्वीपवासियों से उनकी मर्यादा कुछ अधिक नहीं रह गई।

देश-प्रेम है क्या? प्रेम ही तो है। इस प्रेम का आलंबन क्या है? सारा देश अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, नदी, नाले, वन, पर्वत-सहित सारी भूमि। प्रेम किस प्रकार का है? यह साहचर्य-गत प्रेम है। जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हें बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें बराबर सुनते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी का साथ रहता है, सारांश यह है कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है, उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। देश-प्रेम यदि वास्तव में अंतःकरण का कोई भाव है तो यही हो सकता है। यदि यह नहीं है तो वह कोरी बकवाद या किसी और भाव के संकेत के लिये गढ़ा हुआ शब्द है। यदि

किसी को अपने देश से सचमुच प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि सबसे प्रेम होगा, वह सबको चाह-भरी दृष्टि से देखेगा, वह सबकी सुध करके विदेश में आँसू बहाएगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो यह भी आँख-भर नहीं देखते कि आम प्रणय-सौरभ पूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानो के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए कि 'भाइयो ! बिना रूप-परिचय का यह प्रेम कैसा ?' जिसके दुःख-सुख के तुम कभी साथी नहीं हुए उन्हें तुम सुखी देखा चाहते हो, यह कैसे समझें ? उनसे कोसों दूर बैठे बैठे, पड़े पड़े या खड़े खड़े तुम विलायती बोली में 'अर्थशास्त्र' की दुहाई दिया करो ; पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब-किताब नहीं है। हिसाब-किताब करनेवाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं, पर प्रेमा करनेवाले नहीं। एक अमेरिकन फारसवालों को उनके देश क सारा हिसाब-किताब समझाकर चला गया।

हिसाब-किताब से देश की दशा का ज्ञान-मात्र हो सकता है। हित-चिंतन और हित-साधन की प्रवृत्ति कोरे ज्ञान से भिन्न है। वह मन के वेग या 'भाव' पर अवलंबित है, उसका संबंध लोभ या प्रेम से है ; जिसके बिना अन्य पक्ष में आवश्यक त्याग का उत्साह हो नहीं सकता। जिसे ब्रज की भूमि से प्रेम होगा वह इस प्रकार कहेगा—

नैनन सों 'रसखान' जबै ब्रज के बन, बाग, तड़ाग निहारौं।
केतिक वे कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं।

रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राज-सिंहासन तक त्यागने को तैयार थे ; पर देश-प्रेम की दुहाई देनेवालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों पर रीझकर— या कम से कम न खीझकर— बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे? मोटे आदमियो! तुम जरा सा दुबले हो जाते—अपने अंदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठटरियों पर मांस चढ़ जाता!

पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं उनसे परच जाते हैं। यह परचना परिचय ही है। परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि देश-प्रेम के लिये हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाइए। बाहर निकलिए तो आँख खोलकर देखिए कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, कछारों में चौपायों के झुंड इधर उधर चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच गाँव झाँक रहे हैं; उनमें घुसिए देखिए तो क्या हो रहा है। जो मिलें उनसे दो दो बातें कीजिए, उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी आध घड़ी बैठ जाइए और समझिए कि ये सब हमारे देश के हैं। इस प्रकार जब देश का रूप आपकी आँखों में समा जायगा, आप उसके अंग प्रत्यंग से परिचित हो जायँगे, तब आपके अंतःकरण में इस इच्छा का सचमुच उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे, वह सदा हरा-भरा और फला-फूला रहे, उसके धन-धान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहें।

पर आजकल इस प्रकार का परिचय बाबुओं की लज्जा का एक विषय हो रहा है। वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में अपनी बड़ी शान समझते हैं। मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुंदर छोटी सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे छोटा मोटा जंगल है; जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों वहाँ पुरातत्त्व विभाग का कैंप पड़ा हुआ था। रात हो जाने से उस दिन हम लोग स्तूप नहीं देख सके; सवेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। वसंत का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—"महुओं की कैसी महक आ रही है!" इस पर लखनवी महाशय ने चट मुझे रोककर कहा—"यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।" मैं चुप हो रहा; समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।[१] पीछे ध्यान आया कि यह वही लखनऊ है जहाँ कभी यह पूछनेवाले भी थे कि गेहूँ का पेड़ आम के पेड़ से छोटा होता है या बड़ा।

हिंदूपन की अंतिम झलक दिखानेवाले थानेश्वर, कन्नौज, दिल्ली, पानीपत आदि स्थान उनके गंभीर भावों के आलंबन हैं जिनमें ऐतिहासिक भावुकता है। जो देश के पुराने स्वरूप से परिचित हैं, उनके लिये इन स्थानों के नाम ही उद्दीपन स्वरूप है। इन्हें सुनते ही उनके हृदय में कैसे कैसे भाव जाग्रत होते हैं वे नहीं कह सकते। भारतेंदु का इतना ही कहना उसके लिये बहुत है कि—

---

१ [मिलाइए 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबंध, चिंतामणि, पहला भाग, पृष्ठ १०४ से १०७ तक]।

हाय पंचनद ! हा पानीपत !
अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत ?
हाय चितौर ! निलज तू भारी ;
अजहुँ खरो भारतहि मँझारी !

पानीपत, चित्तौर, कन्नौज आदि का नाम सुनते ही भारत का प्राचीन हिंदू-दृश्य आँखों के सामने फिर जाता है। उनके साथ गंभीर भावों का संबंध लगा हुआ है। ऐसे एक-एक नाम हमारे लिये काव्य के टुकड़े हैं। ये रसात्मक वाक्य नहीं, तो रसात्मक शब्द अवश्य है[1]।

अब तक जो कुछ कहा गया उससे यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि काव्य में 'आलंबन' ही मुख्य है। यदि कवि ने ऐसी वस्तुओं और व्यापारों को अपने शब्द-चित्र द्वारा सामने उपस्थित कर दिया जिनसे श्रोता या पाठक के भाव जाग्रत होते हैं, तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। संसार की प्रत्येक भाषा में इस प्रकार के काव्य वर्तमान हैं जिनमें भावों को प्रदर्शित करनेवाले पात्र, अर्थात् 'आश्रय', की योजना नहीं की गई है— केवल ऐसी वस्तुएँ और व्यापार सामने रख दिए गए हैं जिनसे श्रोता या पाठक ही भाव का अनुभव करते हैं। यदि किसी कवि ने किसी दृश्य का पूर्ण चित्रण करके रख दिया, तो क्या वह इसीलिये काव्य न कहलाएगा कि उसके वर्णन के भीतर कोई पात्र उस दृश्य से प्राप्त आनंद या शोक को अपने शब्द और चेष्टा द्वारा प्रगट करनेवाली नहीं है ? कुमारसंभव के आरंभ के उतने श्लोकों को जिनमें हिमालय का वर्णन है, क्या काव्य से खारिज समझें ? मेघदूत में जो आम्रकूट, विंध्य, रेवा आदि के वर्णन हैं उन सबमें क्या यक्ष की विरह-व्यथा ही व्यंग्य है ?

१ [मिलाइए 'भारतेंदु हरिश्चंद्र' शीर्षक समीक्षा, वही, पृष्ठ २६२]।

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की गिनती गिनाकर किसी प्रकार 'रस' की शर्त पूरी करना ही जब से कविजन अपना परम पुरुपार्थ मानने लगे तब से यह बात कुछ भूल सी चली कि कवियों का मुख्य कार्य ऐसे विपय को सामने रखना है जो श्रोता के विविध भावों के आलंबन हो सकें। सच पूछिए तो काव्य मे अंकित सारे दृश्य श्रोता के भिन्न भिन्न भावों के आलबन-स्वरूप होते हैं। किसी पात्र को रति. हास, शोक, क्रोध आदि प्रकट करता हुआ दिखाने में ही रस-परिपाक मानना और यह समझना कि श्रोता को पूरी रसानुभूति हो गई, बुरा हुआ। श्रोता या पाठक के भी हृदय होता है। वह जो किसी काव्य को पढ़ता या सुनता है सो केवल दूसरों का हसना, रोना, क्रोध करना आदि देखने के लिये ही नहीं, बल्कि ऐसे विषयों को सामने पाने के लिये जो स्वयं उसे हँसाने, रुलाने, क्रुद्ध करने, आकृष्ट करने, लीन करने का गुण रखते हों। राजा हरिश्चंद्र को श्मशान में रानी शव्या से कफन माँगते हुए, राम-जानकी को वनगमन के लिये निकलते हुए पढ़कर ही लोग क्या करुणार्द्र नहीं हो जाते ? उनकी करुणा क्या इस बात की अपेक्षा करती है कि कोई पात्र उन दृश्यों पर शोक या दुःख, शब्दो और चेष्टा द्वारा, प्रकट करे ? तुलसीदासजी के इस सवैये मे—

कागर-कीर ज्यों भूषन-चीर सरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई।
मातु, पिता, प्रिय लोग सबै सनमानि सुभाय सनेह-सगाई।
संग सुभामिनि भाइ भलो, दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई॥

पाठक को करुण रस में मग्न करने की पूरी सामग्री मौजूद है। परिस्थिति के सहित राम हमारी करुणा के आलंबन हैं, चाहे किसी पात्र की करुणा के आलंबन हों या न हों।

इस प्रकार कवि द्वारा अंकित संपूर्ण दृश्य को श्रोता के भावों का आलंबन मान लेने पर पूर्ण रस वहीं मानना पड़ेगा जहाँ (क) आश्रय श्रोता के रति भाव का आलंबन होगा और

(ख) आलंबन श्रोता के भी उन्हीं भावों का आलंबन होगा आश्रय के जिन भावों का है।

जहाँ इस प्रकार का समन्वय न हो वहाँ मैं पूर्ण रस नहीं मानता। यदि आश्रय का चित्रण ऐसा हुआ है कि पाठक या श्रोता के हृदय में उसके प्रति सुहृद भाव स्थापित हो गया है तो इस संबंध से वह श्रोता उन भावों को अपनाएगा, उनका अनुभव आप भी करेगा जिनका अनुभव करता हुआ आश्रय दिखाया जायगा। इसके उपरांत यदि वह व्यक्ति या वस्तु भी इस रूप में चित्रित है कि उसके प्रति मनुष्य मात्र के अतः श्रोता के हृदय में भी वे भाव बिना उद्भूत हुए न रहेंगे तो फिर क्या कहना है। पूर्ण रस वहीं पर कहा जा सकता है। कौरवों की सभा में दुःशासन पर भीम के क्रोध का यदि वर्णन किया जाय तो उससे रौद्ररस की ऐसी ही अनुभूति हो सकती है क्यों कि अबला द्रौपदी के साथ कुव्यवहार का जो चित्र खींचा जायगा उससे दुःशासन को ऐसा रूप प्राप्त हो जायगा जो पाठक के हृदय में क्रोध का अवश्य संचार करेगा। अतः भीम के क्रोध प्रकट करने पर उसे ऐसा प्रतीत होगा मानो उसी के हृदय का भाव प्रकट किया जा रहा है। पर शकुंतला के प्रति दुर्वासा के क्रोध का वर्णन चाहे कितने ही ब्यौरे के साथ किया जाय—उसमें लाल आँखें, फरकते ओठ, गर्व भरे वाक्य सब कुछ हों—पर उससे पाठक के हृदय में वैसी रसानुभूति नहीं हो सकती। इस कथन का अभिप्राय यह नहीं कि इस प्रकार के भावों का वर्णन ही न किया जाय। प्रसंगप्राप्त सब बातों का

वर्णन कवि का कर्तव्य है, केवल रस या पूर्ण रस की कवायद करना नहीं। रामायण में जिस प्रकार रावण के प्रति राम के क्रोध का वर्णन है उसी प्रकार राम के प्रति रावण के क्रोध का भी, जैसे राम के प्रति सीता के रति भाव का वर्णन है वैसे ही सूपर्णखा के भी। हाँ! भारतीय काव्य करना की दृष्टि से महाकाव्य में प्रधान आश्रय और आलंबन से संबंध रखनेवाले भाव का अनुभव श्रोता या पाठक को पूर्ण रस के रूप में होना चाहिए।

भाव

भाव

पहले कह आए हैं कि काव्य का लक्ष्य 'भावों' के उपयुक्त विषयों को सामने रखकर सृष्टि के नाना रूपों के साथ मानव-हृदय का सामंजस्य स्थापित करना है। 'भाव' ही कर्म के मूल प्रवर्तक और 'शील' के संस्थापक हैं। अतः कहा जा सकता है कि मनुष्य के जीवन की सच्ची झलक काव्य में ही दिखाई पड़ती है।

सुख और दुःख की इंद्रियज वेदना के अनुसार पहले पहल राग और द्वेष आदिम प्राणियों में प्रकट हुए जिनसे दीर्घ परंपरा के अभ्यास द्वारा आगे चलकर वासनाओं और प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। रति, शोक, क्रोध, भय आदि पहले वासना के रूप में थे, पीछे भाव-रूप में आए। जात्यंतर परिणाम द्वारा समुन्नत योनियों का विकास और मनोविज्ञानमय कोश का पूर्ण विधान हो जाने पर विविध वासनाओं की नीवँ पर रति, हास, शोक, क्रोध इत्यादि 'भावों' की प्रतिष्ठा हुई। इंद्रियज सुख दुःख से भावगत हर्ष, शोक आदि में सबसे बड़ी विशेषता तो यह हुई कि पहले में प्रत्यय-बोध आवश्यक नहीं था, पर दूसरे में प्रत्यय

की प्रधानता हुई—पहले में ध्यान मुख्यतः सुख-दुःख पर रहता था और दूसरे में हर्ष-शोक के विषय पर रहने लगा। इंद्रियज संवेदन वेदना-प्रधान होता है, वासना प्रवृत्ति-प्रधान होती है और भाव वेद्य-प्रधान (आलंबन-प्रधान) होता है। वासनात्मक प्रवृत्ति में 'लक्ष्य' और 'आलंबन' भावना या प्रत्यय-रूप में निर्दिष्ट नहीं होते। बहुत से जीव-जंतु कोई भारी शब्द या खटका सुनते ही भाग खड़े होते हैं। मनुष्य भी कभी कभी ऐसा करता है। इस प्रकार की चेष्टा केवल इंद्रियज संवेदन पर निर्भर रहती है। प्रत्येक 'भाव' का आदिम वासनात्मक रूप प्रायः इसी प्रकार का होता है और उसका विधान शरीर की भीतरी और बाहरी बनावट के अनुसार होता है। जिन क्षुद्र से क्षुद्र जीवों के शरीर में बचाव के लिये शस्त्रविधान होता है वे बाधा पहुँचने पर आप से आप संस्कारवश जिधर से बाधा आती हुई जान पड़ती है उस ओर झपट पड़ते हैं। दुर्गंधयुक्त सड़े-गले आहार से जो विशेष प्रकार का क्षोभ घ्राणेंद्रिय और रसनेंद्रिय में होता है उसकी अनुभूति जो कभी कभी वमनेच्छा या मतली के रूप में होती है—घृणा की प्रवृत्ति का मूल है। आगे चलकर अंतःकरण में प्रत्यय या भावना का विधान हो जाने पर ऐसे पदार्थों के दर्शन और स्पर्श क्या श्रवण मात्र से भी घृणा जाग्रत् होने लगी। इस प्रकार क्रमशः जुगुप्सा के 'भाव' का विधान हुआ। भाव-योजना के सहारे मनुष्य गंदे और मैले-कुचैले लोगों से ही नहीं बल्कि मलिन अंतःकरणवाले पापियों से भी घृणा करने लगा। 'प्रत्यय-बोध' की ओर लक्ष्य करके ही साहित्यिकों ने 'भाव' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है चित्त की चेतन दशा विशेष। रति, क्रोध, भय आदि की वासनात्मक अवस्था में किसी चेतन दशा की अपेक्षा नहीं।

वासना या संस्कार प्राणी में केवल क्रिया के समय में ही नहीं और काल में भी बराबर निहित रहता है; पर भाव का विधान केवल उद्दीपन और क्रिया के समय होता है, उसके उपरांत नहीं रह जाता। पात्र के भाव की ही प्रतीति श्रोता या पाठक को रस-रूप में होती है। इसी से साहित्यदर्पणकार ने प्रतीतिकाल में ही रस की सत्ता मानी है आगे पीछे नहीं—"न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते[1]।"

वासना और भाव में दो बातों का और भेद है। वासना की प्रेरणा से जो क्रिया होती है उसका एक रूप निर्दिष्ट होता है, वह सदा उसी रूप की होती है, पर भाव के अनुसार जो क्रिया होती है वह बहुरूपिणी होती है—अर्थात् वह कभी किसी प्रकार की होती है, कभी किसी प्रकार की। दूसरी बात यह है कि वासनात्मक प्रवृत्ति का 'जीवन-प्रयत्न' से सीधा लगाव होता है, पर भाव के और और लक्ष्य हुआ करते हैं। पर इससे यह न समझना चाहिए कि 'भाव' का वासनात्मक प्रवृत्ति से कोई लगाव ही नहीं रह जाता। मूल में वासनात्मक प्रवृत्ति बनी रहती है और 'भाव' से उस प्रवृत्ति को उत्तेजना मिलती है। 'भाव' की प्रतिष्ठा से बड़ी भारी बात यह होती है कि वासनात्मक प्रवृत्ति में जहाँ पहले केवल विषय के संपर्क-काल में ही क्रिया होती थी वहाँ 'भाव' के संकेत-रूप में स्थिर होने के कारण उक्त काल के पहले और पीछे भी क्रिया होने लगी। गाय अपने बछड़े को सामने पाकर ही प्रसन्न नहीं होती, जंगल से चरकर लौटते समय अपने बछड़े का ध्यान करके भी बड़े उत्साह के साथ बोलती हुई घर लौटती है। मनुष्य अपने विरुद्ध शत्रु की तैयारियों की खबर

---

१ [साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, १।]

पाकर भी क्रुद्ध होता है और आक्रमण के पीछे उसका स्मरण करके भी। इस प्रकार 'भाव' की प्रतिष्ठा से प्राणियों के कर्मक्षेत्र का विस्तार बढ़ गया। 'भाव' मन की वेगयुक्त अवस्था विशेष है वह क्षुत्पिपासा, कामवेग आदि शरीर-वेगों से भिन्न है।

'भाव' का विश्लेषण करने पर उसके भीतर तीन अंग पाए जाते हैं—

(१) वह अंग जो प्रवृत्ति या संस्कार के रूप में अंतस्संज्ञा में रहता है (वासना)।

(२) वह अंग जो विषय-बिंब के रूप में चेतना में रहता है और 'भाव' का प्रकृत स्वरूप है (भाव, आलंबन आदि की भावना)।

(३) वह अंग जो आकृति या आचरण में अभिव्यक्त होता है और बाहर देखा जा सकता है (अनुभाव और नाना प्रयत्न)।

इनमें से प्रथम का वह अंश जो पितृ-परंपरा के बीच उत्तरोत्तर बद्धमूल होता आया है और विषय-संपर्क होते ही उत्तेजित होकर सदा एक ही ढंग की क्रिया (जैसे सुकड़ना, भागना, छिपना) उत्पन्न करता है 'वासना' या संस्कार कहलाता है। दूसरे के अंतर्गत आलंबन के प्रति अनुभूति विशेष के बोध के अतिरिक्त अनेक प्रकार की भावनाएँ और विचार भी आ जाते हैं। इस रीति से किसी एक 'भाव' के अधिकार में उच्च और निम्न श्रेणी की अंतःकरण-वृत्तियों और शरीर-व्यापारों का विधान मिलता है। विवेकात्मक बुद्धि-व्यापार भी 'भावों' के शासन के भीतर आ जाते हैं।

सभ्यता की वृद्धि के साथ साथ ज्यों ज्यों मनुष्य के व्यापार बहुरूपी और जटिल होते गए, त्यों त्यों उनके मूल रूप बहुत

कुछ आच्छन्न होते गए। भावों के आदिम और सीधे लक्ष्यों के अतिरिक्त और और लक्ष्यों की स्थापना होती गई; वासनाजन्य मूल व्यापारों के सिवा बुद्धि द्वारा निश्चित व्यापारों का विधान बढ़ता गया। इस प्रकार बहुत से ऐसे व्यापारों से मनुष्य घिरता गया जिनके साथ उसके भावों का सीधा लगाव नहीं। जैसे आदि में भय का लक्ष्य अपने शरीर और अपनी संतति ही की रक्षा तक था; पर पीछे गाय, बैल, अन्न आदि की रक्षा आवश्यक हुई, यहाँ तक कि होते होते धन, मान, अधिकार, प्रभुत्व इत्यादि अनेक बातों की रक्षा की चिंता ने घर किया, और रक्षा के उपाय भी वासनाजन्य प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार के होने लगे। इसी प्रकार क्रोध, घृणा, लोभ आदि अन्य भावों के विषय भी अपने मूल रूपों से भिन्न रूप धारण करने लगे। कुछ भावों के विषय तो 'अमूर्त' तक होने लगे, जैसे कीर्ति की लालसा। ऐसे भावों को ही बौद्ध दर्शन में 'अरूपराग' कहते हैं। पर भावों के विषयों और प्रेरित व्यापारों में यह प्रत्यक्ष अनेक-रूपता आने पर भी उनका संबंध भावों के मूल रूपों और उनके मूल विषयों से परोक्ष रूप में बना है और बराबर बना रहेगा। किसी का कुटिल भाई उसे संपत्ति से एकदम वंचित रखने के लिये वकीलों की सलाह से एक नया दस्तावेज तैयार कराता है। इसकी खबर पाकर वह क्रोध से नाच उठता है। प्रत्यक्ष रूप में उसके क्रोध का विषय है वह नया दस्तावेज। पर उस दस्तावेज का संबंध अंततः जाकर इस बात से ठहरता है कि उसे और उसकी संतति को अन्न-वस्त्र न मिलेगा। अतः उसके क्रोध में और उस कुत्ते के क्रोध में जिसके सामने का भोजन कोई दूसरा कुत्ता छीन रहा है सिद्धांततः कोई भेद नहीं है—भेद है केवल विषय के थोड़ा रूप बदलकर आने में। इसी रूप बदलने

का नाम है सभ्यता। इस रूप वदलने से होता यह है कि उससे उत्तेजित क्रोध आदि को भी अपना रूप कुछ वदलना पड़ता है—वह भी कुछ कपड़े-लत्ते पहनकर समाज में आता है जिससे मारपीट, छीन-खसोट आदि भद्दे समझे जानेवाले व्यापारों का कुछ निवारण होता है।

पर यह प्रच्छन्न रूप उतना मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता। इसी से इस प्रच्छन्नता का उद्घाटन 'काव्य' का एक मुख्य कार्य है। ज्यों ज्यों सभ्यता वढ़ती जायगी त्यों त्यों यह काम वढ़ता जायगा, मनुष्य की मूल रागात्मिका वृत्ति से सीधा संबंध रखनेवाले रूपों को प्रत्यक्ष करने के लिये उसे वहुत से परदों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों ज्यों सभ्यता वढ़ती जायगी त्यों त्यों एक ओर तो काव्य की आवश्यकता वढ़ती जायगी दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायगा। ऊपर जिस क्रुद्ध व्यक्ति का उदाहरण दिया गया है वह यदि क्रोध से छुट्टी पाकर अपने भाई के चित्त में दया का संचार करना चाहेगा तो क्षुब्ध होकर उससे कहेगा—"भाई! तुम यह सव प्रयत्न इसीलिये न करते हो कि तुम पक्की हवेली में वैठकर हलवा-पूरी खाओ और मैं एक झोपड़ी में वैठा सूखे चने चवाऊँ, तुम्हारे लड़के दुशाले ओढ़कर निकलें और मेरे वच्चे ठंढ से काँपते रहें।" यह हुआ प्रकृत रूप का प्रत्यक्षीकरण। इसमें सभ्यता के वहुत से आवरणों को हटाकर वे मूल गोचर रूप सामने रखे गए हैं जिनसे हमारे भावों का सीधा लगाव है और जो इस कारण भावों को उत्तेजित करने में समर्थ हैं। कोई वात जव इस रूप में आएगी तभी उसे काव्य का रूप प्राप्त होगा। "तुमने हमें नुकसान पहुँचाने के लिये दस्तावेज वनाया" इस वाक्य में रसात्मकता नहीं। इसी वात को ध्यान में रखकर ध्वनिकार ने कहा है—नहि कवेरितिवृत्त-

मात्रनिर्वाहेणात्मपदलाभः ।[1] इसी प्रकार देश की आजकल की दशा के वर्णन में यदि हम केवल इस प्रकार के वाक्य कहते जायँ कि "हम मूर्ख, बलहीन और आलसी हो गए हैं, हमारा धन विदेश चला जाता है, रुपये का डेढ़ पाव घी बिकता है, स्त्री-शिक्षा का अभाव है" तो वे छंदोबद्ध होने पर भी काव्य-पद के अधिकारी न होंगे। साराश यह कि काव्य के लिये अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषय के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा जो मूर्त और गोचर होंगे। जब तक भावों से सीधा लगाव रखनेवाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तव रूप खड़ा नहीं हो सकता। भावों के अमूर्त विषयों के आधार भी मूल में मूर्त और गोचर मिलेंगे; जैसे यशोलिप्सा में कुछ दूर चलकर उस आनंद के उपभोग की प्रवृत्ति छिपी हुई पाई जायगी जो अपनी तारीफ कान में पड़ने से हुआ करता है।

काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिंबग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिंबग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है। 'रुपये का डेढ़ पाव घी मिलता है' इस कथन से कल्पना में यदि कोई बिंब या मूर्ति उपस्थित होगी तो वह तराजू लिए हुए बनिये की होगी। जिससे हमारे करुण भाव का सीधा लगाव न होगा। बहुत कम लोगों को घी खाने को मिलता है, अधिकतर लोग रूखी-सूखी खाकर रहते हैं—इस बात तक हम अर्थग्रहण-परंपरा द्वारा इस चक्कर के साथ पहुँचते हैं—एक रुपये का बहुत कम घी मिलता है इससे रुपये-वाले ही घी खा सकते हैं; पर रुपयेवाले बहुत कम हैं, इससे

१ [ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृष्ठ १४८ ।]

अधिक जनता घी नहीं पा सकती, रूखी-सूखी खाकर रहती है।[1] यदि इसे व्यंजना कहें तो यह वस्तु-व्यंजना होगी जिससे काव्य को उतना सरोकार नहीं। इस विषय का विस्तृत विवेचन 'शब्द-शक्ति' के अंतर्गत होगा।

ऊपर जो भाव का विश्लेषण किया गया उससे यह स्पष्ट है कि 'भाव' का विधान हो जाने पर भी वासनात्मक प्रवृत्ति मूल में बनी रहती है। बात यह है कि आदिम क्षुद्र जंतुओं में पहले सब व्यापार केवल बँधी चली आती हुई सहज प्रवृत्ति के अनुसार होते रहे फिर आगे चलकर उन्नत जंतुओं में प्रवृत्ति के उत्तेजक विषय की 'प्रत्यय' के रूप में धारणा भी होने लगी। इस विषय-प्रत्यय के साथ सुख या दुःख की अनुभूति का बोध भी मिला समझना चाहिए। अतः भाव उस विशेष रूप के चित्त-विकार को कहते हैं जिसके अंतर्गत विषय के स्वरूप की धारणा, सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति का बोध और प्रवृत्ति के उत्तजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा पूर्वापर संबद्ध संघटित हों। संक्षेप में—

प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम 'भाव' है।

मन के प्रत्येक वेग को भाव नहीं कह सकते, मन का वही वेग 'भाव' कहला सकता है जिसमें चेतना के भीतर आलंबन आदि प्रत्यय-रूप से प्रतिष्ठित होंगे।

मनोविज्ञानियों के अनुसार प्रधान भाव हैं—क्रोध, भय, हर्ष, शोक, घृणा, आश्चर्य और जिज्ञासा। भाव-विधान के भीतर जिस प्रकार प्रवृत्तियाँ हैं उसी प्रकार मनोवेग मात्र भी हैं जिन्हें

---

१ [मिलाइए—चिंतामणि, पहला भाग, पृ० १६५ से १६८ तक]

आलंबन-प्रधान न होने के कारण हम 'भाव' नहीं कह सकते, जैसे चकपकाहट, घबराहट, सोने या टहलने को जी करना इत्यादि। इच्छा भी एक प्रकार का मनोवेग ही है, पर 'भाव' तक पहुँचता हुआ स्वतंत्र विधान नहीं। उसका अपना कोई लक्ष्य नहीं होता, दूसरे भावों के लक्ष्य को लेकर वह चलता है। उसमें निश्चयात्मिका बुद्धि का योग अधिक होता है- उसमें दूरस्थ लक्ष्य या परिणाम की धारणा अधिक स्फुट होती है इससे वेग की मात्रा कम होती है। पर इस 'इच्छा' से स्थिति-भेद के अनुसार कुछ संचारी भावों की उत्पत्ति होती है; जैसे, इच्छा की पूर्ति के अच्छे लक्षण दिखाई देने पर आशा, पूर्ति में विलंब होने से व्याकुलता, पूर्ति न होने से नैराश्य, पूर्ति की ओर यथेष्ट अवसर न हो सकने पर विषाद इत्यादि। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक विधान का एक निर्दिष्ट लक्ष्य हुआ करता है और भाव एक मानसिक-शारीरिक विधान या व्यवस्था है। मनुष्य के प्रधान भावों के लक्ष्य-परिणाम कभी कभी इतने दूरस्थ हुआ करते हैं कि पूर्ति के पहले 'इच्छा' के लिये अवकाश रहा करता है।

भावों के वर्गीकरण का प्रयत्न आधुनिक वैज्ञानिकों ने इधर छोड़ सा दिया है। उन्होंने दो भेद किए हैं मूल और तद्भव। जिस भाव की अनुभूति किसी दूसरे भाव की पूर्वानुभूति की आश्रित न हो वह मूल भाव है—जैसे, क्रोध, भय, हर्ष, शोक, आश्चर्य। जो दूसरे भाव की अनुभूति के आश्रय से उत्पन्न हो वह तद्भव है—जैसे दया, कृतज्ञता पश्चात्ताप इत्यादि। दया के अनुभव के लिये यह आवश्यक है कि दूसरे के शोक या पीड़ा की सी अवस्था का हम पहले अनुभव कर चुके हों।

भाव-विधान की सबसे आधुनिक मीमांसा शैंड ने की है। उन्होंने निरूपित किया है कि अंतःकरण-वृत्तियों का विधान भी एक शासन-व्यवस्था के रूप में है जिसके अनुसार विशेष विशेष 'वेग' और 'प्रवृत्तियाँ' विशेष विशेष 'भावों' के शासन के भीतर रहती हैं और 'भावों' का भी 'भाव-कोशों' के भीतर न्यास होता है। किसी एक अवसर पर उपर्युक्त तीन अवयवों से युक्त जो चित्त-विकार उपस्थित होगा वह तो भाव होगा। पर चित्त मे ऐसी स्थिर प्रणाली की प्रतिष्ठा हो जाती है जिसके कारण या जिसके भीतर समय समय पर कई भावों की अभिव्यक्ति हुआ करती है। इस स्थिर प्रणाली का नाम भाव-कोश है। इस निरूपण के अनुसार प्रीति (रति) और वैर 'भाव' नहीं हैं भाव-कोश मात्र हैं जिनके भीतर स्थिति-भेद से अनेक भाव प्रकट होते रहते हैं। 'रति' को ही लीजिए। प्रिय का साक्षात्कार होने पर हर्ष, वियोग होने पर विषाद, उस पर कोई विपत्ति आने से उसे खोने की शंका, उसे दुःख पहुँचानेवाले को देख क्रोध इत्यादि अनेक भावों का स्फुरण 'रति' की प्रणाली स्थिर हो जाने से हुआ करता है। इन भावों के अतिरिक्त 'रति' की न तो कोई स्वतंत्र सत्ता है और न कोई विशेष स्वरूप। सारांश यह कि रति कोई एक भाव नहीं जिसकी कोई विशेष अनुभूति किसी एक अवसर पर होती हो। प्रीति, वैर, गर्व, अभिमान, तृष्णा, इंद्रिय-लोलुपता इत्यादि भाव-कोश ही माने गए हैं। प्रीति आलंबन-भेद से अनेक रूप धारण करती है—जैसे दांपत्य रति, वात्सल्य रति, मैत्री, स्वदेश-प्रेम, धर्म-प्रेम, सत्य-प्रेम इत्यादि।

भाव-कोश से अभिप्राय भाव-समष्टि नहीं है, बल्कि अंतःकरण में संघटित एक प्रणाली मात्र है जिसमें कई भिन्न भिन्न

भावों का संचार हुआ करता है। जैसे, 'रति' की प्रणाली के भीतर जो भाव प्रकट होते हुए कहे गए हैं 'रति' उनसे संयोजित कोई मिश्र भाव नहीं है। इसी प्रकार बैर आदि को भी समझिए। 'रति' या 'प्रीति' के विपरीत गति बैर की है। दोनों के लक्ष्य में भेद है। जिन जिन भावों की अभिव्यक्ति रति-प्रणाली के भीतर कही गई उन सबकी अभिव्यक्ति बैर-प्रणाली के भीतर भी होती है, पर विपरीत स्थितियों में। जैसे बैरी के साक्षात्कार से हर्ष के स्थान पर विषाद, उसके दूर होने से विषाद के स्थान पर हर्ष होता है, इसी प्रकार और सब समझिए। पर बैर को हम इन भावों के मिश्रण से संघटित कोई एक भाव नहीं कह सकते। कहने की आवश्यकता नहीं कि चित्त की ये स्थितियाँ जिन्हें भाव-कोश कहते हैं स्थायी होती हैं। अतः इनमें लक्ष्य-साधन के लिये बुद्धि या विवेक से काम लेने का अधिक अवकाश प्राप्त रहता है। जैसे, यदि किसी पर क्रोध होगा तो उस पर आक्रमण करने की प्रबल प्रेरणा होगी, चाहे उस समय के आक्रमण से उसकी कोई हानि संभव न हो, हमारी ही हानि संभव हो। पर जिससे बैर होगा उसे हानि पहुँचाने का यत्न खूब सोच विचार कर बुद्धि की पूरी सहायता लेकर किया जायगा। यहाँ तक कि किस 'भाव' का प्रकाश लक्ष्य-साधन में सहायक होगा और किसका बाधक इसका विचार करके कोई भाव तो प्रकट किया जायगा और कोई दबाया जायगा। भाव में संकल्प वेगयुक्त होते हैं पर भाव-कोश में धीर और संयत। मनुष्य में शील या आचरण की प्रतिष्ठा भाव-प्रणाली की स्थापना के अनुसार होती है। इस भाव-कोश का विधान भाव-विधान से उच्चतर है, अतः इसका विकास पीछे मानना चाहिए।

अब अपने यहाँ माने हुए साहित्य के भावों का विवेचन करना चाहिए। हमारे यहाँ रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, आश्चर्य, जुगुप्सा और निर्वेद ये नौ भाव गिनाए गए हैं। ध्यान देने की बात यह है कि इनमें से हास, उत्साह और निर्वेद को छोड़ शेष सब भाव वे ही हैं जिन्हें आधुनिक मनोविज्ञानियों ने मूल भाव कहा है। निर्वेद को अभाव-रूप मानकर अभी विवेचन के बाहर रखता हूँ। शेष आठ का ही विचार किया जाता है। ये सबके सब 'स्थायी भाव' कहलाते हैं। 'स्थायी' शब्द से आचार्यों का क्या अभिप्राय है यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। स्थायित्व के दो अर्थ हो सकते हैं—

(१) किसी एक भाव का एक ही अवसर पर इस आधिपत्य के साथ बना रहना कि उसके उपस्थिति-काल में अन्य भाव अथवा मनोवेग उसके शासन के भीतर प्रकट हों और वह ज्यों का त्यों बना रहे।

(२) किसी मानसिक स्थिति का इतने दिनों तक बना रहना कि उसके कारण भिन्न भिन्न अवसरों पर भिन्न भिन्न भाव प्रकट होते रहें।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्यों का अभिप्राय प्रथम प्रकार के स्थायित्व से है क्योंकि 'रति' ही एक ऐसा स्थायी है जिसमें द्वितीय प्रकार का दीर्घकाल-व्यापी स्थायित्व घटित होता है, शेष में प्रथम प्रकार का स्थायित्व ही पाया जाता है। अतः आठ भावों में से रति भाव ही ऐसा है जो आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से भी 'स्थायी' है। जान पड़ता है कि भोज[1] आदि कुछ साहित्य-मीमांसकों का ध्यान रति के इस स्थायित्व की ओर गया था। उन्हें कुछ इस प्रकार भासित हुआ होगा कि

१ [देखिए 'शृंगारप्रकाश'।]

रति ही एक मात्र शुद्ध स्थायी है तब तो उन्होंने कहा कि शृंगार ही एक मात्र रस है।

अब यहाँ पर यह विचार करना चाहिए कि रति की भाव-रूप में संचारियों से भिन्न अलग सत्ता है अथवा आधुनिक मनोविज्ञानियों के अनुसार वह एक 'प्रतीति-पद्धति' मात्र है जिसमें भिन्न भिन्न भाव प्रकट होते रहते हैं। हमारे यहाँ के आचार्यों ने और भावों के समान 'रति' की भी एक निर्दिष्ट भाव के रूप किसी एक क्षण में अभिव्यक्ति मानी है—

अन्तःकरणवृत्तिरूपस्य रत्यादेराशुविनाशित्वेऽपि संस्कारात्मना चिरकालस्थायित्वाद्यावद्रसप्रतीतिकालमनुसन्धानाच्च स्थायित्वम्।

—(प्रभा-प्रदीप)

भाव की गति-विधि का पता अनुभावों द्वारा बहुत कुछ मिल सकता है। कुछ मनोविज्ञानियों ने तो अनुभावों को 'भाव' का कार्य न मानकर भाव का स्वगत-भेद या अवयव ही माना है। विभाव, अनुभाव और संचारी द्वारा रस-व्यंजना होती है यह तो प्रसिद्ध ही है। इनमें से संचारी को छोड़ दें तो वह भाव-व्यंजना होगी। अतः अनुभाव द्वारा भाव की प्रवृत्ति का पता चल सकता है। पर कभी कभी कठिनता यह होती है कि संचारी स्वयं स्फुट न होने पर भी अपना अनुभाव प्रकट करता है और वह अनुभाव प्रधान भाव का ही अनुभाव मान लिया जाता है, संचारी का नहीं। जैसे, नायक के स्पर्श से नायिका को यदि रोमांच हो तो वह रोमांच हर्ष से होगा, पर हर्ष रति के कारण हुआ इससे वह रोमांच भी उपचार से रति भाव का ही अनुभव कह दिया जाता है। ऐसी दशा में यह देखना चाहिए कि रति भाव का अपना कोई अलग

अनुभाव होता है या नहीं। शृंगार रस का नीचे का प्रसिद्ध उदाहरण लीजिए—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै—
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं,
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥

—[अमरुशतक, ८२।]

अर्थात् नवोढ़ा-नायिका ने वासगृह को शून्य देखकर शय्या से धीरे धीरे कुछ उठकर निद्रा के बहाने लेटे हुए पति के मुख को बड़ी देर तक देखा (कि कहीं जागते तो नहीं हैं) फिर (सोता हुआ समझकर) विश्वासपूर्वक चुंबन किया; पर उसके गडस्थल को (हर्ष से) पुलकित देखकर उस बाला ने लज्जा से मुँह नीचा कर लिया और प्रिय ने हँसते हुए उसका बहुत देर तक चुंबन किया।

इस उदाहरण में नायक को 'पुलक' तो हर्ष का सूचक है, पर चुंबन शुद्ध रति भाव का अनुभाव है। इससे सिद्ध हुआ कि रति भाव की, संचारियों से भिन्न, अपनी अलग प्रवृत्ति भी होती है। स्पर्श, चुंबन, आलिगन इत्यादि व्यक्तिगत रति भाव की बँधी हुई प्रवृत्तियाँ हैं। इसी प्रकार उसका लक्ष्य भी अलग कहा जा सकता है। उसका लक्ष्य होता है विषय या आलंबन के स्वरूप के अनुरूप उसके साथ संयोग। किसी भाव की औरों से अलग 'प्रवृत्ति' और 'लक्ष्य' का पता पाना उसकी सत्ता का पता पाना है। मानसिक अवस्था के विश्लेषण द्वारा भाव के स्वरूप लक्षण (Static) के स्थान पर उस अवस्था के साथ संश्लिष्ट व्यापार आदि के निर्देश द्वारा तटस्थ लक्षण (Dynamic) की

विवृति ही आजकल के मनोविज्ञानी अधिक समीचीन समझते हैं। उनका कथन है कि किसी 'भाव' के अंतर्गत बहुत से मानसिक विकारों का संनिवेश हो सकता है, पर उन सब विकारों के कथन से उस 'भाव' की प्रतीति का पूर्ण स्वरूप नहीं निरूपित होता। जैसे, ईर्षा के अंतर्गत बाधित अभिमान, क्रोध, विषाद, अपनी उन्नति से नैराश्य इत्यादि कई भावों का गूढ़ न्यास पाया जाता है। पर ये सब चित्त-विकार उस भाव की ठीक ठीक प्रतीति नहीं करा सकते जिसे ईर्षा कहते हैं। 'पानकरसन्याय'[1] से ही उसकी प्रतीति होती है जो केवल आस्वाद्य है अर्थात् प्रत्यक्षानुभवगम्य है, शब्दगम्य नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हुआ कि जिसे 'रति स्थायी' कहते हैं वह तो सचमुच कोई एक 'भाव' नहीं है, पर उसका प्रकृत मूल कोई एक भाव अवश्य है जिसकी स्थायी दशा का नाम है रति या प्रीति। जिस प्रकार एक भाव-विधान के भीतर वासना के रूप में कुछ प्रवृत्तियाँ अंतर्हित रहती हैं उसी प्रकार भाव-प्रणाली या भाव-कोश के भीतर उसकी नीवँ देनेवाला मूल भाव भी अंतर्हित रहता है, केवल विषयोत्तेजन पाकर प्रतीति-काल में अभिव्यक्त हुआ करता है। शैंड आदि मनोविज्ञानियों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि प्रत्येक 'भाव' उस स्थायी

---

१ [इसे प्रापाणक न्याय भी कहते हैं। "जिस प्रकार घी, चीनी आदि कई वस्तुओं को एकत्र करने से बढ़िया मिठाई बनती है, उसी प्रकार अनेक उपादानों के योग से सुंदर वस्तु तैयार होने के दृष्टांत में यह उक्ति कही जाती है। साहित्यवाले विभाव, अनुभाव आदि द्वारा रस का परिपाक सूचित करने के लिये इसका प्रयोग बराबर करते हैं।"—हिंदी शब्द-सागर, पृष्ठ १९०८।]

अंतर्हित दशा को प्राप्त हो सकता है जिसे 'भाव-कोश' या स्थायी कहते हैं। क्रोध को ही लीजिए। क्रोध की ही 'स्थायी दशा' बैर है जिसमें जैसे और अनेक भावों की अभिव्यक्ति होती है वैसे ही क्रोध की भी हो जाया करती है। अतः क्रोध वास्तव में स्थायी भाव नहीं है, स्थायी भाव है वैर। इसी से प्रीति के मुकाबले में वैर ही का नाम लिया जाता है, जैसे—बैर प्रीति नहिं दुरत दुराए— (तुलसी)।

अब यह निश्चय करना रह गया कि रति या प्रीति नाम की पद्धति का मूल संस्थापक भाव क्या कहा जा सकता है। मैं तो उसे राग कहना अच्छा समझता हूँ। लोभ भी कह सकते हैं। किसी व्यक्ति या वस्तु पर 'लुभाना' बोलचाल में भी बराबर आता है। 'प्रीति' के अर्थ में 'लोभ' शब्द योरप की सैक्सन आदि प्राचीन भाषाओं में गया और अँगरेजी में 'लव' (Love) के रूप में अब तक बना है[1]। इससे यह प्रकट होता है कि बोलचाल की प्राचीन आर्यभाषा में 'पूर्वराग' को लोभ शब्द से व्यक्त करते थे। और भावों के समान किसी एक अवसर पर व्यक्तिगत लोभ या राग की प्रवृत्ति का प्रकाश होता है इस बात को हमारी भाषा ही पुकार कर कह रही है। किसी बच्चे पर जब कोई हाथ फेरता हुआ उसे चूमता पुचकारता है तब लोग कहते हैं कि वह उसे 'प्यार कर रहा है,' ठीक उसी प्रकार जैसे जब कोई किसी की ओर लाल आँखें करके कड़े स्वर से बोलता है तब कहा जाता है कि वह क्रोध कर रहा है।

---

१ [मिलाइए, चिंतामणि, पहला भाग, लोभ और प्रीति, पृष्ठ ११७।]

यह एक बँधी हुई बात है कि जिन तथ्यों या भावनाओं के लिये किसी भाषा में शब्द हैं उनकी ओर तो उस भाषा के बोलनेवालों का ध्यान जाता है, पर जिनके लिये शब्द नहीं हैं उनकी ओर बहुत कम जाता है। बहुत से ऐसे भाव या मानसिक अवस्थाएँ हैं जिनके लिये एक भाषा में शब्द हैं, दूसरी में नहीं। 'ग्लानि' और 'संकोच' शब्द लीजिए जिनके ठीक ठीक तात्पर्य को प्रकट करनेवाले शब्द अँगरेजी में नहीं हैं। मनोविज्ञान के भाव-निरूपण में यह बात सबसे अधिक लक्षित होती है। अतः हिंदी में इस विषय पर जो ग्रंथ लिखे जायँ उनमें अपने यहाँ के उन सब शब्दों पर पूर्ण विचार किया जाय जो भावों या मानसिक अवस्थाओं के द्योतक हैं। इस प्रणाली के अवलंबन से इस बात की बहुत कुछ आशा है कि हम भी कुछ नया रंग-ढंग ला सकेंगे। केवल आँख मूँदकर अँगरेजी के शब्दों का अनुवाद कर जाने से न तो काम ही चलेगा और न हमारा पुरुषार्थ ही प्रकट होगा। 'भावुकता' का विकास पाश्चात्यों की अपेक्षा पूर्वीय जातियों में अधिक हुआ है। इसके लिये हम दुनिया में बदनाम हैं। अतः मनोविज्ञान के और अंगों में न सही, भाव-निरूपण में औरों की अपेक्षा हम शायद कुछ अधिक कर सकें। भाषा का 'भावनाओं' के साथ इतना घनिष्ठ संबंध है कि शब्द-संकेत के सहारे पर विचारों के लिये बहुत कुछ मार्ग खुलता है। इसी से गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—गिरा-अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न, न भिन्न।

जैसा कहा जा चुका है—प्रत्येक 'भाव' स्थायी दशा को प्राप्त हो सकता है पर सबकी स्थायी दशा समान रूप से परिस्फुट नहीं होती। इससे कुछ के लिये तो निर्दिष्ट शब्द हैं, कुछ के लिये नहीं। नीचे भावों के सामने उनकी स्थायी दशाएँ दी जाती हैं—

भाव	स्थायी दशा
राग	रति
हास	×
आश्चर्य	×
शोक	संताप
क्रोध	वैर*
भय	आशंका
जुगुप्सा	विरति

इनमें से रति, वैर और विरति तो पूर्णतया परिस्फुट हैं। उनके अस्तित्व में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। शोक और भय की स्थायी दशाओं के लिये जो शब्द रखे गए हैं संभव है वे ठीक न हों, पर उन दशाओं का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किसी इष्ट व्यक्ति या वस्तु की हानि, पीड़ा या दुर्दशा से जो शोक उत्पन्न होता है वह मन में घर कर लेता है और 'संताप' के रूप में बराबर बना रहता है। किसी

---

* क्रोध और वैर के संबंध का आभास शैंजिल ने भी क्रोध की प्रवृत्ति के वर्णन में इस प्रकार दिया है—

(1) We are angry at the open insult and perhaps moved to enduring hatred by the obnoxious and inscrupulous enemy. Page 351.

(2) When anger is deleberate and develops hate—Shand. Page 37.

मृत व्यक्ति या नष्ट वस्तु के संबंध में कभी कभी संताप की ऐसी प्रणाली स्थापित हो जाती है कि हम समय समय पर उसके लिये आँसू बहाया करते हैं, ठंढी साँसें लिया करते हैं। अपने मित्र के साथ बैठकर जिस स्थान पर हम बातचीत या हँसी-ठट्ठा किया करते थे, मित्र के न रहने पर उस स्थान से होकर जब कभी हम जा निकलते हैं चित्त की दशा कुछ और ही हो जाया करती है। इस दशा का दौरा कुछ लोगों के जीवन भर में हुआ करता है। इसी प्रकार जिसका 'भय' मन में समा जाता है और स्थान कर लेता है उसकी आशंका बराबर बनी रहती है। भय के संचारियों में 'शंका' भी रखी गई है और उसका अर्थ 'अनर्थ का तर्कण'[1] कहा गया है। पर तर्कण बुद्धि का व्यापार है। भाव-प्रणाली या भावकोश के प्रसंग में कहा जा चुका है कि बुद्धि की सहायता का अवकाश किसी एक भाव के प्रतीति-काल में वैसा नहीं रहता जैसा उस भाव की स्थायी दशा में रहता है। भय की तीव्र अनुभूति के साथ तो अनर्थ का चित्र ही एकबारगी मन के सामने आ जायगा, तर्कण का अवकाश कहाँ रहेगा? अतः 'शंका' यदि केवल कल्पना के रूप में है (जैसे वह कहीं आता न हो) तो उसे 'भाव' का संचारी समझिए और यदि तर्कण के रूप में है (जैसे यदि वहाँ जाकर छिपते हैं तो भी उसके मित्र वहाँ कई एक हैं, उसे पता लग जायगा) तो उसे भाव की स्थायी दशा का संचारी समझिए।

अब रहे हास और आश्चर्य जिनकी स्थायी दशाएँ इतनी व्यक्त नहीं हैं कि उनके अलग नाम रखे जायँ। जिसकी बेढंगी

---

१ [परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः शङ्कानर्थस्य तर्कणम्।
—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, १६१]

चाल या वेढंगी बातों पर हम हँसा करते हैं उसके प्रति प्रायः चित्त की ऐसी स्थायी दशा हो जाती है कि उसका ध्यान या प्रसंग आने पर हमें बराबर हँसी आ जाया करती है। हम उसे बराबर विनोद की दृष्टि से देखा करते हैं। वह जिंदगी भर हमारे लिये एक खिलौना या तमाशा सा रहता है। उसके साथ हमारा एक प्रकार का विनोद-संबंध स्थापित हो जाता है। हास्य में किसी और भाव या चित्त-विकार की गुंजाइश संचारी के रूप में होती है या नहीं इसका विचार आगे किया जायगा। आश्चर्य के संबंध में भी वही बात कही जा सकती है जो हास के संबंध में कही गई है। जिस व्यक्ति या वस्तु की लोकोत्तर असाधारणता से हमें आश्चर्य हुआ उसके संबंध मे कभी कभी आश्चर्य की प्रणाली स्थापित हो जाती है और हमारे हृदय की ऐसी स्थायी स्थिति हो जाती है कि हम उसे जब कभी देखते हैं या उसका जब कभी ध्यान करते हैं तब लोकोत्तर महत्त्व के आरोप के साथ। यहाँ तक कि हृदय की ऐसी स्थायी स्थिति में किसी प्रकार की बाधा हमे असह्य होगी और जो कोई उक्त व्यक्ति या वस्तु को साधारण कहेगा उससे हम लड़ खड़े होंगे। महात्माओं के संबंध में जो अलौकिक कथाओं का ढेर लग जाता है वह मनुष्य की इसी स्थायी मानसिक स्थिति के प्रसाद से।

इस बात की ओर एक बार फिर ध्यान दिला देना मैं आवश्यक समझता हूँ कि जिस प्रकार रति, बैर और विरति नाम की स्थायी दशाएँ अधिक परिस्फुट होने के कारण अपने मूल भावों से कुछ विशिष्ट प्रतीत होती हैं उस प्रकार बाकी चार स्थायी दशाएँ नहीं, इसी से मनोविज्ञानियों का ध्यान उनकी ओर नहीं गया और इसी से हमारे यहाँ के साहित्यिक भाव-निरूपण में

भी प्रत्येक 'भाव' की स्थायी दशा उस प्रकार परिस्फुट नहीं की गई है जिस प्रकार राग की स्थायी दशा 'रति'। पर क्रोध की स्थायी दशा बैर भी इस प्रकार परिस्फुट किया जा सकता है कि प्रायः वे सब सुखात्मक या दुःखात्मक चित्त-विकार जो 'रति' के संचारी होकर आते हैं उसके भी संचारी होकर आएँ। जैसे, जिसके साथ बैर है उसके निधन या कष्ट पर हर्ष, उसकी विजय या सफलता पर विषाद, उसकी विभूति देख-सुनकर ईर्षा, उसके विरुद्ध अपने प्रयत्न के विफल होने पर लज्जा, उसकी संभावित हानि के संबंध में औत्सुक्य, उसकी की हुई हानि को देखकर उसकी स्मृति, इसी प्रकार धृति, चपलता, चिंता इत्यादि सब संचारी भाव आ सकते हैं। काव्यों मे इनके उदाहरण बराबर पाए जायँगे। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मूल भाव अपनी स्थायी दशा का संचारी होकर बराबर आया करेगा ठीक उसी प्रकार जैसे 'भाव' के प्रतीति-काल के भीतर उसी की कुछ अंतर्दशाएँ (जैसे त्रास, अमर्ष) संचारी के रूप में आती हुई कही गई हैं। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि 'अनुभाव' भाव ही के हुआ करते हैं (चाहे प्रधान के हों या संचारी के) उसकी स्थायी दशा के नहीं—अर्थात् 'अनुभाव' जब प्रकट होंगे तब किसी भाव या उसके संचारी के प्रतीति-काल में।

कोई भाव अपनी भावदशा में ही है या स्थायी दशा को प्राप्त हुआ है इसकी पहचान संचारियों से हो सकती है। कोई भाव या वेगयुक्त चित्त-विकार या तो सुखात्मक होगा या दुःखात्मक। भावदशा में सुखात्मक भाव का संचारी सुखात्मक भाव या चित्त-विकार ही होगा और दुःखात्मक का दुःखात्मक। बात यह है कि सुखात्मक भाव के अनुभव-काल में दुःखात्मक चित्त-विकार के आ जाने से और दुःखात्मक के अनुभव-काल में सुखात्मक

चित्त-विकार के आ जाने से भाव बाधित होकर तिरोहित हो जायगा। पर स्थायी दशा प्राप्त होने पर यह बात नहीं रहती। स्थायी दशा को विरुद्ध या अविरुद्ध कोई भाव संचारी रूप में आकर तिरोहित नहीं कर सकता।[1] स्थायी का यह लक्षण ग्रंथों में स्वीकार किया गया है पर 'रति' को छोड़ (जो 'राग' की स्थायी दशा है) क्रोध आदि भावों में यह लक्षण नहीं घटता। सुखात्मक भावों से निष्पन्न हास्य, वीर और अद्भुत रसों के संचारियों में कोई दुःखात्मक भाव या चित्त-विकार न मिलेगा; इसी प्रकार दुःखात्मक भावों से निष्पन्न करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स रसों के संचारियों में हर्ष आदि सुखात्मक भाव या चित्त-विकार न मिलेंगे।

ऊपर के स्थायित्व-विवेचन में 'उत्साह' छोड़ दिया गया है। उत्साह की स्थायी दशा का अनुसंधान करने में हमें एक दूसरी ही कोटि का स्थायित्व मिलता है जिससे मनुष्य के स्वभाव का निर्माण होता है। अब तक जिस स्थायित्व का विचार किया गया वह एक ही आलंबन के प्रति था। पर किसी भाव के प्रकृतिस्थ हो जाने पर वह एक ही आलंबन से बद्ध नहीं रहता, समय समय पर भिन्न भिन्न आलंबन ग्रहण करता रहता है। यदि राग या लोभ प्रकृतिस्थ हो गया है तो वह किसी एक ही व्यक्ति या वस्तु के प्रति रति या प्रीति के रूप में परिमित न रहेगा, अनेक व्यक्तियों या वस्तुओं की ओर लपका करेगा और अपने आश्रय को प्रेमी, रसिक अथवा लोभी, लंपट आदि लोक

---

१ [अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः॥

—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, १७४।]

से कहलाएगा। इसी प्रकार यदि क्रोध प्रकृतिस्थ हो गया है तो एक ही व्यक्ति के प्रति 'बैर' के रूप में न टिकेगा, बल्कि अनेक व्यक्तियों के प्रति समय समय पर प्रकट हुआ करेगा जिससे मनुष्य क्रोधी या चिड़चिड़ा कहलाएगा। जिस किसी की प्रकृति में शोक या विषाद ओतप्रोत हो जायगा उसमें यदि केवल अपने ही दुःख या हानि के अनुभव की सामर्थ्य होगी तो वह अनेक व्यक्तियों या वस्तुओं से खिन्नता प्राप्त किया करेगा और रोना, मनहूस या मुहर्रमी कहलाएगा और यदि उसमें दूसरों की हानि या दुःख की अनुभूति की वृत्ति प्रबल होगी तो दयावान् कहलाएगा। इसी प्रकार किसी एक ही व्यक्ति या वस्तु से नहीं अनेक अवसरों पर अनेक व्यक्तियों या वस्तुओं से डरनेवाले को भीरु या डरपोक, बात बात पर हरएक आदमी को देखकर हँसनेवाले को हँसोड़ या ठट्ठेबाज, हरएक वस्तु से नाक सुकोड़नेवाले को छिनछिना या तुनकमिजाज तथा जितनी वस्तुएँ सामने आएँ उनमें से बहुतों को देख चकपकाने या आश्चर्य करनेवाले को चकपका या कौआ कहते हैं।

भाव के इस प्रकार प्रकृतिस्थ हो जाने की अवस्था को हम **शील दशा** कहेंगे।

उत्साह का अर्थ है साहस की उमंग जो किसी कठिन कर्म की ओर प्रवृत्त करती है। उत्साह में आलंबन और लक्ष्य स्थिर और परिस्फुट नहीं होते इसी से मनोविज्ञानियों ने प्रधान भावों की गिनती में उसे नहीं रखा है। यद्यपि ग्रंथों में प्रतिमल्ल, दानपात्र और दयापात्र को उत्साह के आलंबन कहा है पर भाव के अनुभूति-काल में इन व्यक्तियों की ओर वैसा ध्यान नहीं रहता जैसा और भावों के प्रतीति-काल में रहता है। किसी शत्रु

के विरुद्ध युद्ध-यात्रा के समय किसी योद्धा के हृदय में जो उमंग होती है उसमें अपने पराक्रम का ध्यान प्रधान रहता है, शत्रु का नहीं। दिग्विजय या अश्वमेध की यात्रा के आरंभ में कोई शत्रु निश्चित नहीं रहता पर उत्साह बराबर प्रकट किया जाता है जिससे श्रोता या दर्शक को वीर रस की पूर्ण अनुभूति होती है। इसी प्रकार दानवीर और दयावीर में यदि दानपात्र की ओर ध्यान प्रधान माना जाय तो भक्ति या श्रद्धा का और यदि दयापात्र की ओर ध्यान प्रधान माना जाय तो दया या करुणा का भाव प्रधान होगा। इससे उत्साह के यदि आलंबन हो सकते हैं तो युद्ध, दान, दया आदि के कर्म।* धर्मवीर में तो धर्म अर्थात् धर्मकार्य को आलंबन मानना ही पड़ा है। किसी एक कर्म की विद्यमानता एक अवसर के आगे नहीं रह सकती। उत्साह के एक अवसर के उपरांत दूसरे अवसर पर कर्म भी दूसरा हो जायगा। इस कारण उत्साह जब अनेकावसर-व्यापी स्थायित्व की ओर चलेगा तब वह 'शील दशा' को ही प्राप्त समझा जायगा। और भावों के समान किसी एक आलंबन के प्रति उसकी 'स्थायी दशा' नहीं कही जा सकती। जो वीर होगा वह किसी एक ही व्यक्ति के प्रति नहीं, उपयुक्त व्यक्तिमात्र के साथ वीरता दिखलानेवाले ही वीर कहलाते हैं।

'भाव' के संबंध में यह कहा जा चुका है कि वह आलंबन प्रधान होता है अर्थात् उसमें आलंबन की भावना 'प्रत्यय' के रूप में परिस्फुट होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक भाव एक ही आलंबन के प्रति स्थायी दशा को प्राप्त हो सकता है। जब कि ये बातें उत्साह में नहीं घटतीं तो वह मन का वेग

* Interest transfered from the end to the means.

मात्र है। फिर आचार्यों ने उसे प्रधान भावों की गिनती में रखा क्यों? संचारियों में क्यों न डाल दिया? रस में उसकी प्रयोजकता के विचार से। आश्रय या पात्र में उसकी व्यंजना द्वारा श्रोता या दर्शक को ऐसा विविक्त रसानुभव होता है जो और रसों के समकक्ष है।

इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि साहित्यिकों का सारा भाव-निरूपण रस की दृष्टि से है। 'दयावीर' को लीजिए जो कि एक संकर भाव है। उसमें प्रधान भाव तो रहता है करुणा या दया का, पर उसके साथ 'उत्साह' का भी योग हो जाता है। पहले हमें किसी व्यक्ति के दुःख पर दया उत्पन्न होकर ऐसे कर्मों की प्रेरणा उत्पन्न करती है जिनसे उसका दुःख दूर हो सकता है। यदि कर्म साधारणतया साध्य हुआ तब तो दया के अतिरिक्त और भाव या मनोवेग की सहायता अपेक्षित नहीं होती। पर यदि कर्म दुःसाध्य, कष्टकर या असाधारण हुआ तो साथ ही एक और दूसरे मनोवेग अर्थात् साहस की उमंग (उत्साह) का योगदान आवश्यक होता है। यहाँ पर शंका उठती है कि जब कि प्रधान प्रवर्तक दया या करुणा है तब आचार्यों ने 'दयावीर' को उत्साह या वीर रस के अंतर्गत क्यों रखा? दयावीर के लिये दया को प्रधान भावों में क्यों नहीं गिन लिया? यहाँ पर भी कहना पड़ता है कि रस की दृष्टि से। आश्रय द्वारा व्यक्त किया हुआ भाव साधारणीकरण के प्रभाव से श्रोता या दर्शक में भी उसी भाव की रस-रूप में अनुभूति उत्पन्न करता है। आश्रय के शोक या दुःख का अनुभव श्रोता या दर्शक के हृदय में परदुःखजन्य दुःख अर्थात् दया या करुणा के रूप में होगा। इसी प्रकार और 'भावों' के अनुभव भी साधारण्य से ही अर्थात् सहानुभूति के रूप में ही श्रोता या दर्शक

में माने गए हैं। अतः रस-निष्पत्ति के लिये आश्रय द्वारा व्यंजित प्रधान भाव सहानुभूत्यात्मक नहीं रखा गया। साधारणीकृत भाव का फिर रस-रूप में साधारणीकरण ठीक नहीं समझा गया।

उपर्युक्त विवेचन का संक्षिप्त परिणाम यह निकला कि जिन्हें साहित्य में भाव कहते हैं उनकी तीन दशाएँ मिलती हैं—भाव दशा, स्थायी दशा और शीलदशा। नीचे तीनों दशाओं का चक्र दिया जाता है—

एक अवसर पर एक आलंबन के प्रति	अनेक अवसरोंपर एक आलंबन के प्रति	अनेक अवसरों पर अनेक आलंबनों के प्रति
भावदशा	**स्थायीदशा**	**शीलदशा**
राग	रति	स्नेहशीलता, रसिकता, लोभ, तृष्णा, लंपटता
हास	(अनभिधेय)	हँसोड़पन, विनोदशीलता
उत्साह	×	वीरता, तत्परता
आश्चर्य	(अनभिधेय)	भौचक्कापन
शोक	संताप	खिन्नता
क्रोध	वैर	क्रोधशीलता, उग्रता, चिड़चिड़ापन
भय	आशंका	भीरुता
जुगुप्सा	विरति	तुनकमिजाजी

इस तालिका में 'शीलदशाओं' के नाम स्थायी दशाओं से भिन्न देखकर यह न समझना चाहिए कि नाम-भेद सर्वत्र ही

मिलेगा। श्रद्धा-भक्ति किसी में एक व्यक्ति के प्रति होती है तब भी लोग कहते हैं कि 'उसमें अमुक के प्रति श्रद्धा है' और बड़ों के प्रति सामान्यतः होती है तब भी कह दिया जाता है कि 'उसमें बड़ों के प्रति श्रद्धा है'—यह नहीं कहा जाता कि 'बड़ों के प्रति श्रद्धाशीलता है'। पर 'वह श्रद्धावान् है' इतना कहने से यही समझा जाता है कि वह श्रेष्ठ व्यक्तियों (आचार्य आदि) या वस्तुओं (जैसे, धर्म) के प्रति साधारणतः श्रद्धा रखनेवाला है। शीलदशाओं का समूह बहुत बड़ा है। आलंबन-प्रधान अर्थात् प्रत्यय-बोधाश्रित मुख्य भावों से ही शीलदशा की प्रतिष्ठा नहीं होती, 'भावदशा' तक न पहुँचनेवाले मन के वेगों और प्रवृत्तियों के चिराभ्यास से भी भिन्न भिन्न शीलदशाएँ मनुष्य की प्रकृति में प्रतिष्ठित होती हैं—जैसे, आलस्य से आलसीपन, लज्जा से लज्जाशीलता, अवहित्था से दुराव का स्वभाव, असूया से ईर्षालु प्रकृति इत्यादि। इसी प्रकार संकोचशीलता, स्पर्द्धाशीलता, जो वस्तु देखी उसे अपनाने की प्रकृति इत्यादि अनेक प्रकार की शीलदशाओं का विधान भिन्न भिन्न वेगों और प्रवृत्तियों के पकड़ने से होता है। मनोविज्ञानियों ने 'स्थायी दशा' और 'शीलदशा' के भेद की ओर ध्यान न देकर दोनों प्रकार की मानसिक दशाओं को एक ही में गिना दिया है। उन्होंने रति, बैर, धन-तृष्णा, इंद्रिय-परायणता, अभिमान इत्यादि सबको स्थायी भावों की कोटि में डाल दिया है। पर मैंने जिस आधार पर भेद करना आवश्यक समझा है उसका विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

अब काव्य में इन तीनों दशाओं का उपयोग किस प्रकार होता है इस पर थोड़ा विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

लक्षण-ग्रंथों में रस-व्यंजना की जो परिपाटी बताई गई है उसका पालन तो अपनी अंतर्दशाओं (संचारियों) के सहित भावदशा से ही हो जाता है। 'राग' ही 'रति स्थायी' के रूप में अधिकतर देखा जाता है और भाव प्रायः नहीं। पर यह दिखाया जा चुका है कि वैर (क्रोध की स्थायी दशा) इत्यादि का रसपूर्ण वर्णन भी इस प्रकार हो सकता है कि उसमें वे सब संचारी प्रायः आ जायँ जो रति में आते हैं। इस प्रकार और भावों की 'स्थायी दशाओं' को भी ले लेने से 'रस-क्षेत्र' का विस्तार बढ़ जाता है। जैसे, यदि कोई शत्रु पर कुपित होकर तत्काल लाल आँखें किए उसकी ओर दौड़ पड़े तो यह दौड़ना या झपटना भाव-दशा के 'अनुभाव' के अंतर्गत होगा; पर यदि वह बैठकर शत्रु के नाश के उपाय स्थिर करता है और फिर उन उपायों के साधन में धीरता के साथ प्रवृत्त होता है तो उसका यह व्यापार क्रोध की स्थायी दशा 'वैर' के अंतर्भूत होगा। राम का समुद्र तट पर बैठकर धीरतापूर्वक सेतु बँधवाना 'अनुभाव' के अंतर्गत नहीं कहा जा सकता (क्योंकि अनुभाव किसी भावदशा में ही होता है) पर 'धैर्य' अवश्य व्यंजित करता है, जो क्रोध की भाव-दशा से नहीं प्रकट हो सकता। यह सूचित किया जा चुका है कि 'स्थायी दशा' में भाव का अधिकार बुद्धि पर भी हो जाता है अर्थात् निश्चयात्मिका वृत्ति भी 'भाव' के आदेश पर परि-चालित होने लगती है। यहाँ पर जिज्ञासा हो सकती है कि क्या बुद्धि की क्रिया का सारा ब्योरा भी भाव-विधान के अंतर्गत आ जाता है। नहीं; भाव-विधान के अंतर्गत केवल 'बुद्धि का क्रिया करना' यह बात होती है, स्वयं क्रिया नहीं। केवल बुद्धि की विचक्षणतासूचक जो बातें होती हैं वे 'रस' में नहीं घुलतीं। घटनाक्रम-प्रधान आख्यानों (उपन्यास, कहानी आदि) में तो वे

अच्छी तरह खप जाती हैं, पर रस-प्रधान प्रबंध-काव्यों में वे रस का परिपोषण नहीं करतीं।

'शीलदशा' का उपयोग काव्य में कहाँ तक होता है अब यह देखना चाहिए। यों देखने में रस-योजना में उसका प्रत्यक्ष संबंध नहीं दिखाई पड़ता। रूढ़ि के अनुसार पूर्ण रस की निष्पत्ति में 'अनुभाव' आवश्यक होता है और अनुभाव केवल 'भावदशा' का व्यंजक होता है। मुक्तक या उद्भट में जो रस की रस्म अदा की जाती है उसमें शीलदशा का समावेश नहीं होता। उसका उद्देश्य तो क्षणिक मनोरंजन मात्र होता है। पर उच्च लक्ष्य रखनेवाले, मनुष्य की प्रकृति का संस्कार या निर्माण करने की सामर्थ्य रखनेवाले प्रबंध-काव्य या नाटक के चरित्र-चित्रण का आधार 'शीलदशा' ही है। रामायण में राम की धीरता और गंभीरता, लक्ष्मण की उग्रता और असहनशीलता, बड़ों के प्रति भरत की श्रद्धा-भक्ति इत्यादि का चित्रण भिन्न भिन्न अवसरों पर भिन्न भिन्न व्यक्तियों के प्रति किए हुए व्यवहारों के मेल से ही हुआ है। आलंबन का स्वरूप संघटित करने में उपादान रूप होकर 'शीलदशा' रसोत्पत्ति में पूरा योग देती है। आश्रय की दृष्टि जिस प्रकार आलंबन के बाह्य रूप पर जाती है उसी प्रकार उसके आभ्यंतर स्वरूप पर भी जाती है। इस आभ्यंतर स्वरूप की योजना भिन्न भिन्न 'शीलों' से ही होती है। आलंबन के रूप की धारणा से जिस प्रकार आश्रय में अश्रु, पुलक आदि अनुभाव प्रकट होते हैं उसी प्रकार उसके शील की धारणा से भी। जिसमें शील को देख सुनकर इस प्रकार ये अनुभाव न प्रकट हों गोस्वामी तुलसीदासजी उसे जड़ समझते हैं। वे साफ कहते हैं कि

"सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ॥"

इतनी चेतावनी देकर गोस्वामीजी राम के शील-स्वभाव को इस प्रकार विशद रूप में अंकित करते हैं—

सिसुपन तें पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम बिधु-बदन रिसौहैं सपनेहु लख्यो न काउ॥
खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥
सिला सोप-संताप-बिगत भइ परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय चरन छुए को पछिताउ॥
भव-धनु भंजि निदरि भूपति, भृगुनाथ खाइ गए ताउ।
छमि अपराध छमाइ पायँ-परि, इतो न अनत अमाउ॥
कह्यो राज, बन दियो नारि-बस, गरि गलानि गयो राउ।
ता कुमातु को मन जोगवत ज्यों निज तनु मरम कुघाउ॥
कपि-सेवा-बस भए कनौड़े, कह्यो 'पवन-सुत आउ।
देबे को न कछू, रिनियाँ हौं, धनिक तु पत्र लिखाउ'॥
अपनाए सुग्रीव बिभीषन, तिन न तज्यो छल-छाउ।
भरत-सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ॥
निज करुना-करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ।
सकृत प्रनाम प्रनत-जस बरनत सुनत, कहत 'फिरि गाउ'॥

[विनयपत्रिका—१००]

भावों का वर्गीकरण

स्थायी

पहले कह आए हैं कि भावों के वर्गीकरण का प्रयत्न मनोविज्ञानियों ने इधर छोड़ सा दिया है। पर काव्य के प्रयोजन के लिये कोई ऐसा वर्ग-विधान अवश्य होना चाहिए जिसके आधार पर रस-विरोध तथा विरुद्ध-अविरुद्ध संचारियों की व्याख्या हो सके। भाव के लक्षण मे कहा जा चुका है कि उसमें अनुभूति संश्लिष्ट रहती है। अनुभूति दो प्रकार की हो सकती है, सुखात्मक और दुःखात्मक। इसी के अनुसार भावों के भी दो वर्ग किए जा सकते हैं—सुखात्मक और दुःखात्मक। प्रेम, उत्साह, श्रद्धा, भक्ति, औत्सुक्य, गर्व आदि के साथ सुखात्मक अनुभूति लगी रहती है इससे ये सुखात्मक हैं। शोक, क्रोध, भय, घृणा, लज्जा, उग्रता, अमर्ष, असूया, विषाद इत्यादि दुःखात्मक हैं। नीचे आठो भाव दोनों वर्गों में विभक्त करके दिए जाते हैं—

सुखात्मक वर्ग

चेतन धारणा (आलंबन) Cognition	इच्छा या संकल्प Conation	गति या प्रवृत्ति (कायिक) Tendency	लक्षण (सात्त्विक) Symptom	भाव Emo-tion
(१) रूप-गुण-युक्त व्यक्ति या वस्तु (२) चिर साहचर्य संबंध युक्त व्यक्ति या वस्तु	संयोग के आनंद की प्राप्ति की या उसे बना रहने देने का	स्पर्श, चुंबन, आलिंगन	पुलक, स्वेद, रोमांच, कंप, स्तंभ	राग
विकृत आकृति, वेष, वाणी आदि युक्त व्यक्ति	×	×	दाँत निकलना, सिर हिलना, ओठ फैलना आदि	हास
रुचिकर कर्म	कार्यपूर्ण करने का	अस्त्र पर हाथ रखना, ताल ठोंकना, ललकारना, आगे बढ़ना, द्रव्य हाथमें लेना	भुजा फड़कना	उत्साह
असाधारण व्यक्ति वस्तु या व्यापार	×	×	स्तंभ, स्थिर दृष्टि, मुँह खुलना, अवाक् होना	आश्चर्य

१३ दुःखात्मक वर्ग

चेतन धारणा (आलंबन) Cognition	इच्छा या संकल्प Conation	गति या प्रवृत्ति (कायिक) Tendency	लक्षण (सात्त्विक) Symptom	भाव Emotion
पीड़ित, गत या नष्ट इष्ट व्यक्ति या वस्तु; अथवा कोई अत्यंत अनिष्ट	दुःख के भार से मुक्त या हलके होने की	सिर छाती पीटना, भूमि पर गिरना, रोना	अश्रु, वैवर्ण्य, गद्गद् कंठ, उच्छ्वास, निश्वास	शोक
अनिष्टकारी या दुःखद व्यक्ति	उसके नाश या शासन की	आक्रमण, प्रहार, हाथ या शस्त्र तानना, कटु और तीव्र शब्द कहना, ओठ चबाना, दाँत पीसना	लाल आँखें होना, भौं चढ़ना, नथने फड़कना,	क्रोध
अनिष्टकारी या दुःखद व्यक्ति	उससे दूर हटने की	भागना, छिपना, इधर उधर ताकना	कंप, वैवर्ण्य, स्तंभ रोमांच, स्वेद,	भय
कुरूप, कुत्सित या अत्यंत अरुचिकर वस्तु	उससे दूर हटने की	आँख नाक मूँदना, नाक सुकोड़ना, कान पर हाथ रखना, थूकना, मुँह फेरना	×	जुगुप्सा

सुखात्मक वर्ग में जो चार भाव रखे गए हैं उनमें 'राग' और 'हास' के सुखात्मक होने में कोई संदेह हो ही नहीं सकता। 'उत्साह' भी सुखात्मक भाव है इसकी सूचना हर्ष, धैर्य आदि संचारी भाव भी दे रहे है और शब्दार्थ के संबंध में लोक-प्रवृत्ति भी। साधारण बोलचाल में 'उत्साह' या 'उछाह' से आनंद या आनंद की उमंग का ही अर्थ लिया जाता है। आश्चर्य के संबंध मे दो प्रश्न उठाए जा सकते हैं—

(१) क्या दुःखात्मक-अनुभव-पूर्वक इसकी प्रतीति नहीं होती ?

(२) इसे सुख और दुःख दोनों से उदासीन क्यों न कहें ?

पहले प्रश्न के संबंध मे यह कहना है कि दुःखदायी वस्तुएँ भी अद्भुत हो सकती है पर यहाँ पर आलंबन के किसी स्वरूप विशेष की सत्ता मात्र से प्रयोजन नहीं है, यहाँ तो यह देखना है कि आलंबन के किसी स्वरूप के प्रति आश्रय या श्रोता के हृदय में परिस्थिति या अवसर के विचार से किसी भाव के स्फुट रूप में उद्भूत होने की संभावना रहेगी या नहीं। किसी प्रकार के दुःख के क्षोभकारी अनुभव की दशा में चित्त को क्या इतना अवकाश मिल सकता है कि वह किसी वस्तु या व्यापार की लौकिकता अलौकिकता की ओर जमे ? मैं समझता हूँ शायद ही कभी। साहित्य के आचार्यों ने तो हर्ष को अद्भुत का संचारी कहकर 'आश्चर्य' का सुखात्मक भाव होना स्पष्ट ही कर दिया है[1]। आजकल के मनोविज्ञानियों ने भी उनके अनुकूल मत प्रकट किया है। *

---

१ [वितर्कावेगसंभ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः।

—साहित्यदर्पण, ३ २४५।]

* The cases in which there is something repugnent in an object which is at the same time felt as wonder-

दूसरी बात आश्चर्य को उदासीन मानने की है। आश्चर्य में अद्भुत वस्तु पर ध्यान का जमना ही चित्त का लगना सूचित करता है, उदासीनता नहीं। थोड़ी देर के लिये आश्चर्य की कोई उदासीन अवस्था मान भी लें तो उस अवस्था का ग्रहण काव्य में नहीं हो सकता। काव्य रसात्मक होता है, 'रस' भावमय होता है और भावों के साथ अनुभूति लगी रहती है जो या तो सुखात्मक होगी अथवा दुःखात्मक। आश्चर्य कई रंग बदलता है। यदि उसमें जिज्ञासा का भाव प्रबल होता है तो आश्चर्य की चमत्कृति, जिसमें बुद्धि की क्रिया का एकदम विराम रहता है, बहुत थोड़ी देर ठहर पाती है। बात यह है कि जिज्ञासा के अग्रसर हो जाने के कारण बुद्धि तुरंत कारण के अन्वेषण में तत्पर हो जाती है और आश्चर्य के मूल स्वरूप का अंत हो जाता है।

'हास' यों तो केवल मन का एक वेग मात्र है, पर 'भावों' में जिस हास को स्थान दिया गया है वह ऐसा है जिसके आश्रय-गत होने पर श्रोता या दर्शक को भी रस-रूप में हास की अनुभूति होती है। वह आलंबन-प्रधान होता है। यों ही प्रसन्नता के कारण (जैसे शत्रु के विरुद्ध अपनी सफलता पर) जो हँसी आती है वह 'भाव' की कोटि में नहीं—वह मन की उमंग या शरीर का व्यापार मात्र है, उसके प्रदर्शन से श्रोता या दर्शक के हृदय में हास की अनुभूति नहीं हो सकती।

---

ful and where in the repugnancy is only in part counteracted, are exceptional. The wonderful is ordinarily an object of delight. Hence it is that we find the terms 'admiration' and 'wonder' often combined. —Shand (Foundations of Character.)

हास और आश्चर्य दोनों लक्ष्यहीन होने के कारण किसी प्रकार की इच्छा, संकल्प या प्रयत्न की ओर प्रवृत्त नहीं करते। इसी से उनके द्वारा जो मनोरंजन होता है वह विश्राम-स्वरूप जान पड़ता है। हम चारपाई पर पड़े पड़े बड़े आराम के साथ लोगों पर हँस सकते हैं तथा अद्भुत और अनूठी वस्तु को आँख निकाले और मुँह बाए ताक सकते हैं। कोई विशेष इच्छा या संकल्प नहीं उत्पन्न होता जिसकी पूर्ति के निमित्त शरीर या मन को कोई प्रयास करना पड़े। मोटे आदमी जो जल्दी क्रोध, भय आदि करने का श्रम नहीं उठाने जाते मसखरापन अकसर किया करते हैं। आचार्यों ने हास्य की यही विशेषता लक्ष्य करके निद्रा और आलस्य को उसके संचारी कहा है[1]। हलके मनोरंजन के लिये, घड़ी आध घड़ी जी बहलाने के लिये, लोग प्रायः हँसी-दिल्लगी के चुटकुले सुनते या अजायबखाने की सैर को जाते हैं। काव्य के इसी प्रकार के हलके मनोरंजन की सामग्री समझे जाने पर अद्भुत चमत्कारपूर्ण फुटकल उक्तियों के कहनेवालों की गिनती बड़े बड़े कवियों में होने लगी।

शोक भी अपने विषाद आदि संचारियों के सहित प्रयत्न-शून्य दिखाई पड़ता है क्योंकि वह प्रयत्नकाल में नहीं रहता, प्रयत्न के विफल होने पर अथवा प्रयत्न द्वारा कोई आशा न होने पर ही होता है। क्रोध और भय दोनों में ध्यान देने की बात यह है कि आलंबन का स्वरूप वही रहता है—मुख्य भेद यह लक्षित होता है कि एक में अपनी सामर्थ्य की ओर ध्यान रहता है और दूसरे में दूसरे की।

१ [निद्रालस्यावहित्थाद्या अत्र स्युर्व्यभिचारिणः।

— साहित्यदर्पण, ३-२१६।]

पहले कह आए हैं कि आधुनिक मनोविज्ञानियों ने क्रोध, भय, आनंद और शोक को मूल भाव कहा है[1]। इनमें से साहित्य के 'भावों' की गिनती में आनंद को छोड़ और सब आ गए हैं। शोक के रखे जाने और आनंद के न रखे जाने का कारण क्या है? इसका एकमात्र उत्तर यही हो सकता है कि 'रस-विधान' की दृष्टि से ऐसा किया गया है। साहित्यिकों का सारा भाव-निरूपण रस के विचार से किया गया है। आश्रय के जिस भाव की व्यंजना से श्रोता या दर्शक के चित्त में भी आलंबन के प्रति वही भाव साधारण्याभिमान से उपस्थित हो सकता है उसी को रस का प्रवर्तक मानकर आचार्यों ने प्रधान भाव की कोटि में रखा है। इस बात को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए। शोक का आलंबन ऐसा होता है कि वह मनुष्य मात्र को क्षुब्ध कर सकता है, पर आनंद में यह बात नहीं है। किसी अज्ञात और अपरिचित व्यक्ति को भी प्रिय के मरण आदि पर विलाप करते सुन सुननेवालों की आँखों में आँसू आ जाते हैं, पर किसी को पुत्र-जन्म पर आनंद प्रकट करते देख राह चलते आदमी आनंद से नाच नहीं उठते। किसी के आनंदोत्सव में उन्हीं का हृदय पूर्ण योग देता है जिनसे उसका लगाव या प्रेम होता है, पर किसी के शोक में योग देने के लिये मनुष्य मात्र का हृदय प्रकृति द्वारा विवश है। इसी से आनंद को रस के प्रधान प्रवर्तक भावों में स्थान न देकर आचार्यों ने 'हर्ष' को केवल संचारी-रूप में रखा है। इस युक्तिपूर्ण विधान से उनकी सूक्ष्मदर्शिता का पता चलता है। यही कारण ईर्षा को भी प्रधान भावों मे स्थान न देने का है। यद्यपि ईर्षा विषयोन्मुख होने के कारण मनोविज्ञान की दृष्टि से 'भाव' (स्थायी **Sentiment**) ही है,

---

१ [देखिए 'भाव', पृष्ठ १६६।]

पर आश्रय किसी व्यक्ति के प्रति ईर्षा व्यंजित करके श्रोता या दर्शक को भी उक्त व्यक्ति के प्रति रस-रूप में ईर्षा का अनुभव नहीं करा सकता। प्रधान भावों के संबंध में ये मोटी मोटी बातें कहकर अब संचारियों की ओर आता हूँ।

संचारी

पाश्चात्य भाव-वेत्ता शैंड के भाव-निरूपण के अनुसार प्रत्येक भाव एक प्रकार का व्यवस्था-चक्र है जिसके साथ शेष भावों का संबंध भी अव्यक्त रूप में लगा रहता है। क्रोध, भय, आनंद और शोक जो मूल भाव कहे गए हैं उनमे से प्रत्येक का संबंध बाकी औरों से रहता है। क्रोध को ही लीजिए। उसके लक्ष्य की पूर्ति न होने पर शोक या विषाद, पूर्ति हो जाने पर आनंद, कठिनाइयाँ दिखाई देने पर पूर्ति न होने की आशंका तक हो सकती है। भूतों के पंच-पंचीकरण[१] की सी व्यवस्था समझिए।

भारतीय साहित्यिकों की स्थायी-संचारी-व्यवस्था भी संबंध-व्यवस्था ही है, पर विशेष प्रकार की। वह अधिकार-व्यवस्था

---

१ [वेदांतसार के अनुसार प्रत्येक स्थूल भूत में शेष चार भूतों के अंश भी वर्तमान रहते हैं। भूतों की यह स्थूल स्थिति पंचीकरण द्वारा होती है जो इस प्रकार होता है। पाँचों भूतों को पहले दो बराबर बराबर भागों में विभक्त किया, फिर प्रत्येक के प्रथमार्ध को चार चार भागों में बाँटा। फिर इन सब बीसों भागों को लेकर अलग रखा। अंत में एक एक भूत के द्वितीयार्ध में इन बीस भागों में से चार चार भाग फिर से इस प्रकार रखे कि जिस भूत का द्वितीयार्ध हो उसके अतिरिक्त शेष चार भूतों का एक एक भाग उसमें आ जाय।

—हिंदी शब्द-सागर, 'पंचीकरण' के अंतर्गत।]

के रूप में है। मनोविज्ञानियों की ऊपर लिखी संबंध-व्यवस्था में मूल या जनक भाव स्वप्रवर्तित अन्य भाव के उदय के समय अपना स्वरूप विसर्जित कर देता है। जैसे, जिससे हमारा प्रेम है उसे पीड़ित करनेवाले पर जिस समय हमें क्रोध आएगा उस समय रति-भाव की अनुभूति के लिये कोई अवकाश चित्त में न रहेगा। पर साहित्य में रति के जो संचारी कहे गए हैं उनके प्रतीति-काल में रति का आभास बना रहेगा। नायिका मान-समय में जो क्रोध प्रकट करेगी वह ऐसा बलवान् न होगा कि 'रति-भाव' को सर्वथा हटा सके। अब देखना यह चाहिए कि वह व्यवस्था क्या है जिसके अनुसार 'भावों' को ऐसा अविचल पद प्राप्त रहता है कि स्वप्रवर्तित आगंतुक भावों के आ जाने से भी उनका स्वरूप सर्वथा तिरोहित नहीं होता। मनोविज्ञानियों के संबद्ध भावों की आलोचना करने से प्रकट होता है कि उनके विषय यदि प्रवर्तक भाव के आलंबनों से भिन्न हों तो भी आश्रय का ध्यान मुख्यतः उन्हीं की ओर रहता है। पर संचारियों का विषय यदि प्रधान भाव के आलंबन से भिन्न हुआ तो भी उनकी ओर ध्यान मुख्यतः नहीं होता, अर्थात् वे विषय आलंबन नहीं कहे जा सकते। इसी आलंबन की स्थिरता के आधार पर भारतीय साहित्यिकों ने 'भाव' की अविचलता या स्थायित्व को खड़ा किया है। आलंबन ही वह कील है जिससे प्रधान भाव हटने नहीं पाता।

विरोध-अविरोध के विचार से संचारियों के चार भेद किए जा सकते हैं—सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक और उदासीन।

सुखात्मक	दुःखात्मक	उभयात्मक	उदासीन
गर्व, औत्सुक्य, हर्ष, आशा, मद, संतोष, चपलता, मृदुलता, धैर्य	लज्जा, असूया, अमर्ष, अवहित्था, त्रास, विषाद, शंका, चिंता, नैराश्य, उग्रता, मोह, अलसता, उन्माद, असंतोष, ग्लानि, अपस्मार, मरण, व्याधि	आवेग, स्मृति, विस्मृति, दैन्य, जड़ता, स्वप्न, चित्त की चंचलता	वितर्क, मति, श्रम, निद्रा, विबोध

सुखात्मक भावों के साथ सुखात्मक संचारी और दुःखात्मक भावों के दुःखात्मक संचारी परस्पर अविरुद्ध होंगे। इसी प्रकार सुखात्मक भाव के साथ दुःखात्मक संचारी और दुःखात्मक के साथ सुखात्मक संचारी विरुद्ध होंगे। उभयात्मक संचारी सुखात्मक भी हो सकते हैं और दुःखात्मक भी; जैसे, आवेग हर्ष में भी हो सकता है और भय आदि से भी। भाव के साथ जो विरोध-अविरोध ऊपर कहा गया है वह जातिगत है अर्थात् सजातीय विजातीय का विरोध है। इसके अतिरिक्त आश्रयगत और विषयगत विरोध जिस भाव या वेग से होगा वह संचारी हो ही नहीं सकता। जैसे, क्रोध के बीच बीच में आलंबन के प्रति यदि शंका, त्रास या दया आदि मनोविकार

प्रकट होते हुए कहे जायँ तो उनसे क्रोध की पुष्टि न होगी। यही बात युद्धोत्साह के बीच में त्रास आदि के होने से होगी। अतः ये मनोविकार क्रोध और उत्साह के संचारी नहीं हो सकते। कारण यह कि क्रोध के बीच में यदि शंका या त्रास हो जाय तो जितने काल तक शंका या त्रास की स्थिति रहेगी उतने काल तक क्रोध का अस्तित्व न माना जायगा। सारांश यह कि किसी भाव को पुष्ट करनेवाला मनोविकार ही संचारी हो सकता है और पुष्ट करनेवाला मनोविकार वही होगा जो भाव के लक्ष्य और प्रवृत्ति से हटानेवाला न होगा।

एक बार इस बात का फिर स्मरण कर लेना चाहिए कि स्थायी दशा को प्राप्त होने पर भी भाव का मूल स्वरूप बीच बीच में अवसर या उत्तेजन पाकर उदित हुआ करता है। स्थायी दशा के बीच बीच में मूल स्वरूप के इस स्थिति-काल को हम भाव-दशा भी कहेंगे। जैसे, नायक के प्रति राग के रति-रूप में स्थायी हो जाने पर जिस प्रकार हर्ष, अमर्ष आदि संचारी भाव प्रकट होंगे वैसे ही कभी कभी नायक के मिलने पर भाव का मूल स्वरूप भी अपनी निज की प्रवृत्ति (आलिंगन,चुंबन आदि) के सहित प्रकट हुआ करेगा। इसी प्रकार जिससे बैर होगा उस पर समय समय पर क्रोध भी हुआ करेगा। भाव के मूल स्वरूप के इस उदयकाल में केवल अविरुद्ध संचारी ही प्रकट हो सकते हैं। विरुद्ध संचारी जब प्रकट होंगे तब अकेले, भाव के मूल स्वरूप के साथ कभी नहीं। अतः जहाँ विरुद्ध संचारी हों वहाँ तो चट,बिना किसी सोच-विचार के,स्थायी दशा समझ लेनी चाहिए। पर स्थायी दशा ऐसी भी होती है जिसमें भाव का मूल स्वरूप स्फुट नहीं होता, केवल अविरुद्ध संचारी के अनुभाव आदि द्वारा ही भाव की भी व्यंजना हो जाती है। जैसे, नायक के दर्शन से पुलक होना मात्र ही यदि कह दिया

सुनकर दर्शक या श्रोता भी उन्हीं भावों का सा अनुभव कर सकते हैं वे तो प्रधान भावों में रखे गए हैं, शेष भाव और मन के वेग संचारियों में डाले गए हैं। जैसे, किसी आलंबन के प्रति आश्रय को शोक या क्रोध प्रकट करते देख उस आलंबन के मर्म-स्पर्शी स्वरूप और 'भाव' की विशद व्यंजना के बल से श्रोता या दर्शक को उक्त दोनों भावों का रस-रूप में परिणत अनुभव होता है, अतः वे प्रधान भावों की श्रेणी में रखे गए। पर आश्रय को किसी बात की शंका, किसी से ईर्ष्या, किसी पर गर्व, किसी से लज्जा प्रकट करते देख श्रोता या दशक को भी शंका, ईर्ष्या, गर्व, लज्जा आदि का अनुभव न होगा, दूसरे भावों का हो तो हो। इसी से ये भाव प्रधान न माने जाकर संचारी माने गए हैं। पर इससे यह मतलब नहीं कि ये भाव सदा प्रधान भावों के द्वारा प्रवर्तित होकर अनुचर के रूप में ही आया करते हैं, स्वतंत्र रूप में आते ही नहीं। ये स्वतंत्र रूप में अपने निज के अनुभवों के सहित भी आते हैं पर पूर्ण रस की अवस्था को नहीं प्राप्त होते—अर्थात् ऐसी दशा को नहीं पहुँचते जिसमें श्रोता या दर्शक भी आश्रय में उनकी विशद व्यंजना देख उनका अनुभव हृदय में करने लगें और समान अनुभाव प्रकट करने लगें। सारांश यह कि प्रधान (प्रचलित प्रयोग के अनुसार स्थायी) भाव वही कहा जा सकता है जो रस की अवस्था तक पहुँचे—

रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते।

[—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद।]

नियत प्रधान भावों के स्वरूप-निर्धारण के लिये 'रसावस्था' का वही अर्थ लेना चाहिए जो ऊपर कहा गया है। "विभाव, अनुभाव और संचारो तीनों के मेल से जिसकी व्यंजना हो

सके"[1] यह प्रचलित अर्थ लेने से कुछ काम तो निकल जाता है पर प्रधानता के स्वरूप का ठीक ठीक निर्देश नहीं होता। इस अर्थ को ग्रहण करने से यही पहचान मिलती है कि जो सचारी होंगे उनकी व्यंजना में तीनों का मेल नहीं होगा, कोई उपादान खंडित रहेगा। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि संचारियों में जो भाव गिनाए गए हैं उनकी व्यंजना अनुभाव द्वारा भी प्रायः होती है। अतः कमी पड़ेगी तो संचारी की—अर्थात् जो नियत संचारी हैं, इस लक्षण के अनुसार, स्वतंत्र या प्रधान रूप से आने पर भी वे संचारी से रहित होंगे। इस संबंध में दो बातें कहनी हैं -

(१) जो भाव संचारियों में गिनाए गए हैं 'उनके प्रधान या स्वतंत्र रूप से आने पर उनके अंतर्गत भी संचारी भाव आ सकते हैं। लज्जा को लीजिए। इसमें जिस व्यक्ति से लज्जा होगी वह आलंबन और उसका ताकना झाँकना उद्दीपन, सिर झुकाना आदि अनुभाव और अवहित्था संचारी कही जा सकती है। इसी प्रकार असूया या ईर्ष्या के अंतर्गत अमर्ष संचारी होकर आ सकता है।

(२) इससे सिद्ध हुआ कि किसी भाव की "विभाव, अनुभाव और संचारी के मेल से व्यंजना" ही श्रोता या दर्शक में उस भाव का अनुभव नहीं करा सकती अर्थात् पूर्ण रस की निष्पत्ति नहीं कर सकती। तीनों संयोजकों द्वारा लज्जा की व्यंजना देखने से श्रोता या दर्शक के मन के सामने लज्जा का पूर्ण स्वरूप भर खड़ा होगा, हृदय में लज्जा का अनुभव न उत्पन्न होगा।

---

१ [विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

—नाट्यशास्त्र, षष्ठाध्यायः।]

उपर्युक्त विवेचन से यह परिणाम निकला कि 'भावों' के स्वरूप के भीतर ही वह वस्तु है जिसके अनुसार प्रधान और संचारी का विभाग हो जाता है। वह वस्तु है आलंबन। आलंबन या तो सामान्य होता है या विशेष। जो सामान्य आलंबन होगा उसके प्रति मनुष्य मात्र का—कम से कम सहृदय मात्र का—वही भाव होगा जो आश्रय का है। जो विशेष आलंबन होगा उसके प्रति श्रोता या दर्शक स्वभावतः उसी भाव का अनुभव न करेगा जिसे व्यंजित करता हुआ आश्रय दिखाया गया है—दूसरे 'भाव' का अनुभव वह कर सकता है। इस विभेद को ध्यान में रखकर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रधान भावों की गिनती में वे ही भाव रखे गए हैं जिनके आलंबन 'सामान्य' हो सकते हैं। शेष भाव या मनोवेग संचारियों की श्रेणी में डाले गए हैं क्योंकि उनमें से किसी किसी के स्वतंत्र विषय होंगे भी तो भी श्रोता या दर्शक का ध्यान उनकी ओर प्रवृत्त नहीं रहेगा।

गिनाए हुए संचारियों की सूची से ही पता चल जाता है कि उनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। संचारी के अंतर्गत 'भाव' के पास तक पहुँचनेवाले अर्थात् स्वतंत्र विषययुक्त और लक्ष्ययुक्त मनोविकार और मन के क्षणिक वेग ही नहीं बल्कि शारीरिक और मानसिक अवस्थाएँ तथा स्मरण, वितर्क आदि अंतःकरण की और वृत्तियाँ भी आ गई हैं—

स्वतंत्र विषयः युक्त भाव	मन के वेग	अन्य अन्तः-करण-वृत्ति	मानसिक अवस्था	शारीरिक अवस्था
गर्व, लज्जा, असूया।	आवेग, अमर्ष, अवहित्था, औत्सुक्य, त्रास, हर्ष, विषाद।	शंका, स्मृति, मति, चिंता, वितर्क। (आशा), (नैराश्य (विस्मृति)	दैन्य, मद, जड़ता, उग्रता, मोह, स्वप्न, अलसता, उन्माद, संतोष, चपलता, निर्वेद। (मृदुलता), धैर्य, असंतोष, ग्लानि	श्रम, अपस्मार, मरण, निद्रा, विबोध, व्याधि।

स्वतंत्र विषयवाले भाव

इनमें तीन मनोविकार ही ऐसे है जिनके विषय प्रधान भाव के आलंबन से स्वतंत्र हो सकते हैं—गर्व, लज्जा और असूया। इनके विषयों का विचार करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि विषय या आलंबन 'भाव' का कारण नहीं है। जैसे, किसी के साथ हम बुराई कर चुके रहते हैं तो उसे सामने पाकर हम लज्जित होते हैं। अतः बुराई तो हुई हमारी लज्जा का कारण; जिसे सामने पाकर हम लज्जित होते हैं वह हुआ विषय। जिससे हम ईर्ष्या रखते हैं वह है विषय; उसके गुण, धन, वैभव आदि है कारण। जिस पर हम गर्व प्रकट करते है वह हुआ विषय और हमारा गुण, वैभव, शक्ति आदि कारण। रति, क्रोध आदि प्रधान भावों के आलंबनों के संबंध में भी यही समझना चाहिए। जैसे, नायिका आलंबन, और उसका रूप, गुण आदि कारण, अनिष्टकारी व्यक्ति आलंबन और अनिष्ट कारण, मृत या पीड़ित व्यक्ति आलंबन और उसकी मृत्यु, पीड़ा आदि कारण कहे जायँगे। इसी प्रकार और भी समझिए। कारण आधेय होता है और विषय आश्रय-आधार। लज्जा, ईर्ष्या और गर्व के यद्यपि स्वतंत्र विषय होते हैं पर उनकी ओर उतना ध्यान नही रहता जितना कारणों की ओर रहता है। 'आश्रय' का ध्यान तो कुछ रहता भी है, पर श्रोता या दर्शक का ध्यान कुछ भी नहीं रहता। अतः स्वतंत्र विषय रखने पर भी ये आलंबन प्रधान नहीं हैं। इनके विषय आलंबन-पद प्राप्त नहीं होते। आलंबन वही विषय कहा जा सकता है जिसके प्रत्यय का बोध प्रधान होकर बना रहे। अतः आलंबन प्रधान भावों के ही विषय को कह सकते हैं। गर्व लज्जा के संबंध में यह बात ध्यान देने की है

कि उनमें कारण विषयगत नहीं होता, आश्रयगत होता है। इसी से पाश्चात्य मनोविज्ञानियों ने गर्व को 'ममत्व' (Self-love) के अंतर्गत रखा है जो उनकी व्यवस्था के अनुसार 'स्थायी भाव' है। हमारी प्रस्तावित व्यवस्था के अनुसार गर्व या अभिमान शीलदशा को ही प्राप्त पाया जाता है। ऐसा शायद ही होता हो कि कोई किसी एक ही व्यक्ति से समय समय पर शेखी किया करता हो।

मन के वेग

अब रहे मन के वेग। ये स्वतंत्र रूप में बहुत कम आते हैं अधिकतर किसी 'भाव' के कारण उत्पन्न होकर उसी के अंतर्गत उद्भूत और विलीन होते हैं। जैसे, भय, आश्चर्य, हर्ष आदि के कारण आवेग, लज्जा के कारण अवहित्था, रति के कारण औत्सुक्य, शोक, दुःख आदि के कारण ग्लानि, साथ साथ उत्पन्न होती हैं। हर्ष और विषाद के मूल में भी व्यक्त या अव्यक्त रूप में रति, शोक, जुगुप्सा आदि भाव रहते हैं क्योंकि इष्ट या प्रिय तथा अनिष्ट या अरुचिकर की प्राप्ति से ही हर्ष और विषाद का संबंध रहता है।

अमर्ष, त्रास, हर्ष और विषाद तो क्रोध, भय, राग और शोक के ही आलंबन-निरपेक्ष तथा लक्ष्य या संकल्प-विहीन अवयव हैं जो कभी तो प्रधान भावों के साथ संचारी रूप में आते हैं और कभी स्वतंत्र रूप में। निंदा, अपमान आदि के असहन से उत्पन्न क्षणिक क्षोभ मात्र का नाम 'अमर्ष' है—जिसके बाह्य चिह्न आँखें लाल होना, त्योरी चढ़ना, तर्जन आदि हैं[1]। किसी

१ [निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता।
नेत्ररागशिरःकम्पभ्रूभङ्गोत्तर्जनादिकृत् ॥ —साहित्यदर्पण ३·१२६।]

शब्द या रूप के गोचर होने पर एकबारगी कँपा या चौंका देनेवाला वेग 'त्रास' है[1] जिसमें न तो विषय की स्फुट धारणा रहती है, न लक्ष्य-साधन की ओर गति। आरंभ में ही दिखाया जा चुका है कि यह भय का प्रत्यय-बोध-शून्य आदिम वासनात्मक रूप है जो पूर्ण समुन्नत अंतःकरण न रखनेवाले क्षुद्र जंतुओं में होता है और मनुष्य आदि उन्नत प्राणियों में भी किसी किसी अवसर पर देखा जाता है[2]। जिस वेग की प्रेरणा से लोग एकबारगी कर्तव्य शून्य होकर हार मानकर बैठ जाते हैं वह 'विषाद' है[3]। जैसे, मेघनाद का बध सुनकर रावण को हुआ था। प्रायः ऐसा होता है कि इस आलंबन-नरपेक्ष वेग के उदय के पीछे आलंबन-प्रधान भाव 'शोक' स्फुरित होता है। त्रास और अमर्ष के संबध में भी अधिकतर ऐसा ही होता है। कोई व्यक्ति यदि पास ही घोड़ों की टाप सुने तो एकबारगी चौंककर काँप उठेगा ; फिर शत्रु को सामने पाकर 'भय' नामक भाव का अनुभव करेगा। अमर्ष में भी ऐसा होता है कि पहले किसी का कटु वचन सुनते ही हम क्षुब्ध हो जाते हैं फिर उस कटु वचन कहनेवाले की ओर प्रवृत्त होते हैं। इसी प्रकार राग की पूर्ण अभिव्यक्ति भी हर्ष के उपरांत होती है। पहले नायिका को देख नायक हर्षित होकर तब आलिंगन आदि की ओर प्रवृत्त होता है। अतः संचारियों का यह सामान्य लक्षण लेकर कि वे प्रधान

---

१ [निर्घातविद्युदुल्काद्यैस्त्रासः कम्पादिकारकः ॥
—साहित्यदर्पण, ३-१६४]

२ [देखिए ऊपर पृष्ठ १६२।]

३ [उपायाभावजन्मा तु विषादः सत्वसंक्षयः।
—साहित्यदर्पण, ३-१६७]

भाव के कारण होते हैं यह शंका उठाई जा सकती है कि जो जिसका कारण है वह उसके पीछे कैसे उत्पन्न हो सकता है। अमर्ष, त्रास, हर्ष और विषाद चारों के संबंध में ऊपर ही जो यह कह दिया गया कि ये क्रोध, भय, राग और शोक के ही अवयव हैं उसी में इसका समाधान मौजूद है। अंगी का कोई अंग प्रधान या लक्षक अंग के पहले प्रकट हो सकता है। सारांश यह कि संचारी रूप में अमर्ष, त्रास, हर्ष और विषाद का क्रोध आदि के साथ कार्य-कारण-संबंध नहीं है अंगांगिभाव-संबंध है। साहित्य के आचार्यों ने क्रोध, राग, भय और शोक के इन आलंबन-निरपेक्ष शुद्ध वेग-रूप अवयवों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति भी देख इनको अलग करके संचारियों में रख लिया। भावों और उनके इन अवयवों के अनुभावों को चाहें तो हम अलग कर सकते हैं। उन अवयवों के उदय तक केवल सात्त्विक अनुभाव रहेंगे; भाव का उदय हो जाने पर कायिक अनुभाव होंगे।

उक्त चारों वेगों के जो स्वरूप ग्रंथों में बताए गए हैं उनसे भी इस बात का पूरा संकेत मिल जाता है कि वे क्रोध, भय, राग और शोक के ही अवयव हैं। अमर्ष में नेत्र-राग, शिरःकंप, भ्रूभंग और तर्जन का होना; त्रास में कंपादि होना; हर्ष में अश्रु, पुलक आदि का होना[1] और विषाद में निःश्वास, उच्छ्वास आदि होना कहा गया है[2]। ये सब व्यापार क्रमशः क्रोध, भय, राग और शोक के अनुभावों में पाए जायँगे। संचारियों के जो बाह्य चिह्न साहित्य-ग्रंथों में बताए गए हैं वे एक प्रकार से उनके अनुभाव ही हैं।

---

१ [हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनःप्रसादोऽश्रुगद्गदादिकरः।—साहित्य० ३ १६५]

२ [निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत्।—साहित्य० ३-१६७]

अन्य अंतःकरण-वृत्तियाँ

अब स्मृति, चिंता, वितर्क, मति आदि अंतःकरण की अन्य वृत्तियों को लीजिए जो रागात्मिका नहीं हैं। किसी बात का स्मरण करना, चिंता करना, तर्क-वितर्क करना ये सब मन के वेग नहीं हैं ; धारणा, बुद्धि आदि के व्यापार हैं जो वेदपाठियों, तार्किकों, मीमांसकों आदि में पूर्ण रूप में देखे जाते हैं। फिर इनका ग्रहण काव्य में कैसे हुआ ? काव्य में इनका ग्रहण वहीं तक समझना चाहिए जहाँ तक वे प्रत्यक्ष रूप में भावों के द्वारा प्रेरित प्रतीत होते हों। 'प्रत्यक्ष रूप में' कहने का अभिप्राय यह है कि भाव प्रधान रूप से परिस्फुट हो जिससे श्रोता या दर्शक का ध्यान 'भाव' पर रहे, इन अंतःकरण व्यापारों और इनके ब्योरों पर नहीं। परोक्ष रूप मे तो मनुष्य के सारे व्यापार और वृत्तियाँ भाव-व्यवस्था के अनुसार परिचालित होती हैं। मतलब यह कि 'भाव' की प्रधानता स्पष्ट रहनी चाहिए। उसे इस प्रकार व्यंजित होना चाहिए कि उक्त अंतःकरण-वृत्तियों की सत्ता उसी की सत्ता के भीतर दिखाई पड़े।

शील के आधार-निरूपण में शैंड ने भी संकल्पात्मिका और निश्चयात्मिका वृत्ति (बुद्धि) को 'भावों' के शासन के भीतर लाकर विचार किया है। उन्होंने इस बात को मानते हुए भी कि मनुष्य की रागात्मक सत्ता से परे समष्टि-रूप एक आत्मसत्ता भी है जो भिन्न भिन्न 'भावों' की प्रवृत्तियों को दबाकर कभी कभी कर्म-विवेक करती है, शील के वैज्ञानिक आधार-निरूपण में उसका विचार निष्प्रयोजन ठहराया है। प्रायः सब देशों के तत्त्वज्ञ महात्मा 'राग' और 'विवेक' को परस्पर विरोधी कहकर रागों के दमन का उपदेश करते आए हैं। पर यदि ऐसा विरोध

हो भी तो उसका विचार न करके जहाँ बुद्धि या विवेक अपनी परमावस्था को प्राप्त होकर कर्म-निर्णायक के रूप में दिखाई पड़े वहाँ भी मूल प्रेरक या प्रवर्तक 'सत्य-प्रेम' नामक स्थायी भाव को ही मानना चाहिए। रति भाव के आलंबन मनुष्य या प्राणी ही नहीं 'सत्य', 'धर्म' आदि अरूप पदार्थ भी हो सकते हैं, यह पहले कहा जा चुका है[1]। अतः शील की वैज्ञानिक व्याख्या के लिये यह सिद्धांत स्वीकार करके चलना पड़ेगा कि "समस्त संकल्पात्मिका और निश्चयात्मिका वृत्तियाँ किसी 'भाव' या मनोवेग द्वारा प्रेरित होती हैं और उसके शासन में रहकर उसके लक्ष्य के अनुकूल चलती हैं।"*

---

१ [देखिए ऊपर पृष्ठ १७० ।]

* Our personality does not seem to be the sum of the dispositions of our emotions and sentiments. These are our many selves ; but there is also our one self. This enigmatical self which reflects on their systems, estimates them, and, however loath to do it, sometimes chooses between their ends, seems to be the central fact of our personality. If this be the fact, it is not the kind of fact which we can take into account. The science of character will be the science of our sentiments and emotions—of these many selves, not of this one self. The working assumption of our science must be the acceptance of this law—"All intellectual and voluntary processes are elicited by the system of some impulse, emotion or sentiment and subordinated to its end." —Shand (Foundations of Character).

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मति, शंका, वितर्क आदि यदि किसी भाव के कारण उत्पन्न हों और वह भाव स्पष्ट रूप से व्यंजित होता हो तभी उनका ग्रहण काव्य में हो सकता है। यों ही प्रसंग आने पर कोई बात सोचने लगना या किसी बात का स्मरण करना काव्य-भावांतर्गत न होगा। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

स्मृति—(क) जहाँ जहाँ ठाढ़े लख्यो स्याम सुभग-सिरमौर।
उनहूँ बिन छिन गहि रहत दृगनि अजौं वह ठौर॥
[बिहारी-रत्नाकर, १८२।]

(ख) मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर॥
[बिहारी-रत्नाकर, ६८१।]

मति—असशयं क्षत्र-परिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
[अभिज्ञानशाकुंतल, प्रथम अंक, २१।]

चिंता—जब तें इत तें घनश्याम सुजान अचानक ही बल संग सिधारे।
कर पै मुख-चंद धरे सजनी नित सोचति है तू कहा मन मारे॥[1]

वितर्क—(क) जौ हौं कहौं रहिए तौ प्रभुता प्रगट होति,
चलन कहौं तौ हित-हानि नाहि सहनै। [कविप्रिया, १०-२०।]

(ख) किं रुद्धः प्रियया कदाचिदथवा सख्या ममोद्वेजितः।
किंवा कारणगौरवं किमपि यन्नाद्यागतो वल्लभः॥
[साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, विरहोत्कंठिता।]

---

१ [साहित्यदर्पण में उदाहृत प्राकृत की निम्नलिखित गाथा से मिलाइए—
कमलेण विअसिएण संजोएन्ती विरोहिण ससिबिम्बम्।
करअलपल्लत्थमुही किं चिन्तसि सुमुहि अन्तराहिअहिअआ॥
कमलेन विकसितेन संयोजयन्ती विरोधिनं शशिनम्।
करतलपर्यस्तमुखी किं चिन्तयसि सुमुखि, अन्तराहितहृदया॥
—तृतीय परिच्छेद, श्लोक १७१।]

इन उदाहरणों में मूल में रति भाव व्यंजित है। यह ऊपर कह आए हैं कि धारणा, बुद्धि आदि के ये व्यापार 'भाव' की स्थायी दशा में ही होते हैं, भावदशा में नहीं। जैसे, यदि उक्त चारों वृत्तियाँ संचारी होकर आएँगी तो क्रोध की भावदशा में नहीं, 'बैर' नामक उसकी स्थायी दशा में ही आएँगी। अनिष्ट-कारी के संबंध में यदि क्रोध स्थायी दशा को प्राप्त होगा तो समय समय पर उसके द्वारा किए हुए अनिष्ट का स्मरण, 'यह उसी का काम है और किसी का नहीं' इस प्रकार का निश्चय, वह हाथ में नहीं आ रहा है इसकी चिंता, वह कहीं भाग गया या यहीं छिपा हुआ है इस प्रकार का वितर्क हुआ करेगा।

'शंका' तो भय का ही वितर्क-प्रधान रूप है जो आलंबन के दूरस्थ होने पर प्रकट होता है। इसमें वेग नहीं होता और न आलंबन उतना स्फुट होता है। इसका प्रादुर्भाव या तो स्वतंत्र रूप में होता है अथवा भय की स्थायी दशा में; भावदशा में नहीं होता जब कि अनिष्टकारी या अनिष्ट बिलकुल पास आया रहता है। भूषण में 'शंका' के बहुत से उदाहरण मिलते हैं, जैसे—

(क) बीजापूर, गोलकुंडा, आगरा, दिल्ली के कोट
बाजे बाजे रोज दरवाजे उघरत हैं।
[भूषणग्रंथावली, शिवाबावनी, ३०।]

(ख) चौकि चौकि चकता कहत चहूँघा तें यारो,
लेत रहौ खबरि कहाँ लौं सिवराज है। [वही, छंद २४।]

'वितर्क' और 'शंका' में भेद यह है कि वितर्क में अनुमान का व्यभिचार इष्ट और अनिष्ट दोनों पक्षों में बारी बारी से हो सकता है, पर 'शंका' में 'भय' के लेश के कारण अनुमान अनिष्ट पक्ष में ही जाया करता है। वाल्मीकिजी ने एक ही प्रसंग में

दोनों के उदाहरण बहुत ही स्पष्ट दिए हैं। मारीच को मार आश्रम की ओर लौटते हुए रामचंद्रजी इस प्रकार शंका प्रकट करते हैं—

दुःखिता खरघातेन राक्षसाः पिशिताशनाः।
तैः सीता निहता घोरैर्भविष्यति, न संशयः॥

[वाल्मीकीय रामायण, सर्ग ५८, श्लोक १६।]

आश्रम में जानकी को न पाकर रामचंद्रजी इस प्रकार वितर्क करते हैं—

हृता मृता वा नष्टा वा भक्षिता वा भविष्यति।
निलीनाऽप्यथवा भीरुरथवा वनमाश्रिता॥
गता विचेतुं पुष्पाणि, फलान्यपि च वा पुनः।
अथवा पद्मिनीं याता, जलार्थं वा नदीं गता॥

[वही, सर्ग ६०, श्लोक ८-९।]

गोस्वामीजी ने राम के वनवास की अवधि बीतने पर भरत का वितर्क दिखाया है। वह संचारी का बहुत अच्छा उदाहरण है, राम के प्रेम में भरत मग्न हैं। उनके नयन-जलजात भी स्रवते हैं, उन्हें सगुन जानकर हर्ष भी होता है और वे इस प्रकार वितर्क भी करते हैं—

कारन कौन नाथ नहि आए। जानि कुटिल प्रभु मोहि बिसराए। आदि

[रामचरितमानस, सप्तम सोपान, १।]

अन्य अंतःकरण-वृत्तियों में जिस प्रकार भय-लेश-युक्त ऊहा 'शंका' रखी गई है उसी प्रकार हर्ष-लेश-युक्त ऊहा 'आशा' और विषाद-लेश-युक्त ऊहा 'नैराश्य' को भी रख सकते हैं। जो ३३ संचारी कहे गए हैं वे उपलक्षण मात्र है, संचारी और

भी हो सकते हैं। जिस प्रकार स्मृति है उसी प्रकार 'विस्मृति' भी रखी जा सकती है।

मानसिक अवस्थाएँ

दैन्य, मद, जड़ता, चपलता इत्यादि मानसिक अवस्थाएँ दो प्रकार की होती हैं—प्रकृति-गत और आगंतुक। आगंतुक रूप में ही वे संचारी होती हैं क्योंकि उनका किसी 'भाव' के कारण प्रकट होना स्पष्ट रहता है। किसी मानसिक अवस्था की एक स्थिर प्रणाली का प्रकृतिस्थ हो जाना मूल में चाहे किसी 'भाव' के कारण ही हो पर अभिव्यक्ति-काल में उक्त भाव के साथ उस अवस्था का प्रत्यक्ष संबंध न दिखाई देने से वह स्वतंत्र ही कही जायगी। इस प्रकार की प्रकृतिगत मानसिक अवस्थाएँ रस की बँधी लीक पीटनेवाले फुटकरिये कवियों के काम की चाहे न हों पर चरित्र-चित्रण में बड़े मतलब की हैं। किसी सीधे सादे सज्जन के दैन्य भाव, किसी दुष्ट की स्वाभाविक उग्रता, बालकों की चपलता, ज्ञानियों की धीरता इत्यादि देखने सुनने से श्रोता या दर्शक का मनोरंजन ही नहीं होता बल्कि सज्जन, दुष्ट, बालक, ज्ञानी, आलसी इत्यादि के ठीक ठीक स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण होता है जिससे इन भिन्न भिन्न प्रकार के व्यक्तियों के प्रति उपयुक्त भावों की प्रतिष्ठा होती है। जो ज्ञानियों और सज्जनों पर श्रद्धा, दुष्टों से घृणा, बालकों से स्नेह और आलसियों से विरक्ति या उपहास का भाव रखने में अभ्यस्त हो गया उसके चरित्र के सुधरने मे कसर ही क्या रह गई? मतलब यह कि इन मानसिक अवस्थाओं को 'शीलदशा' में देखकर प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को उत्तेजना मिलती है।

भावों के प्रत्यक्ष संबंध से संचारियों के रूप में इन मानसिक अवस्थाओं की जहाँ अभिव्यक्ति होती है वहाँ उनमें प्रधान 'भावों' के प्रभाव से बहुत कुछ वेग आ जाता है। जैसे, भय के कारण जो दैन्य होगा वह इतना प्रबल होगा कि मानापमान का भाव बिलकुल दबा रहेगा और दीनता दिखलानेवाला व्यक्ति दस आदमियों के सामने भय के आलंबन से हाथ जोड़ेगा, गिड़गिड़ायगा और अपने को तुच्छातितुच्छ बनाएगा। ऐसे स्थल पर ध्यान प्रधानतः भय की ओर ही रहेगा, दैन्य की ओर नहीं। लोग यही कहेंगे कि यह डर के मारे गिड़गिड़ा रहा है। इसी प्रकार भक्ति (जो बड़ों के प्रति पूज्यबुद्धि-मिश्रित रति ही है) के उद्रेक से अर्थात् पूज्य के अलौकिक महत्त्व के ध्यान में लीन होने से अपनी लघुता की जो सुखद अनुभूति* होती है उसमें भी बहुत कुछ जोर रहता है। भक्तवर गोस्वामी तुलसीदासजी ने दोनों प्रकार के 'दैन्य' का परिचय दिया है—प्रकृतिगत का भी और भावाश्रित का भी। रामचरितमानस की भूमिका में वे अपनी दीन प्रकृति का इस प्रकार उल्लेख करते हैं—

छमिहहि सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल-बचन मन लाई॥
कबि न होउँ, नहिं बचन-प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥

अपने इष्टदेव के महत्त्व के अनुभव से प्रेरित 'दैन्य' के जो पवित्र उद्गार उनके भक्तिपूर्ण अंतःकरण से निकले हैं वे भक्ति के अभ्यास का मार्ग दिखानेवाले हैं—

---

* बड़ो सुख कहत बड़े सों, बलि, दीनता।—तुलसी।

[विनय-पत्रिका, २६२।]

(क) जब लगि मैं न दीन, दयालु तैं ; मैं न दास, तैं स्वामी।
तब लगि जो दुख सहेउँ कहेउँ नहि जद्यपि अंतरजामी॥
तैं उदार, मैं कृपन ; पतित मैं, तैं पुनीत श्रुति गावै।
[विनय-पत्रिका, ११३।]

(ख) राम सों बड़ो है कौन ? मो सों कौन छोटो ?
राम सों खरो है कौन ? मो सों कौन खोटो ?
[विनय-पत्रिका, ७२।]

भक्तिपूर्ण अंतःकरण से किस प्रकार मान-अपमान का भाव निकल जाता है, देखिए—

लोग कहैं पोचु सो न सोचु न सँकोचु मेरे,
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।
तुलसी अकाज काज राम ही के रीझे खीझे
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं॥
[विनय-पत्रिका, ७६।]

'मद' नामक अवस्था या तो मद्यपान आदि के कारण होती है अथवा प्रेम की उमंग या अभिमान आदि के कारण[1]। दांपत्य रति के वेग से उत्पन्न मद के उदाहरण तो लक्षण-ग्रंथों में मिलते हैं। पर अभिमान के जोर करने पर भी लोग बहँकी बहँकी बातें करते हैं, भले-बुरे का ध्यान नहीं रखते, किसी की कुछ सुनते नहीं, जो जी में आता है कहते करते हैं। इससे स्पष्ट है कि 'मद' गर्व का भी संचारी होकर आता है। यह तो दिखाया ही जा चुका है कि संचारियों के पाँच वर्गों में से प्रथम वर्ग में जो तीन आलंबन-युक्त भाव हैं वे संचारियों के सहित भी आ सकते हैं।

---

१ [सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगजः॥ —साहित्यदर्पण, ३ १४६।]

जिस 'जड़ता' का विचार रस-निरूपण में हुआ है वह किसी भाव के उद्रेक से अंतःकरण की बोधात्मक क्रिया का कुछ काल के लिए बंद सा हो जाना है। जैसे, प्रिय के विदेश-गमन का सहसा संवाद पाते ही नायिका की यह दशा हो जाना कि उसे 'मैं कहाँ हूँ, आसपास कौन बैठा है, क्या कहता है, क्या करता है' इत्यादि का कुछ भी ज्ञान न रहे। इसे मानसिक स्तंभ कह सकते हैं। इसके साथ ही शरीर-स्तंभ भी होता है अथवा यों कहिए कि 'स्तंभ' ही के दो पक्ष होते हैं—एक मानसिक और एक शारीरिक। इनमें से प्रथम तो संचारियों की कोटि में रखा गया और द्वितीय अनुभाव के भीतर डाल दिया गया। अब पूछिए कि क्यों एक प्रकार का स्तंभ तो संचारियों में रखा गया और दूसरे प्रकार का सात्त्विक में। इसका कारण विवेचन करने पर यही प्रतीत होता है कि सात्त्विक अनुभाव में वही वस्तु रखी गई है जो बाहर शरीर पर लक्षित हो। मानसिक अवस्था स्वयं गोचर नहीं होती उसका कोई चिह्न या संकेत गोचर होता है। 'अनुभाव' किसी 'भाव' का सूचक होता है अतः मानसिक अवस्था जो सूच्य हुआ करती है वह सूचकों में नहीं रखी गई, संचारियों में रखी गई।

'जड़ता' का ही एक हलका रूप 'बुद्धिमांद्य' है जो किसी भाव की समुपस्थिति के कारण भी थोड़ी देर के लिये हो सकता है और स्थायी दशा में प्रकृतिस्थ भी देखा जाता है। शोक या विषाद के समय कभी कभी किसी की कही हुई साधारण बात भी समझ में नहीं आती। किसी 'भाव' के संचारी के रूप में 'जड़ता' के इस हलके रूप पर चाहे उतना ध्यान न दिया जाय पर प्रकृतिस्थ दशा में यह हास्य के आलंबन की रूप-योजना में बहुत काम आता है। बेवकूफों पर हँसने का रवाज बहुत पुराना

है, इसी से बहुत से लोग सिर्फ दूसरों को हँसाने के लिये बेवकूफ बना करते हैं। नाटकों के विदूषक ऐसे ही बने हुए बेवकूफ हुआ करते हैं।

लज्जा, भय आदि के कारण अपने मन के भाव को छिपाने की प्रवृत्ति जिस अवस्था में हो उसे 'अवहित्था' कहते हैं।*

उग्रता, सच पूछिए तो, क्रोध का ही एक अवयव है। पर कभी कभी सर्वांगपूर्ण क्रोध के न प्रकट होने पर भी उसका आविर्भाव होता है। कभी कभी उसी तक बात खतम हो जाती है, बाकी बातों की नौबत नहीं आती। किसी किसी का तो किंचित् 'तीव्र स्वर' से ही काम निकल जाता है—विशेषतः ऊँची पद-मर्यादा वालों का। जिसके वचन या कर्म के कारण उग्रता उत्पन्न होती है उसके हृदय में उस उग्रता के दर्शन से साधारणतः क्रोध, भय या विषाद का संचार होता है। संचारियों में जब उग्रता ली गई तब 'मृदुलता' या 'कोमलता' भी क्यों न ली जाय? जिस प्रकार 'उग्रता' के दर्शन से क्रोध, भय या विषाद का संचार होता है उसी प्रकार जिसके साथ मृदुलता का व्यवहार किया जाता है उसके हृदय में व्यवहार करनेवाले के प्रति प्रेम या श्रद्धा भक्ति का संचार होता है। प्रेम और करुणा में ये प्रवृत्तियाँ मृदुल हो जाती हैं। अतः शृंगार और करुण दोनों रसों में मृदुलता' संचारी होकर आ सकती है। प्रिय और मधुर वचन इसके सूचक होते हैं। अन्य की मनस्तुष्टि का अभिलाष प्रेम

---

* एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, पृष्ठ १३१, विमला टीका।

और करुणा दोनों में रहता है। उसी अभिलाष की पूर्ति के साधन में 'मृदुता' योग देती है। दुःख में किसी की सहायता हमसे नहीं बन पड़ती तो हम मृदु वचनों से ही उसे सांत्वना देने का प्रयत्न करते हैं। जिस प्रकार प्रकृतिगत उग्रता में लोक के अनिष्ट की ओर प्रवृत्ति झलकती है उसी प्रकार 'मृदुलता' में इष्टापूर्त की प्रवृत्ति। यह लोकरंजक प्रवृत्ति जिसमें होती है उसका स्वभाव मृदुल कहा जाता है। राम के 'मृदुल स्वभाव' का गो० तुलसीदासजी ने मुग्ध होकर स्थान स्थान पर उल्लेख किया है। भरतजी राम के आगमन के संबंध में तर्क-वितर्क करते हुए अंत में अपने मन को यही समझकर ढाढ़स बँधाते हैं कि

जन-अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

[रामचरितमानस, सप्तम सोपान, १।]

'मृदुलता' और 'उग्रता' दोनों का चित्रण गोस्वामीजी ने परशुराम और लक्ष्मण के संवाद के प्रसंग में साथ ही किया है। लक्ष्मणजी के उग्र भाषण पर उत्तेजित परशुराम बीच बीच में राम के मृदु वचनों से ठंढे पड़ते दिखाए गए हैं।

'उग्रता' के साथ 'निष्ठुरता' या 'निर्दयता' के मेल से 'क्रूरता' का आविर्भाव होता है। यद्यपि 'निर्दयता' उग्रता से अलग भी देखी जाती है। पर वहाँ निर्दयता की ओर अंतःकरण की प्रवृत्ति नहीं होती। किसी दीन अनाथ का सर्वस्व नीलाम कराते हुए बनिये में कुछ भी उग्रता नहीं होती। वह बहुत ही भलमनसाहत, ईमानदारी और नम्रता दिखाता हुआ तथा धर्म और न्याय की बातें कहता हुआ पाया जाता है। वह उस दीन अनाथ का अनिष्ट नहीं चाहता बल्कि रुपये के लोभ के आगे उसके इष्ट-अनिष्ट, भले-बुरे या मरने-जीने की ओर कुछ

ध्यान ही नहीं देता। जड़ के प्रति अनन्य 'रति भाव' के कारण और 'भावों' के हिसाब से वह मानों स्वयं जड़त्व को प्राप्त रहता है। किसी की दयनीय दशा देख सुनकर दया न करना कठोर-हृदयता है। किसी की दशा दयनीय कर देने से अंतःकरण से प्रवृत्त होना निर्दयता है। क्रोध द्वारा प्रेरित कर्मों के समय ही यह मानसिक अवस्था देखी जाती है। किसी अन्य इच्छा या संकल्प द्वारा प्रेरित कर्म दूसरे के देखने में निर्दय प्रतीत हो सकते हैं पर निर्दयता वहाँ कर्ता के अंतःकरण में नहीं रहती। अपना काम लेते समय उसके करने में किसी अधीन या सेवक को जो घोर कष्ट हो रहा है उसका कुछ ख्याल न करना दूसरों के देखने में निर्दयता ही है। पर इस प्रकार की मानसिक अवस्था का विचार स्वार्थपरता आदि के साथ शील में ही हो सकता है, भाव के संचारियों में नहीं। जिस 'मानसिक अवस्था' का अस्तित्व अपनी प्रवृत्ति के सहित आश्रय के अंतःकरण में हो उसी का ग्रहण 'भावों' के संचारियों में हो सकता है। यदि कोई राजा अपनी अत्यंत प्रिया पत्नी के तोषार्थ दूसरी स्त्री से उत्पन्न पुत्र के वध के लिये उद्यत दिखाया जाय तो उसका कर्म निर्दय होने पर भी 'निर्दयता' उसके अंतःकरण में जाग्रत् नहीं कही जायगी। वह जो पुत्र को मारने जा रहा है वह अपनी निर्दयता की प्रवृत्ति से नहीं। अतः निर्दयता शृंगार का संचारी नहीं कही जा सकती। किसी अनगढ़ मूर्ख को हँसी हँसी में चिढ़ाते चिढ़ाते कोई गड्ढे में ढकेल दे और उसके हाथ-पैर टूट जायँ तो यह कर्म निर्दय अवश्य कहा जायगा, पर ढकेलनेवाले के अंतःकरण में निर्दयता के अभाव के कारण निर्दयता को हास्य रस का संचारी नहीं कह सकते। इसी प्रकार 'रौद्र' को छोड़ और सब रसों से इसका बहिष्कार हो जाता है।

'मोह' और 'जड़ता' ये दोनों मिलती जुलती अवस्थाएँ हैं। 'जड़ता' है एकदम ठक हो जाना जिसमें मनुष्य की शारीरिक और मानसिक दोनों क्रियाएँ एक क्षण के लिये बंद सी हो जाती है। यह अवस्था इष्ट और अनिष्ट दोनों के दर्शन और श्रवण से हो सकती है[1]। इसमें चित्त की व्याकुलता नहीं रहती। 'मोह' दुःखावेग के कारण ही होता है और उसमें चित्त की व्याकुलता और मूर्च्छा होती है[2]। प्रिय को सामने पाकर कभी कभी भावातिरेक के कारण कुछ क्षण तक न तो मुँह से कोई बात निकलती है, न पैर आगे बढ़ते हैं, टकटकी लगाकर ताकने के सिवा उनसे कुछ नहीं बन पड़ता। यह अवस्था जड़ता है जो अचिंतित अथवा अद्भुत विषय के अकस्मात् सामने आने पर भी होती है। पति का मरण सुनने पर रति को मूर्च्छा आ जाने से क्षण भर के लिये सुख-दुःख का कुछ भी ज्ञान नहीं रह गया।[3] यह अवस्था मोह की है।

स्वप्न के संबंध में इस बात की ओर ध्यान दिला देना फिर आवश्यक है कि संचारियों के पाँच वर्गों में से प्रथम वर्ग को छोड़ और किसी में विषय प्रधान भाव के आलंबन से भिन्न

---

१ [अप्रतिपत्तिर्जड़ता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः।
—साहित्यदर्पण, ३·१४८।]

२ [मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः।
मूर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् ॥
—साहित्यदर्पण, ३·१५०।]

३ [तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम्।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥
—कुमारसम्भव, ४·७३।]

नहीं हो सकता। रति, क्रोध, भय इत्यादि में केवल उसी को स्वप्न में देखना संचारी होगा जिससे रति या भय हो, अथवा जिस पर क्रोध हो।

शारीरिक या मानसिक क्रिया में तत्पर न होने की प्रवृत्ति जिस अवस्था में हो वह अलसता है। यह अवस्था शारीरिक या मानसिक श्रांति के कारण होती है। यद्यपि साहित्य के ग्रंथों में शारीरिक श्रम और गर्भ आदि के कारण उत्पन्न आलस्य को संचारी कहा है[1] पर संचारी का लक्षण उस पर ठीक ठीक नहीं घटता है। जब तक उसका किसी भाव के साथ प्रत्यक्ष संबंध न हो—सीधा लगाव न हो—तब तक वह संचारी कैसा? रात भर जगी हुई स्त्री बैठे बैठे जँभाई लेती है तो इससे श्रोता या दर्शक को 'रति भाव' के अनुभव में कुछ सहायता पहुँचती हुई मुझे तो नहीं मालूम पड़ती। इस प्रकार की अलसता का वर्णन उस भद्दी रुचि का परिचायक है जिसके अनुसार मध्या और प्रौढ़ा की रति का निर्लज्जता के साथ वर्णन होने लगा। प्रेम के साथ इस शारीरिक श्रम से उत्पन्न आलस्य का केवल बादरायण संबंध दिखाई पड़ता है। जिस क्रिया या व्यापार से शारीरिक श्रम (थकावट) हुआ वह तो भाव-प्रेरित क्या भाव का अंग तक कहा जा सकता है पर इससे उस श्रम को और उस श्रम से उत्पन्न आलस्य को भाव द्वारा प्रेरित संचारी नहीं कह सकते। यदि कोई वीर तलवार चलाते चलाते थक जाय जिससे उसे आलस्य आ जाय तो क्या आलस्य वीर रस का संचारी कहा जायगा? हास्य रस में जो निद्रा और आलस्य संचारी कहे गए

---

१ [आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाड्यं जृम्भासितादिकृत्।

—साहित्यदर्पण, ३-१५१।]

हैं उनके संबंध में भी यही प्रश्न उठता है। यदि कोई हँसते हँसते थक जाय और उस थकावट के कारण उसे नींद या आलस्य आने लगे तो यह नींद या आलस्य हसन-क्रिया के परिणाम श्रम का परिणाम है, हास्य के भाव का पोषक संचारी नहीं। अतः आलस्य के वर्णन को किसी भाव का संचारी मानना मेरी समझ में ठीक नहीं। उसे स्वतंत्र ही मानना चाहिए।

किसी भाव के वेग के कारण जो मानसिक शैथिल्य होता है उसे 'ग्लानि' कहते हैं। दुःख, पश्चात्ताप या शोक के आवेग से शिथिल मन का किसी काम की ओर उत्साहित न होना शोक का ग्लानि संचारी कहा जा सकता है। 'ग्लानि' के लक्षण में दुःख और मनस्ताप से उत्पन्न शैथिल्य के अतिरिक्त परिश्रम, भूख, प्यास आदि से उत्पन्न शैथिल्य भी ले लिया गया है[1]। पर उपर्युक्त विवेचन के अनुसार दुःख और मनस्ताप से उत्पन्न शिथिलता ही संचारी के रूप में कही जा सकती है इसी से मैंने ग्लानि को शारीरिक अवस्था में न रखकर मानसिक अवस्था में रखा है। अंग-ग्लानि 'श्रम' से कुछ भिन्न नहीं प्रतीत होती। अतः उस पर विचार 'शारीरिक अवस्था' के अंतर्गत 'श्रम' में ही किया जायगा। किसी अरुचिकर वस्तु के सामने रहने से भी मन पर जोर पड़ता है इससे उससे उत्पन्न शैथिल्य ग्लानि ही है। किसी बात से ऊब जाना भी ग्लानि ही है।

'उन्माद' नामक मानसिक अवस्था राग, शोक, क्रोध, भय आदि कई भावों की भावदशा और स्थायी दशा के कारण उत्पन्न

---

१ [रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादिसंभवा।
ग्लानिर्निष्प्राणताकम्पकार्यानुत्साहतादिकृत्॥
—साहित्यदर्पण, ३-१७०।]

हो सकती है[1]। जिस प्रकार राग की भावदशा में लोग कभी कभी थोड़ी देर के लिये उन्मत्त प्रलाप आदि करते हैं उसी प्रकार उसकी रति नामक स्थायी दशा में भी बहुत दिनों के लिये या सब दिन के लिये पागल हो जाते हैं। हमारे बंगाली भाइयों के प्रेम का तो पागलपन एक बड़ा भारी अंग है। अतः प्रेम में उन्माद के अधिक वर्णन को यदि हम 'गौड़ी पद्धति' कहना चाहें तो कह सकते हैं। गिरीश घोष के नाटकों में शायद ही कुछ नाटक ऐसे निकलें जिनमें कोई 'उन्मादिनी' न हो! और भावों के कारण भी उन्माद होता है। जिस प्रकार क्रोधोन्मत्त होकर लोग बहुत सी बेठिकाने की बातें कर बैठते हैं उसी प्रकार वैर के प्रतिशोध के लिये भी बरसों पागल होकर घूमते देखे जाते हैं। किसी के शोक में पागल होना तो प्रसिद्ध ही है। जुगुप्सा या विरति से भी उन्माद या उन्माद की सी दशा हो सकती है। शेक्सपियर का 'हैमलेट' इसका उदाहरण है। अपने चचा और माता के कृत्य से उसे जो विरक्ति हुई उसने उसकी दशा उन्मत्त की सी कर दी।

'साहित्यदर्पण' के लक्षण के अनुसार संतोष या तुष्टि ही का नाम 'धृति' प्रतीत होता है। पर मैं स्पष्टता के लिये उसे 'धैर्य' से भिन्न रखना ठीक नहीं समझता। नायक के गुणों में 'धैर्य' का जो लक्षण कहा गया है उसी का ग्रहण कर संचारी का नाम मैंने 'धैर्य' ही रखा है। हिंदीवालों ने यही अर्थ ग्रहण किया है। बड़े बड़े विघ्न उपस्थित होने पर भी अपने व्यवसाय में

---

१ [चित्तसंमोह उन्मादः कामशोकभयादिभिः।
अस्थानहासरुदितगीतप्रलपनादिकृत् ॥
—वही, ३-१६०।]

अविचलित रखनेवाली मानसिक अवस्था का नाम धैर्य है[1]। वीर रस में धैर्य प्रायः संचारी होकर आता है। युद्ध-यात्रा के समय विकट पर्वत, नदी आदि पड़ने पर भी बराबर अग्रसर होने का प्रयत्न किए जाना धैर्य सूचित करता है। इसी प्रकार किसी वस्तु को दान करते समय उस वस्तु के अभाव से होनेवाले कष्ट, कठिनाई आदि की कुछ परवा न करना, किसी धर्म-साधन के मार्ग में घोर कष्ट देखकर भी उस पर अग्रसर होते जाना धैर्य का सूचक होगा। कफन माँगते हुए राजा हरिश्चंद्र अपनी रानी को पहचान लेने पर भी कफन माँगते ही रहे। 'धैर्य' के समान 'अधैर्य' भी संचारी होकर आ सकता है, जैसे—

> हरस्तु किंचित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारंभ इवाम्बुराशिः।
> उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥
>
> —साहित्यदर्पण, तृतीय अध्याय, विमला टीका पृष्ठ १६४।

इष्ट की प्राप्ति से इष्ट की पूर्ति के अनुभव का नाम 'संतोष' है। रति, क्रोध और उत्साह में यह प्रायः संचारी होकर आता है। तत्त्वज्ञान द्वारा प्राप्त संतोष को संचारियों में नहीं ले सकते। प्रिय का साक्षात्कार होने पर उसके रूप-दर्शन और वचन-श्रवण से नेत्रों और कानों का तृप्त होना संतोष ही कहा जायगा। [जैसे—

> आई भले हौं चली सखियान मैं पाई गोबिंद के रूप की झाँकी।
> त्यौं पदमाकर हार दियो गृह-काज कहा अरु लाज कहाँ की।
> है नख तें सिख लौं मृदु माधुरी बाँकिये भौंहैं बिलोकनि बाँकी।
> आज की या छबि देखि भटू अब देखिबे कौं न रह्यो कछु बाकी॥
>
> —जगद्विनोद, ३३१।]

---

१ [मिलाइए रसकुसुमाकर, तृतीय कुसुम, पृष्ठ २३।]

इसी प्रकार जिस पर क्रोध है उसके यथेष्ट उत्पीड़न से और जिस कर्म के प्रति उत्साह है उसके सम्यक् साधन से भी बराबर संतोष होता है। 'संतोष' के समान 'असंतोष' के उदाहरण भी काव्यों में बहुत सुंदर मिलते हैं—विशेषतः शृंगार में, जैसे—

[मोहन अनूप बने रूप-ठगी आँखैं इतै,
इनकी उरझ की छबीले येई साखियै।
पीवति अघाय प्यास बाढ़िये रहति महा,
अहा अचरज कहौ कहा कहि भाखियै।
जानमनि जीवन-उदार रिझवार छैल,
जसुधा-कुँवर गुन गहि अभिलाखियै।
चोप चातकी है भई आनँद के घन हौ जू,
सुदरस-रस दै रसीले रस राखियै॥]

राग, द्वेष, हास्य आदि की प्रेरणा से उत्पन्न वह मानसिक अस्थिरता चपलता कहलाती है जिसके अनुसार लोग अनेक प्रकार की ऐसी चेष्टाएँ प्रदर्शित करते हैं जो नियमित प्रयत्न की दशा को नहीं पहुँचतीं[1]—जैसे, नायक को देखकर नायिका का बिना प्रयोजन इधर उधर करने लगना, किसी को खोदकर या चपत लगाकर भागना इत्यादि; किसी बेढंगे मूर्ख को देखकर कहने लगना कि हट जाओ सामने से, अमुक शास्त्रीजी आते हैं[2];

---

१ [मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापल्यं त्वनवस्थितिः।
तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः॥
—साहित्यदर्पण, ३-१६९।]

२ [गुरोर्गिरः पञ्च दिनान्यधीत्य वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयं च।
अमी समाघ्राय च तर्कवादान्समागताः कुक्कुटमिश्रपादाः॥
—साहित्यदर्पण, १५२।]

द्वेष के पात्र को देखते ही उसके ऊपर कटु व्यंग्य छोड़ने लगना इत्यादि इत्यादि। शृंगार के संचारी चपलता का यह बहुत अच्छा उदाहरण है—

वह साँकरी कुंज की खोरी अचानक राधिका माधव भेंट भई।
मुसक्यानि भली अँचरा की अली त्रिवली की बली पर डीठि गई।
झहराय, झुकाय, रिसाय 'ममारख' बाँसुरिया हँसि छीनि लई।
भृकुटी मटकाय गुपाल के गाल में आँगुरी ग्वालि गड़ाय गई॥
[काव्यप्रभाकर, ५-३७८।]

जिससे घृणा या द्वेष हो उसे देखकर भला बुरा या अप्रिय वचन कहने लगना भी 'चपलता' ही के अंतर्गत माना जायगा, पर तभी तक जब तक उग्रता न प्रकट होगी। यदि कटु वचन उग्रता लिए होगा तो वह 'उग्रता' का सूचक होगा चपलता का नहीं। रामचरितमानस में लक्ष्मण और परशुराम के संवाद के समय लक्ष्मण के प्रायः सब वचन चपलता के उदाहरण हैं। केवल कहीं कहीं उग्रता व्यंजित होती है, जैसे—

भृगुकुल समुझि, जनेउ बिलोकी। जो कछु कहेहु सहेउँ रिस रोकी॥

'मारने के लिये हाथ खुजलाना', 'बिना बोले रहा न जाना' आदि वाक्य 'चपलता' ही सूचित करते हैं।

शारीरिक अवस्थाएँ

शारीरिक अवस्थाओं के संबंध में कुछ विशेष नहीं कहना है। केवल इतनी बात फिर से कह देना चाहता हूँ कि भाव द्वारा समुपस्थित शारीरिक अवस्था का ग्रहण संचारियों के अंतर्गत इसलिये हुआ है कि उनसे भी भाव की तीव्रता या व्यापकता के अनुभव में सहायता मिलती है। जो शारीरिक अवस्था किसी

भाव के प्रभाव से नहीं उपस्थित हुई यों ही अन्य प्राकृतिक कारणों से उपस्थित हुई है उसे भाव के संचारियों में नहीं ले सकते ।

पहले 'श्रम' को लीजिए । 'श्रम' के दो अर्थ हो सकते हैं—एक तो व्यापाराधिक्य या किसी क्रिया का निरंतर साधन, दूसरा उससे उत्पन्न अंगग्लानि या थकावट । साहित्यदर्पण में दूसरा अर्थ ग्रहण किया गया है[1] पर मैं उसे यहाँ पहले ही अर्थ में रखता हूँ । किसी के प्रेम में यदि कोई दौड़-धूप करे, विद्या की प्राप्ति के लिये रात रात भर बैठकर पढ़ता रहे, गड़ा हुआ खजाना पाने के लिये दिन भर मिट्टी खोदता रहे तो उसका यह दौड़ना-धूपना, रात रात भर बैठना या दिन भर मिट्टी खोदना क्रमशः व्यक्ति, विद्या या धन के प्रति रति भाव का संचारी कहा जा सकता है । पर इस दौड़-धूप के कारण यदि कोई थककर बैठ जाय या रात भर मिहनत करने से शिथिल हो जाय तो यह थकना या शिथिल होना रति भाव से दूर पड़ जाने के कारण—क्रिया या व्यापार के व्यवधान से उसके साथ प्रत्यक्ष संबंध न रखने के कारण—संचारी नहीं कहा जा सकता ।

तो क्या 'अंगग्लानि' को संचारियों में लेना ही न चाहिए ? लेना चाहिए, पर वहाँ जहाँ उसका भाव के साथ सीधा संबंध हो । आरंभ ही में भाव का जो विश्लेषण किया गया है उसके अनुसार भाव के स्वरूप के भीतर अंग-रूप में अनुभाव भी आ जाते हैं । कायिक अनुभाव शारीरिक क्रिया या व्यापार के रूप

---

१ [खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः ।

—साहित्यदर्पण, ३-१४६ ।]

में ही होते हैं। अतः उनसे अंगग्लानि या थकावट उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार की थकावट संचारी के अंतर्गत कही जा सकती है। जैसे, बार बार के आलिंगन, गर्जन-तर्जन या अस्त्रचालन इत्यादि से उत्पन्न थकावट। पर भाव की स्थायी दशा में जो प्रयत्न किए जायँगे जैसे, मार्ग चलना आदि उनसे उत्पन्न थकावट संचारी नहीं होगी, केवल उक्त प्रयत्न या व्यापार संचारी होंगे, जैसा कि श्रम के प्रसंग में कहा जा चुका है। 'अंगग्लानि' या थकावट का स्वतंत्र (जो किसी का संचारी न हो) वर्णन भी सौकुमार्य आदि का सूचक होकर बहुत ही रोचक होता है। जैसे—

"जल को गए लक्खन हैं लरिका, परिखौ पिय ! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े।"
तुलसी रघुबीर प्रिया-श्रम जानिकै, बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े[1] ॥
[तुलसीकृत कबित्तावली, अयोध्याकांड, १२ ।]

निद्रा और विबोध दोनों का संबंध यद्यपि चेतना की प्रवृत्ति और निवृत्ति से है पर वे अधिकतर शरीर-धर्म के रूप में ही दिखाई पड़ते हैं। इसी से उन्हें मानसिक अवस्था में न रखकर शारीरिक अवस्था में रखा है। प्रिय के ध्यान का सुख अनुभव करते करते नायिका का सो जाना और विरह-वेदना से नींद न आना क्रमशः निद्रा और विबोध के उदाहरण होंगे। यों ही सोते हुए मनुष्य का जाग पड़ना 'विबोध' संचारी न होगा।

---

१ [मिलाइए आचार्य शुक्लकृत गोस्वामी तुलसीदास (सं॰ १९९६) पृष्ठ १४६ ।]

इसी प्रकार मरण, व्याधि और अपस्मार भी तभी संचारी होंगे जब किसी भाव के कारण होंगे, अन्यथा नहीं।

संचारियों के रूप में जिन मानसिक अवस्थाओं और वेगों या भावों का उल्लेख हुआ है उनमें से बहुत से शीलदशा को प्राप्त या प्रकृतिस्थ देखे जाते हैं। इस रूप में उनका वर्णन पात्रों (आश्रय और आलंबन) की गुण-योजना के प्रसंग में किया जायगा।

संचारियों के विषय के संबंध में दो चार बातें कहकर अब इस प्रकरण को समाप्त करता हूँ। संचारियों में कुछ तो ऐसे हैं जिनके विषय होते ही नहीं केवल कारण होते हैं। जैसे, सब शारीरिक अवस्थाएँ; मद, जड़ता, मोह, उन्माद और ग्लानि ये मानसिक अवस्थाएँ और आवेग नामक वेग।' भाव-वर्ग के तीनों भावों (गर्व, लज्जा और असूया) को छोड़ और सब संचारियों के या तो प्रधान भाव के आलंबन ही विषय होते हैं अथवा उनसे (आलंबनों से) संबंध रखनेवाली वस्तुएँ। इस प्रकार कहीं कहीं आलंबन के रूप, गुण, चेष्टा आदि कारण ही संचारियों के विषय होते हैं। जिसके प्रति रति भाव है उसकी मुसकान देखकर या उसके वचन सुनकर भी हर्ष होता है और उसकी कोई वस्तु देखकर भी, जैसा कि नायक के उड़ाए हुए कबूतर को देखकर बिहारी की नायिका को हुआ है।[१] वचन-श्रवण आदि के प्रति औत्सुक्य भी होता है। प्रिय के किसी अंग या चेष्टा मात्र से हर्ष का होना रति भाव का उत्कर्ष व्यंजित करता है। जिसके

---

१ [ऊँचै चितै सराहियतु गिरह कबूतरु लेतु।
झलकित दृग, मुलकित बदनु, तनु पुलकित किहिं हेतु॥
—बिहारी-रत्नाकर, २७४।]

वचन मात्र सुनकर, जिसकी आँख या केश देखकर ही हर्ष होता है उसके पूर्ण समागम के आनंद का क्या कहना है ? इसी प्रकार जिसका शोक होता है उसके किसी एक अंग, चेष्टा या गुण का स्मरण आने पर भी विषाद होता है और उसके कपड़े-लत्ते देखकर भी। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि प्रायः समस्त विषययुक्त संचारियों के विषय वे ही होते हैं जो या तो उनके प्रधान भावों के आलंबन होते हैं या आलंबन-गत (जैसे, नायिका की चेष्टा आदि) उद्दीपन। आलंबन-बाह्य उद्दीपन केवल हर्ष और विषाद के विषय होते हैं—जैसे, रति भाव का हर्ष संचारी नायक के दर्शन स्पर्श से भी होता है, नायक का संवाद लाती हुई सखी आदि को देखकर भी तथा वन, उपवन, चंद्रिका आदि आलंबन-बाह्य विषयों को देखकर भी। पर इन आलंबन-बाह्य विषयों की ओर ध्यान प्रधान रूप में नहीं रहता।

साहित्य के ग्रंथों में संचारियों के बाह्य चिह्न भी बताए गए हैं जो वास्तव में उनके अनुभाव ही हैं। जैसे, गर्व में तनकर खड़ा होना, अवज्ञा करना, अँगूठा आदि दिखाना; अवहित्था में अनभीष्ट कार्य की ओर प्रवृत्ति दिखाना, दूसरी ओर देखना; चिंता में दीर्घ निश्वास लेना, सिर झुकाना, हाथ पर गाल रखना, माथा सुकोड़ना इत्यादि। इन बाह्य चिह्नों का उपयोग पात्र या आश्रय के चित्रण में बहुत आवश्यक होता है जिसका विचार 'विभाव' के अंतर्गत किया जायगा। आश्रय द्वारा शब्दव्यंजना न होने पर भी कभी कभी इनके द्वारा संचारी की व्यंजना हो जाती है। जैसे, किसी बात को सुनकर यदि कोई सिर झुकाकर और हाथ पर गाल रखकर बैठ जाय, उसके माथे पर बल आ जाय तो झट चिंता में पड़ना समझ लिया जा सकता है।

इन बाह्य चिह्नों को भिन्न भिन्न भावों के अनुभावों के साथ मिलाने से इस बात का भी पता लगता है कि कौन कौन संचारी किन किन प्रधान भावों के अवयव होते हैं। संचारियों की सूची में पाँच ऐसे हैं जो किसी न किसी प्रधान भाव के अवयव भी हुआ करते हैं—अमर्ष, त्रास, विषाद, उग्रता और जड़ता। त्रास भय का, विषाद शोक का, जड़ता आश्चर्य का तथा अमर्ष और उग्रता क्रोध के अवयव हैं। इन संचारियों के बाह्य चिह्न वे ही हैं जो क्रोध, भय, शोक और आश्चर्य के अनुभाव कहे गए हैं—जो भाव और वेग आदि नियत संचारियों में रखे गए हैं वे कभी कभी प्रधान होकर भी आते हैं। यह प्रधानता दो प्रकार की हो सकती है—

(१) वह प्रधानता जो किसी नियत प्रधान भाव के स्फुट न होने से प्रतीत हो।

(२) वह प्रधानता जो नियत प्रधान भाव के स्फुट होने पर भी उसके ऊपर प्राप्त हो।

साहित्य के ग्रंथों में जो उदाहरण मिलते हैं वे प्रथम प्रकार की प्रधानता के। कोई भाव, वेग या मानसिक अवस्था इस प्रधानता को प्राप्त हो सकती है। यथा,

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

[कुमारसंभव, छठाँ सर्ग, ८४।]

"पिता के पास बैठी हुई पार्वती के सामने जब सप्तर्षियों ने शिव के साथ उसके विवाह की चर्चा चलाई तब वह सिर नीचा किए लीलाकमल के दल गिनने लगी।" इस पद्य में बाह्य चिह्नों के कथन द्वारा अवहित्था की ही प्रधान रूप से व्यंजना हुई है, पार्वती का रति भाव स्फुट नहीं किया गया है।

पर संचारियों में रखा हुआ कोई 'भाव' ऐसी प्रधानता भी प्राप्त कर सकता है कि कोई नियत प्रधान भाव उसका संचारी होकर आए। जैसे, क्रोध असूया का संचारी होकर आ सकता है और जुगुप्सा गर्व का। जब मंथरा ने राम की धात्री से उनके यौवराज्य का संवाद पाया तब "वह अत्यंत ईर्ष्या से उस कैलास-सदृश प्रासाद से उतरी, क्रोध से जलती हुई चली और सोती हुई कैकेयी के पास पहुँची"।[1]

यहाँ पर मंथरा का क्रोध प्रधान भाव नहीं है, प्रधान भाव है असूया। उसके कारण उत्पन्न होने से क्रोध उसका संचारी ही कहा जा सकता है। राम प्रधानतः उसकी ईर्ष्या के आलंबन हैं क्रोध के नहीं, क्योंकि क्रोध अनिष्टकारी के प्रति होता है, पर राम ने मंथरा का कभी कोई अनिष्ट नहीं किया था।

मंथरा की यह ईर्ष्या विलक्षण है। इसका उद्घाटन आदि-कवि की ही प्रतिभा का काम था। ईर्ष्या समकक्ष के प्रति होती है जिसकी बराबरी करना चाहते हैं पर नहीं कर पाते। राजा से दरिद्रा दासी की क्या ईर्ष्या ? इस ईर्ष्या का प्रवर्तक कैकेयी के प्रति मंथरा का अनन्य रति भाव है। जिस पर हमारा अनन्य प्रेम होता है उसके प्रतिद्वंद्वी के गुण-मान की वृद्धि देख हमें भी

---

१ [धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रममर्षिता।
कैलासशिखराकारात्प्रासादादवरोहत ॥
सा दह्यमाना क्रोधेन मन्थरा पापदर्शिनी।
शयानामेव कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत् ॥
—वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकांड, सप्तम सर्ग, १२-१३ ।]

प्रायः ईर्ष्या होती है। जिसे हम एक मात्र 'महात्मा' समझते हैं उसके अतिरिक्त अन्य के महत्त्व की बात हमें प्रायः नहीं सुहाती। हमारे राग और द्वेष के आलंबनों के संबंध से हमारे अनेक भावों के और और आलंबन खड़े होते रहते है। जिससे हमें द्वेष होता है उसके साथ द्वेष रखनेवालों से प्रेम और प्रेम रखनेवालों से द्वेष प्रायः हमें भी हुआ करता है।

यहाँ तक तो नियत संचारियों की बात हुई। इनके अतिरिक्त प्रधानों में परिगणित कोई भाव भी दूसरे प्रधान भाव का संचारी होकर आ सकता है—जैसे, रति और उत्साह में हास, युद्धोत्साह में क्रोध। पहले यह कहा जा चुका है कि प्रधान भावों में आलंबनों की ओर ध्यान मुख्यतः रहता है। अतः भिन्न आलंबन रखनेवाला भाव संचारी नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही अवसर पर ध्यान मुख्य रूप से दो विषयों की ओर नहीं रह सकता। बात ठीक है, पर भिन्न विषय या आलंबन की ओर ध्यान स्थित होने से भी यदि प्रधान भाव की गति-प्रवृत्ति में कोई बाधा न पड़े और संचारी होकर आनेवाला भाव ऐसा हो कि उसका कोई रूप प्रधान भाव के साथ बराबर लगा रहता हो तो वह भाव संचारी हो सकता है। आलंबन एक होने पर भी यदि दो भावों की गति और प्रवृत्ति परस्पर भिन्न है तो उनके बीच स्थायी संचारी का संबंध नहीं हो सकता। युद्धोत्साह के संचारी क्रोध को लीजिए। युद्धोत्साह और क्रोध दोनों की गति या प्रवृत्ति एक ही है। एक ही व्यापार द्वारा युद्धोत्साह और क्रोध दोनों के लक्ष्य का साधन हो जाता है। शस्त्र आदि चलाने से युद्ध-कर्म के प्रति उत्साह की भी तुष्टि होती है और अनिष्टकारी के नाश की इच्छा की भी। गति और प्रवृत्ति की भिन्नता न होने से क्रोध युद्धोत्साह का संचारी होकर आ सकता है। अतः यह स्थिर हुआ

कि एक भाव दूसरे भाव का संचारी होकर तभी आ सकता है जब

(१) उसका विषय वही हो जो प्रधान भाव का आलंबन है और उसकी कोई अपनी गति या प्रवृत्ति न हो।

(२) आलंबन से उसका विषय भिन्न हो उसकी कोई अपनी गति या प्रवृत्ति न हो, और वह स्वयं ऐसा हो कि प्रधान भाव के साथ उसका कोई रूपांतर लगा रहता हो।

(३) उसकी गति या प्रवृत्ति वही हो जो प्रधान भाव की है।

भावों का जो चक्र पहले दिया जा चुका है उसमें दो भाव ऐसे मिलते हैं जिनमें कोई अपनी गति या प्रवृत्ति नहीं होती— हास और आश्चर्य। अतः ये दोनों भाव श्रृंगार के संचारी होकर आ सकते हैं। हास तो हर्ष के ही एक विशेष रूप का विकास है और हर्ष राग की भाव-दशा में बराबर रहता है। अतः नायक-नायिका चाहे एक दूसरे को कीचड़ में ढकेल कर हँसें चाहे किसी दूसरे व्यक्ति को देखकर हँसें उनकी हँसी रति भाव की प्रवृत्ति से हटानेवाली न होगी। इसी प्रकार नायिका का असाधारण रूप-सौंदर्य देख यदि नायक आश्चर्यचकित हो जाय तो भी रति की प्रवृत्ति मे कोई बाधा नहीं पड़ेगी। पर आश्चर्य का विषय यदि रति भाव के आलंबन से भिन्न कोई दूसरा होगा तो वह आश्चर्य श्रृंगार में संचारी न होगा क्योंकि वह ऐसा भाव नहीं है जिसका कोई रूप राग के साथ अंग-रूप से लगा रहता हो।

स्थायी संचारी का प्रकृत रूप यही है जिसका वर्णन समाप्त हुआ और जो भावों का अधिष्ठान पात्र को मानने से निर्दिष्ट होता है। पर नाटक या काव्य को अधिष्ठान मानकर स्थायी संचारी का एक दूसरा अर्थ भी लिया जाता है। उसके

अनुसार किसी काव्य में आदि से अंत तक जो भाव बराबर चला जाय, अन्य भावों के बीच बीच में थोड़ी देर के लिये आ जाने से उच्छिन्न न हो, वह स्थायी भाव है और जिनका वर्णन बीच बीच में थोड़ी देर के लिये आ जाय वे संचारी कहे जायँगे। जैसे महाभारत में 'शम' प्रधान है, मालतीमाधव में रति, अंधेरनगरी में हास, रामायण में शोक, सत्यहरिश्चंद्र में शोक इत्यादि। पर स्थायी संचारी का यह अर्थ गौण है। इसमें इस बात का विचार नहीं हो सकता कि कौन कौन भाव या वेग किन किन प्रधान भावों के संचारी हो सकते हैं। चाहे जो भाव ग्रंथ में आदि से अंत तक पाया जाय उसे स्थायी और चाहे जो भाव या वेग बीच बीच में आए हों उन्हें संचारी हम आँख मूँदकर कह सकते हैं किसी प्रकार के विवेक की आवश्यकता नहीं। स्थायी संचारी का यह अत्यंत स्थूल रूप से ग्रहण है।

असंबद्ध भावों का रसवत् ग्रहण

अब तक भावों का जो वर्णन हुआ है वह स्थायी संचारी रूप में संबद्ध मानकर हुआ है। पर, जैसा कह आए हैं, नियत प्रधान भाव और नियत संचारी दोनों अलग अलग असंबद्ध रूप में भी आते हैं। इस असंबद्ध रूप में भाव पूर्ण रस पर्यंत पुष्ट चाहे न माने जायँ पर उनका ग्रहण रस के समान ही होता है क्योंकि श्रोता या दर्शक के हृदय में उनके द्वारा किसी न किसी प्रकार का भाव-संचार अवश्य होता है। जो 'प्रधान भाव' कहे गए हैं वे यदि संचारी आदि से रहित होकर भी आएँ तो आलंबन के सामान्य होने पर अपना संचार श्रोता के हृदय में उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार संचारी आदि से पुष्ट होकर आने पर। किसी दुष्ट के अत्याचार का वर्णन करके यदि कोई शब्दों द्वारा ही क्रोध प्रकट करता हुआ दिखाया जाय, अनुभाव या संचारी न लाए जायँ तो भी श्रोता के हृदय में उस दुष्ट आलंबन

के प्रति क्रोध का अनुभव उत्पन्न होगा, बल इतना ही पड़ेगा कि अनुभावों और संचारियों के रहने से उसकी तीव्रता तक पहुँचने के लिये जो बना बनाया मार्ग मिलता वह न मिलेगा। श्रोता अपनी तीव्र या मंद प्रकृति के अनुसार क्रोध का तीव्र या मंद अनुभव करेगा। आलंबन को सामान्य रूप न प्राप्त होने पर भाव का साधारणीकरण तो न होगा जिससे श्रोता का ध्यान आलंबन पर रहे और वह उसके प्रति उसी भाव का अनुभव करे जिस भाव को आश्रय प्रकट करता है पर आश्रय के भावात्मक स्वरूप का श्रोता को साक्षात्कार होगा जिससे उसके (आश्रय के) संबंध में वह अपनी कोई संमति या अपना कोई भाव स्थिर कर सकेगा। जैसे शकुंतला पर क्रोध करते हुए दुर्वासा को देख या पढ़कर शकुंतला के प्रति क्रोध का अनुभव पाठक या दर्शक को न होगा क्योंकि शकुंतला का ऐसा चित्रण नहीं हुआ है जिससे वह क्रोध का सामान्य आलंबन हो सके, सबको उस पर क्रोध उत्पन्न हो सके। ऐसी दशा में श्रोता का ध्यान शकुंतला (आलंबन) पर न रहकर क्रोध करते हुए ऋषि (आश्रय) पर रहेगा। यदि वह विचारशील हुआ तो मुनि को क्रोधी समझेगा और यदि उद्वेगशील हुआ तो उनकी क्रूरता देख विरक्ति, जुगुप्सा या क्रोध का अनुभव करेगा। स्वतंत्र रूप में आए हुए संचारियों के द्वारा भी श्रोता को भाव-प्राप्ति इसी ढंग की होगी। वह उनका अनुभव न करेगा, उनके सहारे और दूसरे भावों का अनुभव करेगा।

उदय से अस्त तक भावों की तीन अवस्थाएँ मानी जा सकती हैं—उदय, स्थिति और शांति। ऊपर भावों की जिस अवस्था का उल्लेख हुआ है वह स्थिति की अवस्था है। पर साहित्य में भावों के उदय और भावों की शांति का प्रभाव भी श्रोता या दर्शक पर

स्वीकार किया गया है और रसतुल्य ही माना गया है। किसी 'भाव' के संचार का आरंभ मात्र 'भावोदय' कहलाता है, जैसे—

(क) दास जू ना मुख-जोति लखे ते सुधाधर-जोति खरी सकुचाति है।
आगि लिये चली जाति सो मेरे हिये बिच आगि दिये चली जाति है॥
[काव्यनिर्णय, ४-४६।]

(ख) कामिनि के कटु बैन, सुनत पिय पलटि चल्यो जब।
छाँड़ी तीय उसास, नीर नयनन झलक्यो तब॥[1]

पहले पद्य में 'राग' का उदय और दूसरे में 'विषाद' का उदय समझना चाहिए। क्षुद्राशय पात्र में किसी प्रसंग के प्रभाव से सहसा किसी उदात्त भाव का उदय अत्यंत तुष्टिजनक प्रतीत होता है। सदा से दुष्ट कर्म में प्रवृत्त मनुष्य के हृदय में कुछ देख सुनकर यदि अपने कर्म से घृणा उत्पन्न होती दिखाई जाय तो उसका प्रभाव बुरे कामों से जिंदगी भर कानों पर हाथ रखनेवाले किसी साधु की प्रकट की हुई घृणा के प्रभाव से अधिक मर्मस्पर्शी होगा। इसी से उपन्यासों में दुर्वृत्त लोगों का अंत में अपने कर्म पर पश्चात्ताप और लज्जा प्रायः दिखाई जाती है।

किसी 'भाव' का दूर होना भाव-शांति है, जैसे—

---

१. [साहित्यदर्पण में उदाहृत निम्नलिखित छंद से मिलाइए—
चरणपतनप्रत्याख्यानात्प्रसादपराङ्मुखे
निभृतकितवाचारेत्युक्त्वा रुषां परुषीकृते।
व्रजति रमणे निःश्वस्योच्चैः स्तनस्थितहस्तया।
नयनसलिलच्छन्ना दृष्टिः सखीषु निवेशिता॥
—तृतीय परिच्छेद, श्लोक २१७।]

पायँन परि, मृदु बचन कहि, प्रिय कीनी मनुहारि।
नेकु तिरीछे चितै तब, दीने अँसुवा ढारि ॥[1]

इसमें दृष्टिपात और अश्रुपात द्वारा मान या क्रोध की शांति व्यंजित की गई है।

भावशांति यदि सच्ची हो और उसका कारण कोई प्रबल भाव या वेग ही हो तो मनुष्य की प्रकृति पर उसका अत्यंत मर्म-स्पर्शी प्रभाव पड़ता है। बुद्धि या विवेक द्वारा निष्पन्न भाव-शांति काव्य के उतने काम की नहीं। हल्दीघाटी की लड़ाई में जब कुछ मोगल महाराणा प्रताप का पीछा किए चले आते थे और महाराणा अपने घोड़े पर नदी पार कर चुके थे तब उनके भाई सक्ता सहसा प्रकट हुए। उनका भ्रातृ-स्नेह उमड़ आया और वे सारा वैर-भाव छोड़ महाराणा के पैरों पर गिर कर रोने लगे। अनुचित भाव की शांति देख श्रोता या दर्शक को एक अपूर्व आत्मतुष्टि प्राप्त होती है। कभी कभी तो जब तक ऐसे भाव की शांति नहीं दिखाई जाती तब तक श्रोता उसके लिये उत्सुक रहता है। राम के प्रति परशुराम के गर्व को देख श्रोता मन ही मन उसके परिहार के अवसर की प्रतीक्षा करता रहता है जिस समय राम परशुराम का दिया हुआ धनुष चढ़ा देते हैं और परशुराम नत होकर विनय करने लगते हैं उस समय पाठक या दर्शक के

---

१ [साहित्यदर्पण में उदाहृत निम्नलिखित छंद से मिलाइए—
सुतनु जहिहि कोपं, पश्य पादानतं मां,
न खलु तव कदाचित्कोप एवंविधोऽभूत्।
इति निगदति नाथे तिर्यगामीलिताक्ष्या,
नयनजलमनल्पं मुक्तमुक्तं न किंचित्॥
—तृतीय परिच्छेद, श्लोक २६७]

हृदय पर से एक बोझ सा हटा जान पड़ता है। आख्यान रूप प्रबंधकाव्यों में ऐसे स्थल बहुत आते हैं। अनिष्ट पात्रों के गर्व, आह्लाद आदि की और इष्ट पात्रों के विषाद, शंका, भय आदि की निवृत्ति के अवसर के लिये पाठक बराबर उत्सुक रहते हैं। मनुष्य के शील-निर्माण में 'भाव-शांति' का दृश्य 'भाव-स्थिति' के दृश्य से कम प्रभावोत्पादक नहीं होता।

कभी कभी दो या दो से अधिक परस्पर असंबद्ध भाव एक ही प्रसंग में प्रकट किए जाते हैं। साहित्य के पंडित लोग ऐसे दो भावों के साथ को 'भाव-संधि' और दो से अधिक भावों के संघात को 'भाव-शबलता' कहते हैं। चित्त की चंचलता से भिन्न भिन्न पक्षों के अंतःकरण में उपस्थित होने के कारण एक ही विषय-प्रसंग में दो या कई भावों का क्रमशः संचार होना एक बहुत ही स्वाभाविक बात है। लोग ऐसा कहते बराबर सुनाई पड़ते हैं कि 'तुम्हारी बात पर हँसी भी आती है, क्रोध भी आता है, दुःख भी होता है।' ये भाव परस्पर जितने ही विरुद्ध होते हैं उतना ही चमत्कार जान पड़ता है। एक विषय पर ध्यान के देर तक न जमने के कारण ऐसे भाव इतने अस्थिर होते हैं कि एक का अनुभव होते न होते दूसरे का उदय हो जाता है। दोनों के बीच अंतर बहुत सूक्ष्म पड़ता है। यह भाव-शबलता दो बातों पर अवलंबित होती है—

(१) प्रसंगगत विषयों के संयोग-वैलक्षण्य पर,

(२) आश्रय के अंतःकरण की स्थिति पर।

एक ही प्रसंग के भिन्न भिन्न पक्ष लेने से विषयों का ऐसा संयोग हो सकता है कि उन सबकी ओर वृत्ति के उन्मुख होने से लगातार कई भावों का संचार प्रायः सब मनुष्यों के हृदय में हो सकता है। पर कभी कभी ऐसा भी होता है कि कुछ एक के

विषय तो सचमुच उपस्थित होते हैं और कुछ के लिये विषयों के रूप, अंतःकरण की तात्कालिक या प्रकृतिगत स्थिति के कारण, कल्पना आप से आप उसी एक प्रसंग में से निकालकर खड़ा करती है। विक्षिप्तों की कल्पना तो ऐसे विषयों को लगातार उपस्थित करने में क्षिप्र होती ही है। पर कभी कभी वृत्ति की चंचलता के कारण और मनुष्यों की भी दशा ऐसी हो जाती है। बुद्धि की लगाम जितनी ही ढीली होगी भावों की यह घुड़दौड़ उतनी ही अधिक होगी। बुद्धि अपनी प्रधानता की दशा में ऐसे विषयों को जिनका तात्कालिक प्रसंग में कोई प्रयोजन नहीं इतना टिकने ही न देगी कि वे कोई भाव उभार सकें। एक खास बना-वट के दिमागवाला आदमी सिर पर दूसरे का बोझ ले जाते समय यह सोचकर गर्व कर सकता है कि मैं मजदूरी के पैसों से रोजगार करके धनी हो जाऊँगा, फिर जो मेरे साथ हलका व्यव-हार करेंगे उनको मैं देख लूँगा, इत्यादि। पर अर्थ-कुशल लोगों की दृष्टि इस प्रकार लक्ष्यच्युत नहीं हुआ करती। अतः धीर और संयत वृत्ति के पात्र में भाव-शबलता यदि दिखाई जा सकती है तो वहीं जहाँ एक ही प्रसंग के सचमुच ऐसे अनेक पक्ष हों जो भिन्न भिन्न भावों के विषय हो सकें। उद्वेगशील जातियों में भाव-शबलता की संभावना अधिक होती है। हमारे बंगाली भाइयों के गर्जन-तर्जन और क्रंदन के बीच बहुत अल्प अवकाश अपेक्षित होता है।

किसी एक भाव के कारण भी कभी कभी बुद्धि सिमटकर किनारे हो जाती है और कल्पना किसी एक ही प्रसंग में अनेक रूपों की उद्भावना करने लगती है। विक्रमोर्वशी में उर्वशी के स्वर्ग चले जाने पर पुरूरवा विरह-वेदना से चंचल होकर कहता है—

"कहाँ यह निषिद्ध कार्य, कहाँ मेरा चन्द्रवंश! क्या वह

फिर कभी दिखाई पड़ेगी ? अहो यह क्या मैंने तो कामादि दोषों का शमन करनेवाले शास्त्र पढ़े हैं। अहा ! क्रोध में भी प्रिय दर्शन उसका मुखड़ा ! भला निष्कल्मष कृतविद्य लोग मेरे इस आचरण पर क्या कहेंगे ? हाय ! वह तो अब स्वप्न में भी दुर्लभ है। हे चित्त ! धीरज धर। न जाने कौन धन्य युवा उसका अधरपान करेगा"।[१]

इस कथन में पहले वाक्य से वितर्क, दूसरे से उत्कंठा, तीसरे से मति, चौथे से स्मरण, पांचवें से शंका, छठे से दैन्य, सातवें से धैर्य और आठवें से चिंता या ईर्ष्या व्यंजित होती है। अब यहाँ पर यह जानने की इच्छा होती है कि एक भाव के कारण चित्त की ऐसी चंचल दशा से उस भाव की तीव्रता समझी जा सकती है या नहीं। यदि भाव का वेग तीव्र होगा तो ध्यान दूसरे विषयों की ओर जायगा कैसे ? इसका उत्तर यह है कि भाव के अधिक तीव्र होने से कभी कभी चित्त विक्षेप हो जाता है और उन्माद की सी दशा हो जाती है जिससे चित्त एक पक्ष पर स्थिर न रहकर इधर उधर दौड़ने लगता है। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि जब एक ही भाव के कारण सब भाव उत्पन्न हुए हैं तब सबके सब करुण विप्रलंभ रति के संचारी क्यों न माने जायँ। इसलिये कि करुण विप्रलंभ यहाँ शब्द और अनुभाव द्वारा प्रधानता से व्यंजित नहीं है। इन भावों का विचार अलग ही हुआ है। रस

---

१ [क्वा कार्यं, शशलक्ष्मणः क्व च कुलं, भूयोपि दृश्येत सा,
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो, कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः, स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा,
चेतः स्वास्थ्यमुपेहि, कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति ॥
—साहित्यदर्पण, ३-२६७।]

पर्यंत पुष्ट विप्रलंभ रति के साथ यहाँ यदि ये संबद्ध माने जायँ तब तो सबका ग्रहण विप्रलंभ शृंगार रस के रूप में ही होगा पर आचार्यों ने इनके संघात को रसवत् माना है। सारांश यह कि असंबद्ध रूप में अलग विचार करने से ये सब भाव मिलकर भाव-शबलता के उदाहरण होंगे और आक्षेप द्वारा रति भाव से संबद्ध मानने से करुण विप्रलंभ के संचारी होंगे।

ऐसा सिद्धांत न रखने से जहाँ कहीं किसी रस में दो संचारी हुए वहाँ भाव-संधि और जहाँ दो से अधिक हुए वहाँ भाव-शबलता कहनी पड़ेगी। पर रस के प्रबल प्रभाव के सामने भाव-संधि या भाव-शबलता के चमत्कार का विचार अनावश्यक होगा। अतः इन दोनों का प्रतिपादन रस के अंगरूप में नहीं होना चाहिए। भाव-संधि आदि का विशुद्ध उदाहरण वही होगा जिसमें दो या कई भाव किसी एक ही स्फुट प्रधान भाव के संचारी के रूप में न होंगे, स्वतंत्र होंगे। इस दृष्टि से साहित्य-दर्पणकार के इस उदाहरण से—

नयनयुगासेचनकं मानसवृत्त्यापि दुष्प्रापम्।
रूपमिदं मदिराक्ष्या मदयति हृदयं दुनोति च मे॥

[साहित्यदर्पण, ३-२६७।]

'दास' का यह उदाहरण अधिक उपयुक्त है—

कंस दलन पर दौर उत इत राधा-हित जोर।
चलि रहि सकै न श्याम चित ऐंच लगी दुहुँ ओर॥

पहले उदाहरण में हर्ष और विषाद रति के संचारी होकर आए हैं, पर दास के उदाहरण में उत्साह और रति दो परस्पर स्वतंत्र भावों की संधि है। साहित्य दर्पणकार के उदाहरण में हर्ष और विषाद के परस्पर अत्यंत विरुद्ध होने से चमत्कार

अधिक है। पर हर्ष और विषाद दो अलग अलग भावों के शासन में भी रखे जा सकते हैं, जैसे—

पीहर को न्योतो सुनत पिय-अनुरागिनि नारि।
बिहँसी, दीर्घ उदास पुनि लीनी कछुक विचारि।

यहाँ नायिका के हर्ष का कारण माता-पिता का स्नेह और विषाद का कारण नायक के प्रति अनुराग है। भिन्न भिन्न आलंबनों के प्रति होने से हर्ष और विषाद दोनों का कारण एक ही 'रति भाव' नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भाव-संधि का एक गूढ़ उदाहरण दिया है। जब हनुमान्‌जी ने अशोक के पेड़ पर से राम की मुद्रिका सीताजी के सामने गिराई तब—

चकित चितै मुँदरी पहिचानी। हर्ष विषाद हृदय उर आनी॥
[राम-चरित-मानस, पचम सोपान।]

यहाँ हर्ष तो राम के प्रति रति का संचारी है पर उनका विषाद रति के संचारी के भीतर नहीं है। इस विषाद का मूल वियोग नहीं है घोर अनिष्ट की आशंका है। अतः यह उदाहरण भाव-संधि का है। हर्ष और विषाद की परस्पर विजातीयता से इसमें चमत्कार भी पूरा है। इस संबंध में एक शंका यह उठाई जा सकती है कि हर्ष और विषाद की यह संधि भावक्षेत्र मे रखी जानी चाहिए या प्रेयस आदि अलकारों में। ये भाव रसक्षेत्र के भीतर ही माने जायँगे क्योंकि ये किसी दूसरी वस्तु या भाव के अंग होकर नहीं आए हैं। केवल वाच्य द्वारा कथन होने से रस-क्षेत्र से निकाले नहीं जा सकते।

विरोध-विचार

रस-विरोध तीन दृष्टियों से हो सकता है—

(१) आश्रय की दृष्टि से,

(२) आलंबन की दृष्टि से और

(३) श्रोता की दृष्टि से।

साहित्य-ग्रंथों में जो नैरंतर्यकृत विरोध कहा है उसे श्रोता की दृष्टि से समझना चाहिए। उसका अभिप्राय यही है कि एक भाव को रस-रूप में ग्रहण करने के उपरांत ही तुरंत श्रोता के सामने ऐसे भाव की व्यंजना न की जाय जिससे उसे अपनी मानसिक स्थिति में सहसा बहुत अधिक परिवर्तन करना पड़े। ऐसे दो विरुद्ध भावों की पूर्वापर स्थिति होने से दो में से एक का भी प्रभाव पूर्ण रूप से हृदय पर नहीं हो सकता। मुक्तक में तो इस नैरंतर्यकृत विरोध की संभावना बहुत ही कम होगी क्योंकि एक पद्य में प्रायः एक ही पूर्ण रस की व्यंजना की जाती है। उसमें आश्रय और आलंबन के एक से अधिक जोड़े की गुंजाइश नहीं होती। प्रबंध-काव्यों में

इस प्रकार के विरोध की आशंका हो सकती है। पर जो प्रबंधपटु कवि होगा वह एक भाव की पूर्ण (रस रूप में) व्यंजना हो जाने पर प्रसंग की स्वाभाविक गति के अनुरोध से दूसरे विरुद्ध भाव के आने के पहले कुछ अंतर आप से आप डालेगा। इस दृष्टि से नैरंतर्यकृत विरोध का विचार एक प्रकार से अनावश्यक ही समझिए। अतः आगे जो कुछ कहा जायगा उसे साहचर्य कृत विरोध के संबंध में ही समझना चाहिए।

पर एक ही रस की व्यंजना के विरुद्ध भाव की व्यंजना न होने पर भी श्रोता की दृष्टि से विरुद्ध सामग्री घुस सकती है। यह वहाँ होगा जहाँ किसी भाव के उत्कर्ष आदि की व्यंजना करते समय कवि जान या अनजान में ऐसी वस्तुओं का उल्लेख कर जायगा जो विरुद्ध भाव का आलंबन या उद्दीपन हो सकती हैं। जिस पात्र के मुख से ऐसी वस्तुओं के नाम कहलाए जायँगे वह तो अपने भाव के वेग में उन नामों के संकेत पर, संभव है, ध्यान न दे पर उन शब्दों द्वारा वस्तु और व्यापार का जो चित्र (Imagery) श्रोता के अंतःकरण के सामने खड़ा होगा उसका विचार रखना परम आवश्यक है क्योंकि रस-संचार प्रधानतः उस चित्र पर अवलंबित होगा। हमारे यहाँ के प्राचीन कवियों ने इस बात का विचार रखा है कि किसी एक रस के वर्णन के भीतर उसी रस की उत्कर्ष-व्यंजना के लिये भी ऐसी सामग्री सामने न आने पावे जो विरुद्ध भाव का आलंबन हो सके। शृंगार के वर्णन में ऐसी वस्तुओं का उल्लेख न मिलेगा जिनके सामने आने से भय या विरक्ति उत्पन्न हो। विप्रलंभ शृंगार में भी विरहिणी के ताप का कमल उशीर आदि के द्वारा शमन न होना आदि ही वर्णन किया गया है—कलेजे में आवले पड़ना, जख्म का मुहँ खुलना, मवाद बहना आदि नहीं।

फारसी-उर्दू की शायरी में उपस्थित चित्र (Imagery) का कुछ भी ध्यान नहीं रखा गया है, भाव के उत्कर्ष और मुहावरे के जोर पर ही ज्यादा जोर दिया गया है, जैसे—

(क) बहुत शोर सुनते थे पहलू में दिल का,
जो चीरा तो एक क़तरए खूँ न निकला। [आतिश]

(ख) ज़ख्म के भरने तलक नाखुन न बढ़ आएँगे क्या ?
[गालिब]

(ग) ऐ हुमा ! क्या मुँह है तेरा पोस्तकंद: मुझसे सुन
उस्तख्वाँ मेरे हैं सब वक्फ़े सगाने कूए दोस्त !

यह तो एक ही रस के भीतर विरुद्ध भाव की सामग्री मात्र आ जाने की बात हुई। पर कहीं कहीं एक ही पद्य के भीतर दो रसों या भावों का भी आश्रय आलंबन भिन्न भिन्न रखकर समावेश हो सकता है। ऐसे स्थलों में श्रोता ही की दृष्टि से विरोध का विचार करना होगा। भावों का जो दो वर्गों में विभाग किया गया है देखिए वह कहाँ तक इस विचार में काम देता है। उक्त वर्ग-विधान के अनुसार प्रथम चतुष्टय के आनंदात्मक भाव परस्पर सजातीय और द्वितीय चतुष्टय के दुःखात्मक भाव परस्पर सजातीय होंगे। पर द्वितीय चतुष्टय का कोई भाव प्रथम चतुष्टय के प्रत्येक भाव का विजातीय होगा।[1] इस दृष्टि से करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स चारों में से प्रत्येक शृंगार, हास, वीर और अद्भुत में से प्रत्येक का विरोधी ठहरता है। पर युद्धवीर के साथ रौद्र, भयानक और वीभत्स प्रायः लगे रहते हैं। इसका कारण आलंबन की अनेक-रूपता है। पहले कह आए हैं कि युद्धोत्साह का आलंबन युद्ध-कर्म ही होता है जिसके भीतर रौद्र, भयानक और

---

१ [देखिए ऊपर पृष्ठ १६२।]

बीभत्स व्यापारों का समावेश होता है।[1] यह युद्ध-कर्म श्रोता के भाव का भी आलंबन होता है यह फिर से कहने की आवश्यकता नहीं, अतः श्रोता अपने आलंबन के स्वरूप के भीतर ही इन सब भावों का रस-रूप में अनुभव करता है जिससे वीरोत्साह का रसरूप अनुभव और भी तीव्र होता है। युद्धोत्साह असाधारण उत्साह है। जो कर्म साधारणतः लोगों के भय, संकोच, दुःख आदि के विषय हुआ करते हैं वे असाधारण लोगों के प्रवृत्यात्मक आनंद के विषय होते हैं घोर साहस, कष्ट-सहिष्णुता आदि युक्त असाधारण उत्साह—ऐसे कर्मों के प्रति उत्साह जिनमें प्राण जाने या भारी हानि पहुँचने की सभावना होती है—ही वीर रस के मूल में रखा गया है, साधारण उत्साह नहीं (जैसे मित्र की अभ्यर्थना की तैयारी आदि की तत्परता, जिसमें थोड़ा शरीर का आराम या आलस्य ही छोड़ा जाता है। उत्साह के असाधारणत्व की प्रतीति उत्पन्न करने के लिये—कर्म की भीषणता या कठिनता स्पष्ट करने के लिये—भयानक, रौद्र और बीभत्स वीर रस के साथ लगा दिए जाते हैं। सामान्य उत्साह के साथ इन विजातीय भावों का विरोध ही रहेगा।

अब अद्भुत रस को लीजिए। सजातीय विजातीय के विचार से रौद्र, भयानक, बीभत्स और करुण के साथ इसका विरोध होना चाहिए क्योंकि आश्चर्य आनंदात्मक भावों के अंतर्गत रखा गया है। पर अद्भुत रस के विरोधी भाव साहित्य-ग्रंथों मे गिनाए ही नहीं गए हैं। जान पड़ता है कि साहित्य मीमांसक-लोग यह देखकर हिचके हैं कि प्रत्येक भाव का आलबन अद्भुत हो सकता है और चमत्कारवादियों के अनुसार तो होना ही

---

१ [देखिए ऊपर पृष्ठ १६३।]

चाहिए। पर यहाँ आलंबन के किसी स्वरूप की सत्ता मात्र से प्रयोजन नहीं है। उसके प्रति आश्रय या श्रोता के हृदय में किन भावों का उदय हो सकता है यह निश्चय करना चाहिए। शोक, क्रोध, भय या घृणा के अनुभव की दशा मे क्या चित्त को इतना अवकाश मिल सकता है कि वह किसी वस्तु या व्यापार की लौकिकता अलौकिकता की ओर जाय ? मैं समझता हूँ, नहीं। इसी से अद्भुत रस के जो उदाहरण पाए जाते हैं वे करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक के साथ नहीं मिलते। अद्भुत भीषणता, अद्भुत क्रोध आदि में अद्भुत की सत्ता का हमें अलग अनुभव नहीं हो सकता। कामदेव को भस्म करने के लिये शिव के तृतीय नेत्र से निकली हुई ज्वाला का वर्णन सुनते ही श्रोता को रौद्र रस का ही अनुभव होगा, व्यापार की अलौकिकता की ओर उसका ध्यान तत्काल न जाएगा।

आश्रयगत विरोध

कुछ रसों में विरोध उनके भावों के एक ही आश्रय में दिखाए जाने से होता है। परस्पर विरुद्ध भावों को एक ही आश्रय में एक साथ दिखाना दोनों को किसी काम का न रखना है। जैसे, क्रोध और उत्साह के साथ भय का भी एक ही आश्रय में होना अयुक्त है। युद्ध के प्रति उत्साह प्रकट करनेवाला वीर यदि साथ ही भय भी प्रकट करे तो उसकी वीरता कहाँ रह जायगी ? इसी प्रकार क्रोध दिखाने के साथ ही साथ कोई भय भी दिखाता जाय तो उसका क्रोध दर्शक या श्रोता में रौद्र रस का संचार नहीं कर सकता।

आलंबनगत विरोध

बहुत से भाव ऐसे होते हैं जो एक ही आलंबन के प्रति एक

साथ नहीं हो सकते जैसे जिस व्यक्ति के प्रति कोई रति भाव प्रकट कर रहा है उसी के प्रति उसी अवसर पर वीर भाव या या जुगुप्सा का भाव नहीं प्रकट कर सकता। अतः रति के साथ युद्धवीर का भाव सजातीय होने पर भी एक ही आलंबन के प्रति होने से विरुद्ध हो जायगा। भिन्न भिन्न आलंबनों के प्रति ये दोनों भाव एक साथ रखे जा सकते हैं, जैसे—

सीय गौर कपोल पुलकित लखत बारंबार ही।
दनुज कलकल सुनत राघव जटा बाँधि सँभारही ॥[1]

यहाँ एक ही राम में इन दोनों भावों का समावेश दूषित नहीं। एक ही आलंबनगत होने से जितने भाव परस्पर विरुद्ध होते हैं उतने और किसी प्रकार नहीं। सजातीय भाव भी कभी कभी एक ही आलंबन के प्रति होने से परस्पर विरुद्ध हो जाते हैं। जो प्रेम का पात्र दिखाया जा रहा है वह उसी अवसर पर अवज्ञा पूर्ण उपहास और युद्धोत्साह का आलंबन नहीं बनाया जा सकता। इसी प्रकार जो क्रोध का आलंबन है वह साथ ही भय का भी आलंबन नहीं दिखाया जा सकता। पर जिस हास्य का विरोध शृंगार के साथ कहा गया है वह अवज्ञापूर्ण हास है। विनोदपूर्ण हास रति भाव के साथ आ सकता है। शिव के विचित्र वेश पर हास्य की व्यंजना भक्तिभाव के साथ बराबर की गई है। रामचरितमानस में शिव की बरात का वर्णन ही लीजिए।

पहले कहा जा चुका है कि भावों के अनेक भेद भिन्न भिन्न आलंबनों के स्वरूप भेद की भावना के कारण निर्दिष्ट हुए हैं। इसी भेद-व्यवस्था के अनुसार एक ही आलंबन में परिस्थितिभेद

१. [मिलाइए चिंतामणि, पहला भाग, लोभ और प्रीति', पृष्ठ १२१]

से कुछ नये स्वरुप की भी योजना हो जाती है। जैसे, रति भाव का आलंबन नायिका यदि कुछ दुःख या पीड़ा में है तो उसे उस स्वरूप के अतिरिक्त स्वरूप कुछ प्राप्त हो जाता है जो रति भाव का आलंबन है। ऐसी दशा में कोई भाव यदि इतना स्थायी है कि आलंबन के परिस्थितिभेद से उत्पन्न कोई अन्य भाव विजातीय होने पर भी उसे दबा नहीं सकता और संचारी भी नहीं कहला सकता तो दोनों भाव एक ही आलंबन के प्रति एक साथ दिखाए जा सकते है। एक उदाहरण कल्पित कीजिए—

शिलाखंड सों अढुकि तिय गिरी चोट अति खाय।
नयन नीर भरि पुलकि प्रभु लियो अंक में लाय॥

यहाँ पर रति भाव और करुण एक ही आलंबन के प्रति विरुद्ध नहीं हैं। जिसे आचार्यों ने शृंगार का विरोधी कहा है वह मरणजन्य आदि पूर्ण शोक है जो अत्यंत दारुण होता है। अल्प कारण से उत्पन्न साधारण करुणा विजातीय होने पर भी रति भाव का विरोधी नहीं। बहुत से कुशल उपन्यासकारों ने किसी आलंबन के प्रति करुणामिश्रित प्रेमभाव की उत्पत्ति बड़ी सहृदयता से दिखाई है।

ऐसे स्थलों में करुणा में विरोध की मात्रा कुछ भी नहीं होती। विरोध की मात्रा का निर्णय दो भावों की प्रवृत्तियों के मिलान से हो सकता है। जैसे, रति भाव आलंबन को प्यार से प्रसन्न करने के लिये प्रवृत्त करता है, क्रोध आलंबन को पीड़ित करने के लिए, जुगुप्सा और भय उससे दूर हटने के लिये, करुणा उसके हित साधन या प्रबोध के लिये। अतः रति भावके साथ क्रोध, भय और जुगुप्सा का विरोध अत्यंत अधिक है। रति भाव के साथ साधारण करुणा की प्रवृत्ति का विरोध नहीं है। शृंगार

के साथ करुणा का जो विरोध कहा गया है वह आश्रय की दृष्टि से—इस विचार से कि रति भाव की भावदशा एक प्रकार की आनंद दशा है। उस दशा के भीतर पूर्ण शोक की दशा आकर बाधक हो सकती है। तात्पर्य यह कि पूर्ण रस की दशा में ही शृंगार और करुण परस्पर विरोधी होंगे 'उद्बुद्ध-मात्र' भाव के रूप में नहीं।

अविरोध के कुछ स्थल साहित्य-ग्रंथों में गिनाए गए हैं। जहाँ विरोधी भाव केवल स्मरण किया जाता है या सादृश्य मात्र दिखाने के लिये लाया जाता है वहाँ विरोध नहीं माना जाता, जैसे—

पुलकित तनु जाके सहित कीन्हे बिबिध बिहार।
सो सुरपुर हा! कहति यों मोचति लोचन-धार॥

इसी प्रकार यदि रौद्र रस का वर्णन आलंकारिक चमत्कार लाने के लिये ऐसे शब्दों में किया जाय जो शृंगारपक्ष में भी लग सकते हों तो रीति के अनुसार विरोध नहीं कहा जायगा। शब्द-कौतुक की ओर रुचि बढ़ जाने के कारण ऐसे स्थलों पर विरोध चाहे न कहा जाय पर रस का अच्छा संचार ऐसे वर्णनों से हो नहीं सकता। किसी रस का संचार उसी के स्पष्ट शब्दों में वर्णन करने से पूर्णतया हो सकता है। रस यदि श्रोता के हृदय पर पड़ा हुआ प्रभाव है—यदि वह भिन्न भिन्न भावों का भिन्न भिन्न आस्वाद रूप है—तो भिन्न भाव के शब्दों में किसी भाव के कहे जाने से उसका ठीक ठीक परिपाक नहीं हो सकता। कोई सहृदय ऐसा वर्णन पसंद नहीं करेगा।

यदि विरुद्ध भाव किसी दूसरे भाव या रस के अंग होकर आवें तो वे एक साथ रह सकते हैं, जैसे—

मूर्च्छित लखनहिं लखत नीर नयनन भरि लावत।
संमुख निसिचर निरखत ही कोदंड उठावत॥
राघव की वा अवसर की छवि छटा निहारत।
मोहित ह्वै सुर गगन बीच तन मन निज वारत॥

यहाँ 'शोक' और 'उत्साह' दोनों विरोधी भाव रामविषयक रति भाव के अंग होकर आए हैं, इससे दोष नहीं। अंत में यह फिर कह देना आवश्यक है कि विरोध का उपर्युक्त विचार केवल वहाँ के लिये है जहाँ कवि का उद्देश्य पूर्ण रस की व्यंजना हो। प्रबंध के भीतर बराबर ऐसे अवसर आते हैं जिनमें पात्र दो विरोधी भावों की खींच-तान में पड़ा दिखाई देता है। ऐसी भाव-संधि के अवसर पर विरोध का विचार नहीं किया जाता। वहाँ तो विरोध में ही चमत्कार दिखाई पड़ता है।

रस

रसात्मक बोध

ज्ञानेंद्रियों से समन्वित मनुष्य-जाति जगत् नामक अपार और अगाध रूप-समुद्र में छोड़ दी गई है। न जाने कब से वह इसमें बहती चली आ रही है। इसी की रूप-तरंगों से ही उसकी कल्पना का निर्माण और इसी की रूप-गति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है। सौंदर्य, माधुर्य, विचित्रता, भीषणता, क्रूरता इत्यादि की भावनाएँ बाहरी रूपों और व्यापारों से ही निष्पन्न हुई हैं। हमारे प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, करुणा इत्यादि भावों की प्रतिष्ठा करनेवाले मूल आलंबन बाहर ही के हैं—इसी चारों ओर फैले हुए रूपात्मक जगत् के ही हैं। जब हमारी आँखें देखने में प्रवृत्त रहती हैं तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते हैं; जब हमारी वृत्ति अंतर्मुख होती है तब रूप हमारे भीतर दिखाई पड़ते हैं। बाहर भीतर दोनों ओर रहते हैं रूप ही। सुंदर, मधुर, भीषण या क्रूर लगनेवाले रूपों या व्यापारों से भिन्न सौंदर्य, माधुर्य, भीषणता या क्रूरता कोई पदार्थ नहीं। सौंदर्य की भावना जगना सुंदर सुंदर वस्तुओं या व्यापारों का मन में आना ही है। इसी प्रकार

मनोवृत्तियों या भावों की सुंदरता, भीषणता आदि की भावना भी रूप होकर मन में उठती है। किसी की दयाशीलता या क्रूरता की भावना करते समय दया या क्रूरता के किसी विशेष व्यापार या दृश्य का मानसिक चित्र ही मन में रहता है, जिसके अनुसार भावना तीव्र या मंद होती है। तात्पर्य यह कि मानसिक रूप-विधान का नाम ही संभावना या कल्पना है।

मन के भीतर यह रूप विधान दो तरह का होता है। या तो यह कभी प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं का ज्यों का त्यों प्रतिबिंब होता है अथवा प्रत्यक्ष देखे हुए पदार्थों के रूप, रंग, गति आदि के आधार पर खड़ा किया हुआ नया वस्तु-व्यापार-विधान। प्रथम प्रकार की आभ्यंतर रूप-प्रतीति स्मृति कहलाती है और द्वितीय प्रकार की रूप-योजना या मूर्ति-विधान को कल्पना कहते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों प्रकार के भीतरी रूप-विधानों के मूल हैं प्रत्यक्ष अनुभव किए हुए बाहरी रूप-विधान। अतः रूप-विधान तीन प्रकार के हुए—

१ प्रत्यक्ष रूप-विधान
२ स्मृत रूप-विधान और
३ संभावित या कल्पित रूप-विधान।

इन तीनों प्रकार के रूप-विधानों में भावों को इस रूप में जागरित करने की शक्ति होती है कि वे रस-कोटि में आ सकें, यही हमारा पक्ष है। संभावित या कल्पित रूप-विधान द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूति तो सर्वत्र काव्यानुभूति या रसानुभूति मानी जाती है। प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति की कोटि में आ सकती है, यहाँ पर हमे यही दिखाना है।

प्रत्यक्ष रूप-विधान

भावुकता की प्रतिष्ठा करनेवाले मूल आधार या उपादान प्रत्यक्ष रूप ही हैं। इन प्रत्यक्ष रूपों की मार्मिक अनुभूति जिनमें जितनी ही अधिक होती है वे उतने ही रसानुभूति के उपयुक्त होते हैं। जो किसी मुख के लावण्य, वनस्थली की सुषमा, नदी या शैलतटी की रमणीयता, कुसुम-विकास की प्रफुल्लता, ग्राम दृश्यों की सरल माधुरी देख मुग्ध नहीं होता; जो किसी प्राणी के कष्ट-व्यंजक रूप और चेष्टा पर करुणार्द्र नहीं होता; जो किसी पर निष्ठुर अत्याचार होते देख क्रोध से नहीं तिलमिलाता, उसमें काव्य का सच्चा प्रभाव ग्रहण करने की क्षमता कभी नहीं हो सकती। जिसके लिये ये सब कुछ नहीं हैं, उसके लिये सच्ची कविता की अच्छी से अच्छी उक्ति भी कुछ नहीं है। वह यदि किसी कविता पर वाह वाह करे तो समझना चाहिए कि या तो वह भावुकता या सहृदयता की नकल कर रहा है अथवा उस रचना के किसी ऐसे अवयव की ओर दत्तचित्त है जो स्वतः-काव्य नहीं है। भावुकता की नकल करनेवाले श्रोता या पाठक ही नहीं, कवि भी हुआ करते हैं। वे सच्चे भावुक कवियों की

वाणी का अनुकरण बड़ी सफाई से करते हैं और अच्छे कवि कहलाते हैं। पर सूक्ष्म और मार्मिक दृष्टि उनकी रचना में हृदय की निश्चेष्टता का पता लगा लेती है। किसी काल में जो सैकड़ों कवि प्रसिद्ध होते हैं उनमें सच्चे कवि—ऐसे कवि जिनकी तीव्र अनुभूति ही वास्तव में कल्पना को अनुकूल रूप-विधान में तत्पर करती है—दस पाँच ही होते हैं।

'प्रत्यक्ष' से हमारा अभिप्राय केवल चाक्षुष ज्ञान से नहीं है। रूप शब्द के भीतर शब्द, गंध, रस और स्पर्श भी समझ लेना चाहिए। वस्तु-व्यापार-वर्णन के अंतर्गत ये विषय भी रहा करते हैं। फूलों और पक्षियों के मनोहर आकार और रंग का ही वर्णन कवि नहीं करते; उनकी सुगंध, कोमलता और मधुर स्वर का भी वे बराबर वर्णन करते हैं। जिन लेखकों या कवियों की घ्राण-शक्ति तीव्र होती है वे ऐसे स्थलों की गंधात्मक विशेषता का वर्णन कर जाते हैं जहाँ की गंध-विशेष का थोड़ा बहुत अनुभव तो बहुत से लोग करते हैं पर उसकी ओर स्पष्ट ध्यान नहीं देते। खलियानों और रेलवे-स्टेशनों पर जाने से भिन्न भिन्न प्रकार की गंध का अनुभव होता है। पुराने कवियों ने तुरंत की जोती हुई भूमि से उठी हुई सोंधी महँक का,[1] हिरनों के द्वारा चरी हुई दूब की ताजी गमक का उल्लेख किया है फरासीसी उपन्यासकार जोला की गंधानुभूति बड़ी सूक्ष्म थी। उसने योरप के कई नगरों और स्थानों की गंध की पहचान बताई है। इसी प्रकार बहुत से शब्दों का अनुभव भी बहुत सूक्ष्म होता है। रात्रि में, विशेषतः वर्षा की रात्रि में, झींगुरों और झिल्लियों के झंकार-मिश्रित सीत्कार का बँधा तार सुनकर लड़क-

१ [मेघदूत, पूर्वमेघ, १६ ।]

पन में मैं यही समझता था कि रात बोल रही है। कवियों ने कलियों के चटकने तक के शब्द का उल्लेख किया है।[1]

ऊपर गिनाए हुए तीन प्रकार के रूप-विधानों में से अंतिम (कल्पित) ही काव्य-समीक्षकों और साहित्य-मीमांसकों के विचार-क्षेत्र के भीतर लिए गए हैं और लिए जाते हैं। बात यह है कि काव्य शब्द-व्यापार है। वह शब्द-संकेतों के द्वारा ही अंतस् में वस्तुओं और व्यापारों का मूर्ति-विधान करने का प्रयत्न करता है। अतः जहाँ तक काव्य की प्रक्रिया का संबंध है वहाँ तक रूप और व्यापार कल्पित ही होते हैं। कवि जिन वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन करने बैठता है वे उस समय उसके सामने नहीं होते, कल्पना में ही होते हैं। पाठक या श्रोता भी अपनी कल्पना द्वारा ही उनका मानस साक्षात्कार करके उनके आलंबन से अनेक प्रकार के रसानुभव करता है। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक था कि कवि-कर्म का निरूपण करनेवालों का ध्यान रूप-विधान के कल्पना-पक्ष पर ही रहे; रूपों और व्यापारों के प्रत्यक्ष बोध और उससे संबद्ध वास्तविक भावानुभूति की बात अलग ही रखी जाय।

उदाहरण के रूप में ऊपर लिखी बात यों कही जा सकती है। एक स्थान पर हमने किसी अत्यंत रूपवती स्त्री का स्मित आनन और चंचल-भ्रूविलास देखा और मुग्ध हुए अथवा किसी पर्वत के अंचल की सरस सुषमा देख उसमें लीन हुए। इसके

---

१ [(क) मदन-महीप जू को बालक बसंत ताहि
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै। —देव।
(ख) तुव जस सीतल पौन परसि चटकीं गुलाब की कलियाँ।
—भारतेंदु हरिश्चंद्र।]

उपरांत किसी प्रतिमालय और चित्रशाला में पहुँचे और रमणी की वैसी ही मधुर मूर्ति अथवा उसी प्रकार के पर्वतांचल का चित्र देख लुब्ध हुए। फिर एक तीसरे स्थान पर जाकर कविता की कोई पुस्तक उठाई और उसमें वैसी ही नायिका अथवा वैसे ही दृश्य का सरस वर्णन पढ़ रसमग्न हुए। पिछले दो स्थलों की अनुभूतियों को ही कलागत या काव्यगत मान प्रथम प्रकार की (प्रत्यक्ष या वास्तविक) अनुभूति का विचार एकदम किनारे रखा गया। यहाँ तक कि प्रथम से शेष दो का कुछ संबंध ही न समझा जाने लगा। कोरे शब्द-व्यवसायी केशवदासजी को कमल और चंद्र को प्रत्यक्ष देखने में कुछ भी आनंद नहीं आता था; केवल काव्यों में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के अंतर्गत उनका वर्णन या उल्लेख ही भाता था—

"देखे मुख भावै, अनदेखेई कमल-चंद ;
तातें मुख मुखै, सखी ! कमलौ न चंद री।"
[रामचद्र-चंद्रिका, ६-४२।]

इतने पर भी उनके कवि होने में कोई संदेह नहीं किया गया।

यही बात योरप में भी बढ़ती बढ़ती बुरी हद को पहुँची। कलागत अनुभूति को वास्तविक या प्रत्यक्ष अनुभूति से एकदम पृथक् और स्वतंत्र निरूपित करके वहाँ कवि का एक अलग 'काल्पनिक जगत्' कहा जाने लगा। कला-समीक्षकों की ओर से यह धारणा उत्पन्न की जाने लगी कि जिस प्रकार कवि के 'काल्पनिक जगत्' के रूप-व्यापारों की संगति प्रत्यक्ष या वास्तविक जगत् के रूप-व्यापारों से मिलाने की आवश्यकता नहीं, उसी प्रकार उसके भीतर व्यंजित अनुभूतियों का सामंजस्य जीवन की वास्तविक अनुभूतियों में ढूँढ़ना अनावश्यक है। इस दृष्टि से

काव्य का हृदय पर उतना ही और वैसा ही प्रभाव स्वीकार किया गया जितना और जैसा किसी परदे के बेल-बूटे, मकान की नक्काशी, सरकस के तमाशे तथा भाँड़ों की लफ्फाजी, उछल-कूद या रोने-धोने का पड़ता है। इस धारणा के प्रचार से जान में या अनजान मे कविता का लक्ष्य बहुत नीचा कर दिया गया। कहीं कहीं तो वह अमीरों के शौक की चीज समझी जाने लगी। रसिक और गुण-ग्राहक बनने के लिये जिस प्रकार वे तरह तरह की नई-पुरानी, भली-बुरी तसबीरें इकट्ठी करते, कलावंतों का गाना-बजाना सुनते, उसी प्रकार कविता की पुस्तकें भी अपने यहाँ सजाकर रखते और कवियों की चर्चा भी दस आदमियों के बीच बैठकर करते। सारांश यह कि 'कला' शब्द के प्रभाव से कविता का स्वरूप तो हुआ सजावट या तमाशा और उद्देश्य हुआ मनोरंजन या मनबहलाव। यह दशा देख कुछ पुराने मनोविज्ञानियों ने भी काव्य द्वारा प्रेरित विविध भावों के संचार को एक प्रकार की क्रीड़ा-वृत्ति (**play impulse**) ठहराया। यह 'कला' शब्द आजकल हमारे यहाँ भी साहित्य-चर्चा में बहुत जरूरी सा हो रहा है। इससे न जाने कब पीछा छूटेगा ? हमारे यहाँ के पुराने लोगों ने काव्य को ६४ कलाओं में गिनना ठीक नहीं समझा था।

अब यहाँ पर रसात्मक अनुभूति की उस विशेषता का विचार करना चाहिए जो उसे प्रत्यक्ष विषयों की वास्तविक अनुभूति से पृथक् करती प्रतीत हुई है। इस विशेषता का निरूपण हमारे यहाँ साधारणीकरण के अंतर्गत किया गया है।

किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयों को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौंदर्य, रहस्य, गांभीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है वे अकेले

उसी के हृदय से संबंध रखनेवाले नहीं होते; मनुष्य-मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालनेवाले होते हैं। इसी से उक्त काव्य को एक साथ पढ़ने या सुननेवाले सहस्रों मनुष्य उन्हीं भावों या भावनाओं का थोड़ा या बहुत अनुभव कर सकते हैं। जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके तब तक उसमे रसोद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है। यह सिद्धांत यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेपताओं और विचित्रताओं के बीच से मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को अलग करके देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।

आलंबन के जिस साधारणीकरण का ऊपर उल्लेख हुआ है उसका अभिप्राय स्पष्ट हो जाना चाहिए। मेरे विचार में साधारणीकरण प्रभाव का होता है, सत्ता या व्यक्ति का नहीं। जैसे, किसी काव्य मे यदि औरंगजेब की घोर निष्ठुरता और क्रूरता पर शिवाजी के भीषण क्रोध की व्यंजना हो तो पाठक का रसात्मक क्रोध औरंगजेब नामक व्यक्ति ही पर होगा; औरंगजेब से अलग क्रूरता की किसी आरोपित सामान्य मूर्ति पर नहीं। रौद्र रस की अनुभूति के समय कल्पना औरंगजेब की ही रहेगी, किसी भी निष्ठुर या क्रूर व्यक्ति की सामान्य और धुँधली भावना नहीं। पाठक या श्रोता के मन में रह रहकर यही आएगा कि औरंगजेब सामने होता तो उसे खूब पीटते। मतलब यह कि भावना व्यक्ति विशेष की ही रहती है; उसमें प्रतिष्ठा सामान्य स्वरूप की—ऐसे स्वरूप की जो सबके भावों को जगा

सके—कर दी जाती है। विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं, इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेद-भाव नहीं रहता कि ये आलंबन मेरे हैं या दूसरे के। थोड़ी देर के लिये पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। जब कि आश्रय के साथ अभिन्नता हो गई तब उसके आलंबन भी अपने आलंबन हो ही जायँगे।

किसी काव्य में वर्णित किसी पात्र का किसी कुरूप और दुःशील स्त्री पर प्रेम हो सकता है पर उस स्त्री के वर्णन द्वारा शृंगार रस का आलंबन नहीं खड़ा हो सकता। अतः काव्य केवल भाव-प्रधान ही होगा, विभाव-विधायक कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार रौद्र रस के वर्णन मे जब तक आलंबन का चित्रण इस रूप में न होगा कि वह मनुष्य मात्र के क्रोध का पात्र हो सके तब तक वह वर्णन भाव प्रधान ही रहेगा, उसका विभाव-पक्ष या तो शून्य अथवा अशक्त होगा। पर भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति हो नहीं सकती। भाव-प्रधान काव्यों में होता यह है कि पाठक या श्रोता अपनी ओर से अपनी भावना के अनुसार आलंबन का आरोप किए रहता है।[1]

प्राचीन काल में भट्ट और चारण युद्धस्थल में वीर रस की कविताएँ पढ़ पढ़कर वीरों को अस्त्र-संचालन के लिये उत्तेजित किया करते थे। योद्धाओं के सामने कर्मक्षेत्र और शत्रु दोनों प्रत्यक्ष रहते थे। फड़कती हुई कविता सुनकर वे उपस्थित कर्मक्षेत्र विशेष की ओर उन्मुख होते थे। इसी प्रकार आधुनिक काल में भी गत योरपीय महायुद्ध के समय कैसर और जर्मनों

---

१ [मिलाइए चिंतामणि, पहला भाग, पृष्ठ ३०६, ३३८ ।]

के अत्याचार की न जाने कितनी कहानियाँ फैलाई गईं और उनकी क्रूरता और नृशंसता पर अनेक कविताएँ पत्रिकाओं में इधर उधर निकली थीं जिन्हें पढ़ पढ़कर न जाने कितने अमेरिकनों का खून उबल उठा होगा और वे जर्मनी के विरुद्ध युद्ध क्षेत्र में कूदे होंगे। ऐसी अवस्था में क्या कोई कह सकता है कि उन कविताओं के पाठकों के क्रोध का आलंबन कैसर विलियम नामक व्यक्ति विशेष और जर्मन नामक जाति विशेष नहीं थी? क्या उनकी कल्पना में किसी अनिर्दिष्ट अत्याचारी या क्रूरकर्मा का सामान्य रूप ही था? हमारा निश्चय तो यही है कि अत्याचारी या क्रूरकर्मा का लोक-सामान्य स्वरूप जब कैसर में आरोपित कर दिया गया तब पाठक या श्रोता के क्रोध नामक भाव का आलंबन वही व्यक्ति विशेष हो गया। अतः सिद्धांत यही निकला कि साधारणीकरण स्वरूप का ही होता है, व्यक्ति या वस्तु का नहीं। इस सिद्धांत का पूर्ण सामजस्य उस सिद्धांत के साथ हो जाता है जिसका निरूपण मैं अपने पिछले प्रबंधों में कर चुका हूँ।[1] वह सिद्धांत यह है कि मन में आलंबनों का मार्मिक ग्रहण बिंब-ग्रहण के रूप में होता है; केवल अर्थ-ग्रहण के रूप में नहीं।

इस प्रकार 'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि किसी काव्य में वर्णित आलंबन केवल भाव की व्यंजना करनेवाले पात्र (आश्रय) का ही आलंबन नहीं रहता बल्कि पाठक या श्रोता का भी—एक ही नहीं अनेक पाठकों और श्रोताओं का भी—आलंबन हो जाता है। अतः उस आलंबन के प्रति व्यंजित भाव में पाठकों या श्रोताओं का भी हृदय योग देता हुआ उसी भाव

---

१ [देखिए चिंतामणि, दूसरा भाग, काव्य में प्राकृतिक दृश्य, पृष्ठ १-२।]

का रसात्मक अनुभव करता है। तात्पर्य यह कि रसदशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से संबद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योगक्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नही करते ; बल्कि निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं। इसी को पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में अहं का विसर्जन और निःसंगता (**Impersonality and Detachment**) कहते हैं। इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानंद-सहोदरत्व कहिए, चाहे विभावन-व्यापार का अलौकिकत्व। अलौकिकत्व का अभिप्राय इस लोक से संबंध न रखनेवाली कोई स्वर्गीय विभूति नहीं। इस प्रकार के केवल भाव-व्यंजक (तथ्य-बोधक नहीं) और स्तुति-परक शब्दों को समीक्षा के क्षेत्र में घसीटकर पश्चिम में इधर अनेक प्रकार के अर्थशून्य वागाडंबर खड़े किए गए थे। 'कला कला के लिये' नामक सिद्धांत के प्रसिद्ध व्याख्याकार डाक्टर ब्रैडले बोले "काव्य आत्मा है"*। डा० मकेल साहब ने फरमाया "काव्य एक अखंड तत्त्व या शक्ति है जिसकी गति अमर है" †। बंगभाषा के प्रसाद से हिंदी में भी इस प्रकार के अनेक मधुर प्रलाप सुनाई पड़ा करते हैं।

अब प्रस्तुत विषय पर आते हैं। हमारा कहना यह है कि जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलंबनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है, उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलंबनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलंबनों के

---

* Poetry is a Spirit.—Bradley.

† Poetry is a continuous substance or energy whose progress is immortal—Mackail.

संबंध में लोक के साथ—या कम से कम सहृदयों के साथ—हमारा तादात्म्य रहता है। ऐसे विषयों या आलंबनों के प्रति हमारा जो भाव रहता है वही भाव और भी बहुत से उपस्थित मनुष्यों का रहता है। वे हमारे और लोक के सामान्य आलंबन रहते हैं। साधारणीकरण के प्रभाव से काव्य-श्रवण के समय व्यक्तित्व का जैसा परिहार हो जाता है वैसा ही प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति के समय भी कुछ दशाओं में होता है। अतः इस प्रकार की प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अंतर्गत मानने में कोई बाधा नहीं। मनुष्य जाति के सामान्य आलंबनों के आँखों के सामने उपस्थित होने पर यदि हम उनके प्रति अपना भाव व्यक्त करेंगे तो दूसरों के हृदय भी उस भाव की अनुभूति में योग देंगे और यदि दूसरे लोग भाव व्यक्त करेंगे तो हमारा हृदय योग देगा। इसके लिये आवश्यक इतना ही है कि हमारी आँखों के सामने जो विषय उपस्थित हों वे मनुष्य मात्र या सहृदय मात्र के भावात्मक सत्त्व पर प्रभाव डालनेवाले हों। रस में पूर्णतया मग्न करने के लिये काव्य में भी यह आवश्यक होता है। जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलंबन हो सके तब तक रस में पूर्णतया लीन करने की शक्ति उसमें नहीं होती।

जैसा कि ऊपर कह आए हैं रसात्मक अनुभूति के दो लक्षण ठहराए गए हैं—

(१) अनुभूति-काल में अपने व्यक्तित्व के संबंध की भावना का परिहार और

(२) किसी भाव के आलंबन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उस आलंबन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।

यदि हम इन दोनों बातों को प्रत्यक्ष उपस्थित आलंबनों के प्रति जगनेवाले भावों की अनुभूतियों पर घटाकर देखते हैं तो पता चलता है कि कुछ भावों में तो ये बातें कुछ ही दशाओं में या कुछ अंशों तक घटित होती हैं और कुछ में बहुत दूर तक या बराबर।

'रति भाव' को लीजिए। गहरी प्रेमानुभूति की दशा में मनुष्य रसलोक में ही पहुँचा रहता है। उसे अपने तन बदन की सुध नहीं रहती, वह सब कुछ भूल कभी फूला फूला फिरता है, कभी खिन्न पड़ा रहता है। हर्ष, विषाद, स्मृति इत्यादि अनेक संचारियों का अनुभव वह बीच बीच में अपना व्यक्तित्व भूला हुआ करता है। पर अभिलाष, औत्सुक्य आदि कुछ दशाओं में अपने व्यक्तित्व का संबंध जितना ही अधिक और घनिष्ठ होकर अंतःकरण में स्फुट रहेगा प्रेमानुभूति उतनी ही रसकोटि के बाहर रहेगी। 'अभिलाष' में जहाँ अपने व्यक्तित्व का संबंध अत्यंत अल्प या सूक्ष्म रहता है—जैसे, रूप-अवलोकन मात्र का अभिलाष; प्रिय जहाँ रहे सुख से रहे इस बात का अभिलाप—वहाँ वास्तविक अनुभूति रस के किनारे तक पहुँची हुई होती है। आलंबन के साधारणीकरण के संबंध मे यह समझ रखना चाहिए कि रति भाव की पूर्ण पुष्टि के लिये कुछ काल अपेक्षित होता है। पर अत्यंत मोहक आलंबन को सामने पाकर कुछ क्षणों के लिये तो प्रेम के प्रथम अवयव* का उदय एक साथ बहुतों के हृदय में होगा। वह अवयव है, अच्छा या रमणीय लगना।

'हास' में भी यही बात होती है कि जहाँ उसका पात्र सामने

* देखिए 'लोभ और प्रीती' नामक प्रबंध [चिंतामणि, पहला भाग] पृष्ठ ६४।

आया कि मनुष्य अपना सारा सुख-दुख भूल एक विलक्षण आह्लाद का अनुभव करता है, जिसमें बहुत से लोग एक साथ योग देते हैं।

अपने निज के लाभवाले विकट कर्म की ओर जो उत्साह होगा वह तो रसात्मक न होगा, पर जिस विकट कर्म को हम लोककल्याणकारी समझेंगे उसके प्रति हमारे उत्साह की गति हमारी व्यक्तिगत परिस्थिति के संकुचित मंडल से बद्ध न रहकर बहुत व्यापक होगी। स्वदेश-प्रेम के गीत गाते हुए नवयुवकों के दल जिस साहस-भरी उमंग के साथ कोई कठिन या दुष्कर कार्य करने के लिये निकलते हैं, वह वीरत्व की रसात्मक अनुभूति है*।

---

* आजकल के बहुत गंभीर अँगरेज समालोचक रिचर्ड्‌स (I. A. Richards) को भी कुछ दशाओं में वास्तविक अनुभूति के रसात्मक होने का आभास सा हुआ है, जैसा कि इन पंक्तियों से प्रकट होता है—

There is no such gulf between poetry and life as over-literary persons sometimes suppose. There is no gap between our every day emotional life and the material of poetry. The verbal expression of this life, at its finest, is forced to use the technique of poetry. × × × If we do not live in consonance with good poetry, we must live in consonance with bad poetry, I do not see how we can avoid the conclusion that a general insensitivity to poetry does witness a low level of genera imaginative life.

—Practical Criticism. (Summary)

क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुणा के संबंध में साहित्यप्रेमियों को शायद कुछ अड़चल दिखाई पड़े क्योंकि इनकी वास्तविक अनुभूति दुःखात्मक होती है। रसास्वाद आनंद-स्वरूप कहा गया है, अतः दुःखरूप अनुभूति रस के अंतर्गत कैसे ली जा सकती है, यह प्रश्न कुछ गड़बड़ डालता दिखाई पड़ेगा। पर 'आनंद' शब्द को व्यक्तिगत सुखभोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जँचता। उसका अर्थ मैं हृदय का व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त और हलका होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ। इस दशा की प्राप्ति के लिये समय समय पर प्रवृत्ति होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। करुण-रस-प्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के संबंध में यह कहना कि "आनंद में भी तो आँसू आते हैं" केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।

अब क्रोध आदि को अलग अलग देखिए। यदि हमारे मन में किसी ऐसे के प्रति क्रोध है जिसने हमें या हमारे किसी संबंधी को पीड़ा पहुँचाई है तो उस क्रोध में रसात्मकता न होगी।

पर किसी लोकपीड़क या क्रूरकर्मा अत्याचारी को देख सुनकर जिस क्रोध का संचार हममें होगा वह रसकोटि का होगा जिसमें प्रायः सब लोग योग देंगे। इसी प्रकार यदि किसी झाड़ी से शेर निकलता देख हम भय से काँपने लगें तो यह भय हमारे व्यक्तित्व से इतना अधिक संबद्ध रहेगा कि आलंबन के पूर्ण स्वरूप-ग्रहण का अवकाश न होगा और हमारा ध्यान अपनी ही मृत्यु, पीड़ा आदि परिणामों की ओर रहेगा। पर जब हम किसी वस्तु की भयंकरता को, अपना ध्यान छोड़, लोक से संबद्ध देखेंगे तब हम रसभूमि की सीमा के भीतर पहुँचे रहेंगे। इसी

प्रकार किसी सड़ी गली दुर्गंधयुक्त वस्तु के प्रत्यक्ष सामने आने पर हमारी संवेदना का जो क्षोभ-पूर्ण संकोच होगा वह तो स्थूल होगा; पर किसी ऐसे घृणित आचरणवाले के प्रति जिसे देखते ही लोक-रुचि के विघात या आकुलता की भावना हमारे मन में होगी, हमारी जुगुप्सा रसमयी होगी।

'शोक' को लेकर विचार करने पर हमारा पक्ष बहुत स्पष्ट हो जाता है। अपनी इष्टहानि या अनिष्ट-प्राप्ति से जो 'शोक' नामक वास्तविक दुःख होता है वह तो रसकोटि में नहीं आता, पर दूसरों की पीड़ा, वेदना देख जो 'करुणा' जगती है उसकी अनुभूति सच्ची रसानुभूति कही जा सकती है। 'दूसरों' से तात्पर्य ऐसे प्राणियों से है जिनसे हमारा कोई विशेष संबंध नहीं। 'शोक' अपनी निज की इष्ट-हानि पर होता है और 'करुणा' दूसरों की दुर्गति या पीड़ा पर होती है। यही दोनों में अंतर है। इसी अंतर को लक्ष्य करके काव्यगत पात्र (आश्रय) के शोक की पूर्ण व्यंजना द्वारा उत्पन्न अनुभूति को आचार्यों ने शोक-रस न कहकर 'करुण-रस' कहा है। करुणा ही एक ऐसा व्यापक भाव है जिसकी प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति सब रूपों में और सब दशाओं में रसात्मक होती है। इसी से भवभूति ने करुण-रस को ही रसानुभूति का मूल माना[1] और अंगरेज कवि शेली ने कहा कि "सबसे मधुर या रसमयी वाग्धारा वही है जो करुण प्रसंग लेकर चले"।[2]

अब प्रकृति के नाना रूपों पर आइए। अनेक प्रकार के

---

१ [श्लोक के लिये देखिए ऊपर पृष्ठ ६७, पाद-टिप्पणी।]

२ ['अवर स्वीटेस्ट साँगस् आर दोज दैट टेल ऑव् सैडेस्ट थॉट'—'टु ए स्काइलार्क' से उद्धृत।]

प्राकृतिक दृश्यों को सामने प्रत्यक्ष देख हम जिस मधुर भावना का अनुभव करते हैं क्या उसे रसात्मक न मानना चाहिए? जिस समय दूर तक फैले हरे-भरे टीलों के बीच से घूम घूम कर बहते हुए स्वच्छ नालों, इधर उधर उभरी हुई बेडौल चट्टानों और रंग-बिरंगे फूलों से गुछी हुई झाड़ियों की रमणीयता में हमारा मन रमा रहता है, उस समय स्वार्थमय जीवन की शुष्कता और विरसता से हमारा मन कितनी दूर रहता है। यह रसदशा नहीं तो और क्या है? उस समय हम विश्व-काव्य के एक पृष्ठ के पाठक के रूप में रहते हैं। इस अनंत दृश्य-काव्य के हम सदा कठपुतली की तरह काम करनेवाले अभिनेता ही नहीं बने रहते; कभी कभी सहृदय दर्शक की हैसियत को भी पहुँच जाते हैं। जो इस दशा को नहीं पहुँचते उनका हृदय बहुत संकुचित या निम्न कोटि का होता है। कविता उनसे बहुत दूर की वस्तु होती है; कवि वे भले ही समझे जाते हों। शब्द-काव्य की सिद्धि के लिये वस्तु-काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अंतर्वृत्ति नहीं है बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है। हमारे यहाँ के आचार्यों ने स्पष्ट सूचित कर दिया है कि वासना रूप में स्थित भाव ही रसरूप मे जगा करते हैं। यह वासना या संस्कार वंशानुक्रम से चली आती हुई दीर्घ भाव-परंपरा का मनुष्य जाति की अंतःप्रकृति में निहित संचय है।



स्मृत रूप विधान

जिस प्रकार हमारी आँखों के सामने आए हुए कुछ रूप-व्यापार हमें रसात्मक भावों में मग्न करते हैं उसी प्रकार भूतकाल में प्रत्यक्ष की हुई कुछ परोक्ष वस्तुओं का वास्तविक स्मरण भी कभी कभी रसात्मक होता है। जब हम जन्मभूमि या स्वदेश का, बाल-सखाओं का, कुमार-अवस्था के अतीत दृश्यों और परिचित स्थानों आदि का स्मरण करते हैं, तब हमारी मनोवृत्ति स्वार्थ या शरीर-यात्रा के रूखे विधानों से हटकर शुद्ध भाव-क्षेत्र में स्थित हो जाती है। नीति-कुशल लोग लाख कहा करें कि "बीती ताहि बिसारि दे", "गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या लाभ?" पर मन नहीं मानता, अतीत के मधुस्रोत में कभी कभी अवगाहन किया ही करता है।[1] ऐसा 'स्मरण' वास्तविक होने पर भी रसात्मक होता है। हम सचमुच स्मरण करते हैं और रसमग्न होते हैं।

स्मृति दो प्रकार की होती है—(क) विशुद्ध स्मृति और (ख) प्रत्यक्षाश्रित [मिश्रित] स्मृति या प्रत्यभिज्ञान।

---

१ [मिला०ए 'शेष स्मृतियाँ', प्रवेशिका, पृष्ठ ३।]

विशुद्ध स्मृति

यों तो नित्य न जाने कितनी बातों का हम स्मरण किया करते हैं, पर इनमें से कुछ बातों का स्मरण ऐसा होता है जो हमारी मनोवृत्ति को शरीर-यात्रा के विधानों की उलझन से अलग करके शुद्ध मुक्त भाव-भूमि में ले जाता है। प्रिय का स्मरण, बाल्यकाल या यौवन काल के अतीत जीवन का स्मरण, प्रवास में स्वदेश के स्थलों का स्मरण ऐसा ही होता है। 'स्मरण' संचारी भावों में माना गया है जिसका तात्पर्य यह है कि स्मरण रसकोटि में तभी आ सकता है जब कि उसका लगाव किसी स्थायी भाव से हो। किसी को कोई बात भूल गई हो और फिर याद हो जाय, या कोई वस्तु कहाँ रखी है, यह ध्यान में आ जाय तो ऐसा स्मरण रसक्षेत्र के भीतर न होगा। अब रहा यह कि वास्तविक स्मरण—किसी काव्य में वर्णित स्मरण नहीं—कैसे स्थायी भावों के साथ संबद्ध होने पर रसात्मक होता है। प्रत्यक्ष रूप-विधान के अंतर्गत हम दिखा आए हैं कि कैसे प्रत्यक्ष रूप-व्यापार हमें रसमग्न करते हैं और कैसे भावों की वास्तविक अनुभूति रसकोटि में आती है। अतः उन्हीं वस्तुओं या व्यापारों का वास्तविक स्मरण रसात्मक होगी जिनकी प्रत्यक्ष अनुभूति रसकोटि में आ सकती है। ऐसी कुछ वस्तुएँ उदाहरण रूप मे निर्दिष्ट की जा चुकी हैं। [वस्तुतः] रति, हास और करुणा से संबद्ध स्मरण ही अधिकतर रसात्मक कोटि में आता है।

'लोभ और प्रीति' नामक निबंध में हम रूप, गुण आदि से स्वतंत्र साहचर्य को भी प्रेम का एक सबल कारण बता चुके हैं।[1] इस साहचर्य का प्रभाव सबसे प्रबल रूप में स्मरण-काल के भीतर

---

१ [चिंतामणि, पहला भाग, पृष्ठ १३० ।]

देखा जाता है। जिन व्यक्तियों की ओर हम कभी विशेष रूप से आकर्षित नहीं हुए थे, यहाँ तक कि जिनसे हम चिढ़ते या लड़ते झगड़ते थे, देश या काल का लंबा व्यवधान पड़ जाने पर हम उनका स्मरण प्रेम के साथ करते हैं। इसी प्रकार जिन वस्तुओं पर आते जाते केवल हमारी नजर पड़ा करती थी, जिनको सामने पाकर हम किसी विशेष भाव का अनुभव नहीं करते थे, वे भी हमारी स्मृति में मधु में लिपटी हुई आती हैं। इस माधुर्य का रहस्य क्या है? जो हो, हमें तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि हमारी यह काल-यात्रा, जिसे जीवन कहते हैं, जिन जिन रूपों के बीच से होती चली आती है, हमारा हृदय उन सबको पास समेटकर अपनी रागात्मक सत्ता के अंतर्भूत करने का प्रयत्न करता है। यहाँ से वहाँ तक वह एक भावसत्ता की प्रतिष्ठा चाहता है। ज्ञान-प्रसार के साथ साथ रागात्मिका वृत्ति का यह प्रसार एकीकरण या समन्विति की एक प्रक्रिया है। ज्ञान हमारी आत्मा के तटस्थ (**Transcendent**) स्वरूप का संकेत है; रागात्मक हृदय उसके व्यापक (**Immanent**) स्वरूप का। ज्ञान ब्रह्म है तो हृदय ईश्वर है। किसी व्यक्ति या वस्तु को जानना ही वह शक्ति नहीं है जो उस व्यक्ति या वस्तु को हमारी अंतस्सत्ता में संमिलित कर दे। वह शक्ति है राग या प्रेम।

जैसा कह आए हैं, रति, हास और करुणा से संबद्ध स्मरण ही अधिकतर रसक्षेत्र में प्रवेश करता है। प्रिय का स्मरण, बाल-सखाओं का स्मरण, अतीत-जीवन के दृश्यों का स्मरण प्रायः रति-भाव से संबद्ध स्मरण होता है। किसी दीन दुखी या पीड़ित व्यक्ति के, उसकी विवर्ण आकृति, चेष्टा आदि के स्मरण का लगाव करुणा से होता है। दूसरे भावों के आलंबनों का स्मरण भी कभी कभी रस-सिक्त होता है—पर वहीं जहाँ हम सहृदय

द्रष्टा के रूप में रहते हैं अर्थात् जहाँ आलंबन केवल हमारी ही व्यक्तिगत भावसत्ता से संबद्ध नहीं, संपूर्ण नर-जीवन की भावसत्ता से संबद्ध होते हैं।

प्रत्यभिज्ञान

अब हम उस प्रत्यक्ष-मिश्रित स्मरण को लेते हैं जिसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। प्रत्यभिज्ञान में थोड़ा सा अंश प्रत्यक्ष होता है और बहुत सा अंश उसी के संबंध से स्मरण द्वारा उपस्थित होता है। किसी व्यक्ति को हमने कहीं देखा और देखने के साथ ही स्मरण किया कि यह वही है जो अमुक स्थान पर उस दिन बहुत से लोगों के साथ झगड़ा कर रहा था। वह व्यक्ति हमारे सामने प्रत्यक्ष है। उसके सहारे से हमारे मन में झगड़े का वह सारा दृश्य उपस्थित हो गया जिसका वह एक अंग था। "यह वही है" इन्हीं शब्दों में प्रत्यभिज्ञान की व्यंजना होती है।

स्मृति के समान प्रत्यभिज्ञान में भी रस-संचार की बड़ी गहरी शक्ति होती है। बाल्य या कौमार जीवन के किसी साथी के बहुत दिनों पीछे सामने आने पर कितने पुराने दृश्य हमारे मन के भीतर उमड़ पड़ते हैं और हमारी वृत्ति उनके माधुर्य में किस प्रकार मग्न हो जाती है! किसी पुराने पेड़ को देखकर हम कहने लगते हैं कि यह वही पेड़ है जिसके नीचे हम अपने अमुक अमुक साथियों के साथ बैठा करते थे। किसी घर या चबूतरे को देखकर भी अतीत दृश्य इसी प्रकार हमारे मन में आ जाते है और हमारा मन कुछ और हो जाता है। कृष्ण के गोकुल से चले जाने पर वियोगिनी गोपियाँ जब जब यमुना-तट पर जाती हैं तब तब उनके भीतर यही भावना उठती है कि "यह वही यमुना-तट है" और उनका मन काल का परदा फाड़ अतीत के उस दृश्य-क्षेत्र में

जा पहुँचता है जहाँ श्रीकृष्ण गोपियों के साथ उस तट पर विचरते थे—

मन ह्वै जात अजौं वहै या जमुना के तीर।

[बिहारी-रत्नाकर, ६८१।]

प्राचीन कवियों ने भी प्रत्यभिज्ञान के रसात्मक स्वरूप का बराबर विधान किया है। हृदय की गूढ़ वृत्तियों के सच्चे पारखी भावमूर्ति भवभूति ने शंबूक का वध करके दंडकारण्य के बीच फिरते हुए राम के मुख से प्रत्यभिज्ञान की बड़ी मार्मिक के व्यंजना कराई है—

एते त एव गिरयो विरुवन्मयूरा-
स्तान्येव मत्त हरिणानि वनस्थलानि।
आमंजु-वंजुललतानि च तान्यमूनि
नीरन्ध्र-नील-निचुलानि सरित्तटानि।[1]

[उत्तररामचरित २-२३।]

एक दूसरे प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का रसात्मक प्रभाव प्रदर्शित करने के लिये ही उक्त कवि ने उत्तरराम-चरित में चित्रशाला का समावेश किया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्यभिज्ञान की रसात्मक दशा में मनुष्य मन में आई हुई वस्तुओं में ही रमा रहता है, अपने व्यक्तित्व को पीछे डाले रहता है।

---

१ [मयूरकूजित ये पर्वत वे ही हैं, मत्त हरिणोंवाली वे वनस्थलियाँ वे ही हैं और दर जुल (बेंत) लताओं तथा नीले निचुलों (निले-बेंतों से युक्त ये नदी-तट वे ही हैं।]

दशा की विपरीतता की भावना लिए हुए जिस प्रत्यभिज्ञान का उदय होता है। उसमें करुण वृत्ति के संचालनकी बड़ी गहरी शक्ति होती है, कवि और वक्ता बराबर उसका उपयोग करते हैं। जब हम किसी ऐसी बस्ती, ग्राम या घर के खँडहर को देखते हैं जिसमें किसी समय हमने बहुत चहल-पहल या सुखसमृद्धि देखी थी तब "यह वही है" की भावना हमारे हृदय को एक अनिर्वचनीय करुण स्रोत में मग्न करती है। अँगरेजी के परम भावुक कवि गोल्डस्मिथ ने प्रत्यभिज्ञान का एक अत्यंत मार्मिक स्वरूप दिखाने के लिये 'ऊजड़ गाम' की रचना की थी।

स्मृत्याभास कल्पना

अब तक हमने रसात्मक स्मरण और रसात्सक प्रत्यभिज्ञान को विशुद्ध रूप में देखा है अर्थात् ऐसी बातों के स्मरण का विचार किया है जो पहले कभी हमारे सामने हो चुकी हैं। अब हम उस कल्पना को लेते हैं जो स्मृति या प्रत्यभिज्ञान का सा रूप धारण करके प्रवृत्त होती है। इस प्रकार की स्मृति या प्रत्यभिज्ञान में पहले देखी हुई वस्तुओं या बातों के स्थान पर या तो पहले सुनी या पढ़ी हुई बातें हुआ करती हैं अथवा अनुमान द्वारा पूर्णतया निश्चित। बुद्धि और वाणी के प्रसार द्वारा मनुष्य का ज्ञान प्रत्यक्ष बोध तक ही परिमित नहीं रहता, वर्तमान के आगे पीछे भी जाता है। आगे आनेवाली बातों से यहाँ प्रयोजन नहीं; प्रयोजन है अतीत से। अतीत की कल्पना भावुकों में स्मृति की सी सजीवता प्राप्त करती है और कभी कभी अतीत का कोई बचा हुआ चिह्न पाकर प्रत्यभिज्ञान का सा रूप ग्रहण करती है। ऐसी कल्पना के विशेष मार्मिक प्रभाव का कारण यह है कि यह सत्य का आधार लेकर खड़ी होती है। इसका आधार या तो आप्त शब्द (इतिहास) होता है अथवा शुद्ध अनुमान।

पहले हम स्मृत्याभास कल्पना के उस स्वरूप को लेते हैं जिसका आधार आप्त शब्द या इतिहास होता है। जैसे अपने व्यक्तिगत अतीत जीवन की मधुर स्मृति मनुष्य में होती है वैसे ही समष्टि रूप में अतीत नर-जीवन की भी एक प्रकार की स्मृत्याभास कल्पना होती है जो इतिहास के संकेत पर जगती है। इसकी मार्मिकता भी निज के अतीत जीवन की स्मृति की मार्मिकता के ही समान होती है। मानव-जीवन की चिरकाल से चली आती हुई अखंड परंपरा के साथ तादात्म्य की यह भावना आत्मा के शुद्ध स्वरूप की नित्यता, अखंडता और व्यापकता का आभास देती है। यह स्मृति-स्वरूपा कल्पना कभी कभी प्रत्यभिज्ञान का भी रूप धारण करती है। प्रसंग उठने पर जैसे इतिहास द्वारा ज्ञात किसी घटना या दृश्य के व्योरों को कहीं बैठे-बैठे हम मन में लाया करते हैं और कभी कभी उनमें लीन हो जाते हैं वैसे ही किसी इतिहास-प्रसिद्ध स्थल पर पहुँचने पर हमारी कल्पना चट उस स्थल पर घटित किसी मार्मिक पुरानी घटना अथवा उससे संबंध रखनेवाले कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के बीच हमें पहुँचा देती है, जहाँ से हम फिर वर्तमान की ओर लौटकर कहने लगते हैं कि "यह वही स्थल है जो कभी सजावट से जगमगाता था, जहाँ अमुक सम्राट् सभासदों के बीच सिंहासन पर विराजते थे; यह वही फाटक है जिस पर ये ये वीर अद्भुत पराक्रम के साथ लड़े थे इत्यादि"। इस प्रकार हम उस काल से लेकर इस काल तक अपनी सत्ता के प्रसार का आरोप क्या, अनुभव करते हैं[1]।

सूक्ष्म ऐतिहासिक अध्ययन के साथ साथ जिसमें जितनी ही गहरी भावुकता होगी, जितनी ही तत्पर कल्पना-शक्ति होगी उसके

२ [मिलाइए 'शेष स्मृतियाँ', प्रवेशिका, पृष्ठ ४।]

मन में उतने ही अधिक ब्योरे आएँगे और पूर्ण चित्र खड़ा होगा। इतिहास का कोई भावुक और कल्पना संपन्न पाठक यदि पुरानी दिल्ली, कन्नौज, थानेसर, चित्तौड़, उज्जयिनी, विदिशा इत्यादि के खँड़हरों पर पहले पहल भी जा खड़ा होता है तो उसके मन में वे सब बातें आ जाती हैं जिन्हें उसने इतिहासों में पढ़ा था या लोगों से सुना था। यदि उसकी कल्पना तीव्र और प्रचुर हुई तो बड़े बड़े तोरणों से युक्त उन्नत प्रासादों की, उत्तरीय और उष्णीषधारी नागरिको की, अलक्त-रंजित चरणों में पड़े हुए नूपुरों की झंकार की, कटि के नीचे लटकती हुई कांची की लड़ियों की, धूप-वासित केश-कलाप और पत्रभंग-मंडित गंडस्थल की भावना उसके मन में चित्र सी खड़ी होगी। उक्त नगरों का यह रूप उसने कभी देखा नहीं है, पर पुस्तकों के पठन-पाठन से इस रूप की कल्पना उसके भीतर संस्कार के रूप में जम गई है जो उन नगरों के ध्वंसावशेष के प्रत्यक्ष दर्शन से जग जाती है।[3]

एक बात कह देना आवश्यक है कि आप्त वचन या इतिहास के संकेत पर चलनेवाली कल्पना या मूर्त भावना अनुमान का भी सहारा लेती है। किसी घटना का वर्णन करने में इतिहास उस घटना के समय की रीति, वेश-भूषा, संस्कृति आदि का ब्योरा नहीं देता चलता। अतः किसी ऐतिहासिक काल का कोई चित्र मन में लाते समय ऐसे ब्योरों के लिये अपनी जानकारी के अनुसार हमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है।

यह तो हुई आप्त शब्द या इतिहास पर आश्रित स्मृति-रूपा या प्रत्यभिज्ञान-रूपा कल्पना। एक प्रकार की प्रत्यभिज्ञान-रूपा कल्पना और होती है जो बिल्कुल अनुमान के ही सहारे पर खड़ी

---

३ [मिलाइए चिंतामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ ४७ और ऊपर १५५।]

होती और चलती है। यदि हम एकाएक किसी अपरिचित स्थान के खँड़हरों में पहुँच जाते हैं—जिसके संबंध में हमने कहीं कुछ सुना या पढ़ा नहीं है—तो भी गिरे पड़े मकानों, दीवारों, देवालयों आदि को सामने पाकर हम कभी कभी कह बैठते हैं कि "यह वही स्थान है जहाँ कभी मित्रों की मंडली जमती थी, रमणियों का हास-विलास होता था, बालकों का क्रीड़ा-रव सुनाई पड़ता था इत्यादि।"[1] कुछ चिह्न पाकर केवल अनुमान के संकेत पर ही कल्पना इन रूपों और व्यापारों की योजना में तत्पर हो गई। ये रूप और व्यापार हमारे जिस मार्मिक रागात्मक भाव के आलंबन होते हैं उसका हमारे व्यक्तिगत योग-क्षेम से कोई संबंध नहीं अतः उसकी रसात्मकता स्पष्ट है।

अतीत की स्मृति में मनुष्य के लिये स्वाभाविक आकर्षण है। अर्थ-परायण लाख कहा करें कि 'गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या फ़ायदा', पर हृदय नहीं मानता; बार बार अतीत की ओर जाया करता है; अपनी यह बुरी आदत नहीं छोड़ता। इसमें कुछ रहस्य अवश्य है। हृदय के लिये अतीत एक मुक्ति-लोक है जहाँ वह अनेक प्रकार के बंधनों से छूटा रहता है और अपने शुद्ध रूप में विचरता है। वर्तमान हमें अंधा बनाए रहता है; अतीत बीच बीच में हमारी आँखें खोलता रहता है। मैं तो समझता हूँ कि जीवन का नित्य स्वरूप दिखानेवाला दर्पण मनुष्य के पीछे रहता है; आगे तो बराबर खिसकता हुआ दुर्भेद्य परदा रहता है। बीती बिसारनेवाले 'आगे की सुध' रखने का दावा किया करें, परिणाम अशांति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वर्तमान को सँभालने और आगे की सुध रखने का डंका पीटनेवाले संसार में जितने ही

१ [मिलाइए 'शेष स्मृतियाँ,' पृष्ठ ५।]

अधिक होते जाते हैं, संघ-शक्ति के प्रभाव से जीवन की उलझनें उतनी ही बढ़ती जाती हैं। बीती बिसारने का अभिप्राय है जीवन की अखंडता और व्यापकता की अनुभूति का विसर्जन; सहृदयता और भावुकता का भंग—केवल अर्थ की निष्ठुर क्रीड़ा।

कुशल यही है कि जिनका दिल सही-सलामत है, जिनका हृदय मारा नहीं गया है, उनकी दृष्टि अतीत की ओर जाती है। क्यों जाती है, क्या करने जाती है, यह बताते नहीं बनता। अतीत कल्पना का लोक है, एक प्रकार का स्वप्न-लोक है, इसमें तो संदेह नहीं। अतः यदि कल्पना-लोक के सब खंडों को सुखपूर्ण मान लें तब तो प्रश्न टेढ़ा नहीं रह जाता; झट से यह कहा जा सकता है कि वह सुख प्राप्त करने जाती है। पर क्या ऐसा माना जा सकता है? हमारी समझ में अतीत की ओर मुड़ मुड़कर देखने की प्रवृत्ति सुख-दुख की भावना से परे है। स्मृतियाँ हमें केवल सुख-पूर्ण दिनों की झाँकियाँ नहीं समझ पड़तीं। वे हमें लीन करती हैं, हमारा मर्मस्पर्श करती है, बस इतना ही हम कह सकते हैं।[1] यही बात स्मृत्याभास कल्पना के संबंध में भी समझनी चाहिए। इतिहास द्वारा ज्ञात बातों की मूर्त भावना कितनी मार्मिक, कितनी लीन करनेवाली होती है, न सहृदयों से छिपा है, न छिपाते बनता है। मनुष्य की अंतःप्रकृति पर इसका प्रभाव स्पष्ट है। जैसा कि कहा जा चुका है इसमें स्मृति की सी सजीवता होती है। इस मार्मिक प्रभाव और सजीवता का मूल है सत्य। सत्य से अनुप्राणित होने के कारण ही कल्पना स्मृति और प्रत्यभिज्ञान का सा रूप धारण करती है। कल्पना के इस स्वरूप की सत्य-मूलक सजीवता और मार्मिकता का अनुभव

१ [मिलाइए, वही, पृष्ठ ३-४]

करके ही संस्कृत के पुराने कवि अपने महाकाव्य और नाटक इतिहास-पुराण के किसी वृत्त का आधार लेकर रचा करते थे।

'सत्य' से यहाँ अभिप्राय केवल वस्तुतः घटित वृत्त ही नहीं, निश्चयात्मकता से प्रतीत वृत्त भी है। जो बात इतिहासों में प्रसिद्ध चली आ रही है वह यदि पक्के प्रमाणों से पुष्ट भी न हो तो भी लोगों के विश्वास के बल पर उक्त प्रकार की स्मृति स्वरूपा कल्पना का आधार हो जाती है। आवश्यक होता है केवल इस बात का बहुत दिनों से जमा हुआ विश्वास कि इस प्रकार की घटना इस स्थल पर हुई थी। यदि ऐसा विश्वास सर्वथा विरुद्ध प्रमाण उपस्थित होने पर विचलित हो जायगा तो वैसी सजीव कल्पना न जागेगी[1]। संयोगिता के स्वयंवर की कथा को लेकर कुछ काव्य और नाटक रचे गए। ऐतिहासिक अनुसंधान द्वारा वह सार कथा अब कल्पित सिद्ध हो गई है। अतः इतिहास के ज्ञाताओं के लिये उन काव्यों या नाटकों में वर्णित घटना का ग्रहण शुद्ध कल्पना की वस्तु के रूप में होगा, स्मृत्याभास कल्पना की तुस्तु के रूप में नहीं।

पहले कहा जा चुका है कि मानव-जीवन का नित्य और प्रकृत स्वरूप देखने के लिये दृष्टि जैसी शुद्ध होनी चाहिए वैसी अतीत के क्षेत्र के बीच ही वह होती है। वर्तमान मे तो हमारे व्यक्तिगत रागद्वेष से वह ऐसी बँधी रहती है कि हम बहुत सी बातों को देखकर भी नहीं देखते। प्रसिद्ध प्राचीन नगरों और गढ़ों के खँडहर, राजप्रासाद आदि जिस प्रकार सम्राटों के ऐश्वर्य, विभूति, प्रताप, आमोद-प्रमोद और भोग-विलास के स्मारक हैं उसी प्रकार उनके अवसाद, विषाद, नैराश्य और घोर पतन के।

---

1 [मिलाइए, वही, पृष्ठ ५ ।]

मनुष्य की ऐश्वर्य, विभूति, सुख, सौंदर्य की वासना अभिव्यक्त होकर जगत् के किसी छोटे या बड़े खंड को अपने रंग में रँगकर मानुषी सजीवता प्रदान करती है। देखते देखते काल उस वासना के आश्रय मनुष्यों को हटाकर किनारे कर देता है। धीरे धीरे उनका चढ़ाया हुआ ऐश्वर्य-विभूति का वह रंग भी मिटता जाता है। जो कुछ शेष रह जाता है वह बहुत दिनों तक ईंट-पत्थर की भाषा में एक पुरानी कहानी कहता रहता है। संसार का पथिक मनुष्य उसे अपनी कहानी समझकर सुनता है, क्योंकि उसके भीतर झलकता है जीवन का नित्य और प्रकृत स्वरूप।[1]

कुछ व्यक्तियों के स्मारक चिह्न तो उनके पूरे प्रतिनिधि या प्रतीक बन जाते हैं और उसी प्रकार हमारी घृणा या प्रेम के आलंबन हो जाते हैं जिस प्रकार लोक के बीच अपने जीवनकाल में वे व्यक्ति थे। ऐसे व्यक्ति घृणा या प्रेम को अपने पीछे भी बहुत दिनों तक जगत् में जगाते रहते हैं। ये स्मारक न जाने कितनी बातें अपने पेट में लिए कहीं खड़े, कहीं बैठे, कहीं पड़े हैं।[1]

किसी अतीत जीवन के ये स्मारक या तो यों ही—शायद काल की कृपा से—बने रह जाते हैं अथवा जान बूझकर छोड़े जाते हैं। जान-बूझकर कुछ स्मारक छोड़ जाने की कामना भी मनुष्य की प्रकृति के अंतर्गत है। अपनी सत्ता के सर्वथा लोप की भावना मनुष्य को असह्य है। अपनी भौतिक सत्ता तो वह बनाए नहीं रख सकता। अतः वह चाहता है कि उस सत्ता की स्मृति ही किसी जन-समुदाय के बीच बनी रहे। बाह्य जगत् में नहीं तो अंतर्जगत् के किसी खंड में ही वह बना रहना चाहता है। इसे

---

१ [मिलाइए वही, पृष्ठ ७]।

हम अमरत्व की आकांक्षा या आत्मा के नित्यत्व का इच्छात्मक आभास कह सकते हैं। अपनी स्मृति बनाए रखने के लिये कुछ मनस्वी कला का सहारा लेते हैं और उसके आकर्षक सौंदर्य की प्रतिष्ठा करके विस्मृति के खड्ड में झोंकनेवाले काल के हाथों को बहुत दिनों तक—सहस्रों वर्ष तक—थामे रहते हैं। इस प्रकार ये स्मारक काल के हाथों को कुछ थामकर मनुष्य की कई पीढ़ियों की आँखों से आँसू बहवाते चले चलते हैं। मनुष्य अपने पीछे होनेवाले मनुष्यों को अपने लिये रुलाना चाहता है[1]।

सम्राटों की अतीत जीवन-लीला के ध्वस्त रंगमंच वैषम्य की एक विशेष भावना जगाते हैं। उनमें जिस प्रकार भाग्य के ऊँचे से ऊँचे उत्थान का दृश्य निहित रहता है वैसे ही गहरे से गहरे पतन का भी। जो जितने ही ऊँचे पर चढ़ा दिखाई देता है, गिरने पर वह उतना ही नीचे जाता दिखाई देता है। दर्शकों को उसके उत्थान की ऊँचाई जितनी कुतूहलपूर्ण और विस्मयकारिणी होती है उतनी ही उसके पतन की गहराई मार्मिक और आकर्षक होती है। असामान्य की ओर लोगों की दृष्टि भी अधिक दौड़ती है और टकटकी भी अधिक लगती है। अत्यंत ऊँचाई से गिरने का दृश्य कोई कुतूहल के साथ देखता है, कोई गंभीर वेदना के साथ।[2]

जीवन तो जीवन; चाहे राजा का हो चाहे रंक का। उसके सुख और दुःख दो पक्ष होंगे ही। इनमें से कोई पक्ष स्थिर नहीं रह सकता। संसार और स्थिरता? अतीत के लंबे चौड़े मैदान के बीच इन उभय पक्षों की घोर विषमता सामने रखकर कोई

१ [वही, पृष्ठ ८।]
२ [वही, पृष्ठ ९।]

भावुक जिस भाव-धारा में डूबता है उसी में औरों को डुबाने के लिये शब्द-स्रोत भी बहाता है। इस पुनीत भावधारा में अवगाहन करने से वर्तमान की—अपने पराए की—लगी-लिपटी मैल छँटती है और हृदय स्वच्छ होता है। ऐतिहासिक व्यक्तियों या राजकुलों के जीवन की जिन विषमताओं की ओर सबसे अधिक ध्यान जाता है वे प्रायः दो ढंग की होती हैं—सुख-दुःख-संबंधिनी तथा उत्थान-पतन-संबंधिनी। सुख-दुःख की विषमता की ओर जिसकी भावना प्रवृत्त होगी वह एक ओर तो जीवन का भोग-पक्ष—यौवन-मद, विलास की प्रभूत सामग्री, कला-सौंदर्य की जगमगाहट, राग-रंग और आमोद-प्रमोद की चहल-पहल—और दूसरी ओर अवसाद, नैराश्य, कष्ट, वेदना इत्यादि के दृश्य मन में लाएगा। बड़े बड़े प्रतापी सम्राटों के जीवन को लेकर भी वह ऐसा ही करेगा। उनके तेज, प्रताप, पराक्रम इत्यादि की भावना वह इतिहास-विज्ञ पाठक की सहृदयता पर छोड़ देगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि सुख और दुःख के बीच का वैषम्य जैसा मार्मिक होता है वैसा ही उन्नति और अवनति, प्रताप और ह्रास के बीच का भी। इस वैषम्य-प्रदर्शन के लिये एक ओर तो किसी के पतन-काल के असामर्थ्य, दीनता, विवशता, उदासीनता इत्यादि के दृश्य सामने रखे जाते हैं, दूसरी ओर उसके ऐश्वर्य-काल के प्रताप, तेज, पराक्रम इत्यादि के वृत्त स्मरण किए जाते हैं।[१]

इस दुःखमय संसार में सुख की इच्छा और प्रयत्न प्राणियों का लक्षण है। यह लक्षण मनुष्य में सबसे अधिक रूपों में विकसित हुआ है। मनुष्य की सुखेच्छा कितनी प्रबल, कितनी

१ [वही पृष्ठ ९-१०।]

शक्ति-शालिनी निकली ! न जाने कब से वह प्रकृति को काटती छाँटती, संसार का काया-पलट करती चली आ रही है। वह शायद अनंत है, 'आनंद' का अनंत प्रतीक है। वह इस संसार में न समा सकी तब कल्पना को साथ लेकर उसने कहीं बहुत दूर स्वर्ग की रचना की। चतुर्वर्ग में इसी सुख का नाम 'काम' है। यद्यपि देखने में 'अर्थ' और 'काम' अलग अलग दिखाई पड़ते हैं, पर सच पूछिए तो 'अर्थ' 'काम' का ही एक साधन ठहरता है, साध्य रहता है काम या सुख ही। अर्थ है संचय, आयोजन और तैयारी की भूमि ; काम भोग-भूमि है। मनुष्य कभी अर्थ-भूमि पर रहता है. कभी काम-भूमि पर। अर्थ और काम के बीच जीवन बाँटता हुआ वह चला चलता है। दोनों का ठीक सामंजस्य सफल जीवन का लक्षण है। जो अनन्य भाव से अर्थ-साधना में ही लीन रहेगा वह हृदय खो देगा ; जो आँख मूँदकर कामचर्या में ही लिप्त रहेगा वह किसी अर्थ का न रहेगा। अकबर के जीवन में अर्थ और काम का सामंजस्य रहा। औरंगजेब बराबर अर्थभूमि पर ही रहा। मुहम्मदशाह सदा काम-भूमि पर ही रहकर रंग बरसाते रहे।[१]

---

१ [वही, पृष्ठ १२-१३।]

कल्पित रूप-विधान

कल्पना

काव्य-वस्तु का सारा रूप-विधान इसी की क्रिया से होता है। आजकल तो भाव की बात दब सी गई है केवल इसी का नाम लिया जाता है क्योंकि 'कवि की नूतन सृष्टि' केवल इसी की कृति समझी जाती है। पर जैसा कि हम अनेक स्थलों पर कह चुके हैं, काव्य के प्रयोजन की कल्पना वही होती है जो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होती है और हृदय पर प्रभाव डालती है। हृदय के मर्मस्थल का स्पर्श तभी होता है जब जगत् या जीवन का कोई सुंदर रूप, मार्मिक दशा या तथ्य मन में उपस्थित होता है। ऐसी दशा या तथ्य की चेतना से मन में कोई भाव जगता है जो उस दशा या तथ्य की मार्मिकता का पूर्ण अनुभव करने और कराने के लिये उसके कुछ चुने हुए व्योरों की मूर्त भावनाएँ खड़ी करता है। कल्पना का यह प्रयोग प्रस्तुत के संबंध मे समझना चाहिए जो विभाव-पक्ष के अंतर्गत है। शृंगार, रौद्र, वीर, करुण आदि रसों के आलंबनों और उद्दीपनों के वर्णन, प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन सब इसी विभाव-पक्ष के अंतर्गत हैं।

सारा रूप-विधान कल्पना ही करती है अतः अनुभाव कहे जानेवाले व्यापारों और चेष्टाओं द्वारा आश्रय को जो रूप दिया जाता है वह भी कल्पना ही द्वारा। पर भावों के द्योतक शारीरिक व्यापार या चेष्टाएँ परिमित होती हैं, वे रूढ़ या बँधी हुई होती हैं। उनमें नयेपन की गुंजाइश नहीं, पर आश्रय के वचनों की अनेकरूपता की कोई सीमा नहीं। इन वचनों की भी कवि द्वारा कल्पना ही की जाती है।[1]

वचनों द्वारा भाव-व्यंजना के क्षेत्र में कल्पना को पूरी स्वच्छंदता रहती है। भाव की ऊँचाई, गहराई की कोई सीमा नहीं। उसका प्रसार लोक का अतिक्रमण कर सकता है। उसकी सम्यक् व्यंजना के लिये प्रकृति के वास्तविक विधान कभी कभी पर्याप्त नहीं जान पड़ते। मन की गति का वेग अबाध होता है। प्रेम के वेग में प्रेमी प्रिय को अपनी आँखों में बसा हुआ कहता है, उसके पाँव रखने के लिये पलकों के पाँवड़े बिछाता है, उसके अभाव में दिन के प्रकाश में भी चारों ओर शून्य या अंधकार देखता है, अपने शरीर की भस्म उड़ाकर उसके पास तक पहुँचाना चाहता है। इसी प्रकार क्रोध के वेग में मनुष्य शत्रु को पीसकर चटनी बना डालने के लिये खड़ा होता है, उसके घर को खोदकर तालाब बना डालने की प्रतिज्ञा करता है। उत्साह या वीरता की उमंगों में वह समुद्र पाट देने, पहाड़ों को उखाड़ फेंकने का हौसला प्रकट करता है।

ऐसे लोकोत्तर विधान करनेवाली कल्पना में भी यह देखा जाता है कि जहाँ कार्य-कारण-विवेचन-पूर्वक वस्तु-व्यंजना का टेढ़ा रास्ता पकड़ा जाता है वहाँ वैचित्र्य ही वैचित्र्य रह जाता है, मार्मि-

---

१ [मिलाइए चिंतामणि, पहला भाग, भाव या मनोविकार, पृष्ठ ४।]

कता दब जाती है। जैसे, यदि कोई कहे कि "कृष्ण के वियोग में राधा का दिन-रात रोना सुनकर लोग घर घर में नावें बनवा रहे हैं" तो यह कथन मार्मिकता की हद के बाहर जान पड़ेगा।

विभाव-पक्ष के ही अंतर्गत हम उन सब प्रस्तुत वस्तुओं और व्यापारों को भी लेते हैं जो हमारे मन में सौंदर्य, माधुर्य, दीप्ति, कांति, प्रताप, ऐश्वर्य, विभूति इत्यादि की भावनाएँ उत्पन्न करते हैं। ऐसी वस्तुओं और व्यापारों की योजना करनेवाली प्रतिभा भी विभाव-विधायिनी ही समझनी चाहिए। कवि कभी-कभी सौंदर्य, माधुर्य, दीप्ति इत्यादि की अनूठी सृष्टि खड़ी करने के लिये चारों ओर से सामग्री एकत्र करके पराकाष्ठा को पहुँची हुई लोकोत्तर योजना करते हैं। यह भी कविकर्म के अंतर्गत है, पर सर्वत्र अपेक्षित उसकी कोई नित्य प्रक्रिया नहीं। मन के भीतर लोकोत्तर उत्कर्ष की झाँकियाँ तैयार करना भी कल्पना का एक काम है। इस काम में कविता उसे प्रायः लगाया करती है। कुछ लोग तो कल्पना और कविता का यही काम ही बताते हैं—खास कर वे लोग जो काव्य को स्वप्न का सगा भाई मानते हैं। जैसे स्वप्न को वे[1] अंतस्संज्ञा में निहित अतृप्त वासनाओं की अंतर्व्यंजना कहते हैं, वैसे ही काव्य को भी। संसार में जितना अद्भुत, सुंदर, मधुर, दीप्त हमारे सामने आता है; जितना सुख, समृद्धि, सद्वृत्ति, सद्भाव, प्रेम, आनंद हमें दिखाई पड़ता है उतने से तृप्त न होने के कारण अधिक की इच्छाएँ हमारी अंतस्संज्ञा में दबी पड़ी रहती हैं। इसी प्रकार शक्ति, उग्रता, प्रचंडता, उथल-पुथल, ध्वंस इत्यादि को हम जितने बढ़े-चढ़े रूप में देखना चाहते हैं उतने बढ़े-चढ़े रूपों में कहीं न देख हमारी इच्छा चेतना या

१ [फ्रायड आदि नूतन मनोवैज्ञानिक।]

संज्ञा के नीचे अज्ञात दशा में दबी पड़ी रहती है। वे ही इच्छाएँ तृप्ति के लिये कविता के रूप में व्यक्त होती हैं और श्रोताओं को भी तृप्त करती हैं।

इस संबंध में हम यहाँ इतना ही कहना चाहते हैं कि काव्य सर्वथा स्वप्न के रूप की वस्तु नहीं है। स्वप्न के साथ यदि उसका कुछ मेल है तो केवल इतना ही कि स्वप्न भी हमारी बाह्य इंद्रियों के सामने नहीं रहता और काव्य-वस्तु भी। दोनों के आविर्भाव का स्थान भर एक है। स्वरूप में भेद है। कल्पना में आई हुई वस्तुओं की प्रतीति से स्वप्न में दिखाई पड़नेवाली वस्तुओं की प्रतीति भिन्न प्रकार की होती है। स्वप्न-काल की प्रतीति प्रायः प्रत्यक्ष ही के समान होती है। दूसरी बात यह है कि काव्य में शोक के प्रसंग भी रहते हैं। शोक की वासना की तृप्ति शायद ही कोई प्राणी चाहता हो।

उपर्युक्त सिद्धांत का ही एक अंग काम-वासना का सिद्धांत है जिसके अनुसार काव्य का संबंध और कलाओं के समान काम-वासना की तृप्ति से है। यहाँ पर इतना ही समझ रखना आवश्यक है कि यह मत काव्य को 'ललित कलाओं' में गिनने का परिणाम है। कलाओं के संबंध में, जिनका लक्ष्य केवल सौंदर्य की अनुभूति उत्पन्न करना है, यह मत कुछ ठीक कहा जा सकता है। इसी से ६४ कलाओं का उल्लेख हमारे यहाँ काम-शास्त्र के भीतर हुआ है। पर काव्य की गिनती कलाओं में नहीं की गई है।

अब तक जो कुछ कहा गया है वह प्रस्तुत के संबंध में है। पर काव्य में प्रस्तुत के अतिरिक्त अप्रस्तुत भी बहुत अधिक अपेक्षित होता है, क्योंकि साम्यभावना काव्य का बड़ा शक्तिशाली अस्त्र है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अप्रस्तुत की योजना भी

कल्पना ही द्वारा होती है। आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र में तो 'कल्पना' शब्द से अधिकतर अप्रस्तुत-विधायिनी कल्पना ही समझी जाती है। अप्रस्तुत की योजना के संबंध में भी वही बात समझनी चाहिए जो प्रस्तुत के संबंध में हम कह आए हैं अर्थात् उसकी योजना भी यदि किसी भाव के संकेत पर होगी—सौंदर्य, माधुर्य, भीषणता, कांति, दीप्ति इत्यादि की भावना में वृद्धि करनेवाली होगी— तब तो वह काव्य के प्रयोजन की होगी ; यदि केवल रंग, आकृति, छोटाई, बड़ाई आदि का ही हिसाब-किताब बैठाकर की जायगी तो निष्फल ही नहीं बाधक भी होगी। भाव की प्रेरणा से जो अप्रस्तुत लाए जाते हैं उनकी प्रभविष्णुता पर कवि की दृष्टि रहती है; इस बात पर रहती है कि इनके द्वारा भी वैसी ही भावना जगे जैसी प्रस्तुत के संबंध में है।

केवल शास्त्र-स्थिति-संपादन[1] से कवि-कर्म की सिद्धि समझ कुछ लोगों ने स्त्री की कटि की सूक्ष्मता व्यक्त करने के लिये भिड़ या सिंहिनी की कटि सामने रख दी है, चंद्र-मंडल और सूयमंडल के उपमान के लिये दो घंटे सामने कर दिए हैं। पर ऐसे अप्रस्तुत-विधान केवल छोटाई-बड़ाई या आकृति को ही पकड़कर, केवल उसी का हिसाब-किताब बैठाकर, हुए हैं ; उस सौंदर्य की भावना की प्रेरणा से नहीं जो उस नायिका या चंद्र-मंडल के संबध में रही होगी। यह देखकर संतोष होता है कि हिंदी की वर्तमान कविताओं में प्रभाव-साम्य पर ही विशेष दृष्टि रहती है।

---

१. [सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥
ध्वन्यालोक, ३-१२।

देखिए ऊपर पृष्ठ ६६ पादटिप्पणी।]

भाषा-शैली को अधिक व्यंजक, मार्मिक और चमत्कारपूर्ण बनाने में भी कल्पना ही काम करती है। कल्पना की सहायता यहाँ पर भाषा की लक्षणा और व्यंजना नाम की शक्तियाँ करती हैं। लक्षणा के सहारे ही कवि ऐसी भाषा का प्रयोग वेधड़क कर जाते हैं जैसी सामान्य व्यवहार में नहीं सुनाई पड़ती। व्रज-भाषा के कवियों में घनानंद इस प्रसंग में सबसे अधिक उल्लेख-योग्य हैं। भाषा को वे इतनी वशवर्तिनी समझते थे कि अपनी भावना के प्रवाह के साथ उसे जिधर चाहते थे उधर वेधड़क मोड़ते थे। कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) अरसानि गही वह बानि कछू सरसानि सों आनि निहोरत है।

(२) ह्वैहै सोऊ घरी भाग उघरी अनंदघन
सुरस बरसि, लाल, देखिहौ हमैं हरी।

(३) उघरो जग, छाय रहे घनआनँद चातक ज्यों तकिए अब तौ।

(४) मिलत न केहूँ भरे रावरी अमिलताई
हिये में किये बिसाल जे बिछोह-छत हैं।

(५) भूलनि चिन्हारि दोऊ है न हो हमारे ताते
बिसरनि रावरी हमैं लै बिसरति है।

(६) उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देखौ,
सुबस सुदेस जहाँ भावते बसत हौ।

ऊपर के उद्धरणों के रेखांकित स्थलों में भाषा की मार्मिक वक्रता एक एक करके देखिए। (१) बानि धीमी या शिथिल पड़ गई कहने में उतनी व्यंजकता न दिखाई पड़ी अतः कवि ने कृष्ण का आलस्य न कहकर उनकी बानि (आदत) का आलस्य करना कहा। (२) अपने को खुले भाग्यवाली न कह-

-कर नायिका ने उस घड़ी को खुले भाग्यवाली कहा, इससे सौभाग्य-दशा एक व्यक्ति ही तक न रहकर उस घड़ी के भीतर संपूर्ण जगत् में व्याप्त प्रतीत हुई। विशेषण के इस विपर्यय से कितनी व्यंजकता आ गई! (३) मेघ का छाना और उघड़ना तो बराबर बोला जाता है, पर कवि ने मेघ के छाए रहने और श्रीकृष्ण के आँखों मे छाए रहने के साथ ही साथ जग का उघड़ना (खुलना, तितर-बितर होना या तिरोहित होना) कह दिया जिसका लक्ष्यार्थ हुआ जगत् के फैले हुए प्रपंच का आँखों के सामने से हट जाना, चारों ओर शून्य दिखाई पड़ना। (४) कृष्ण की अमिलताई (न मिलना) हृदय के घाव में भी भर गई है जिससे उसका मुँह नहीं मिलता और वह नहीं पूजता। भरा भी रहना और न भरना या पूजना में विरोध का चमत्कार भी है। (५) हम कभी कभी आत्म-विस्मृत हो जाती हैं; इससे जान पड़ता है कि आप हमें लिए दिए भूलते हैं अर्थात् उधर आप हमें भूलते हैं, इधर हमारी सत्ता ही तिरोहित हो जाती है। (६) हमारी आँखों में उजाड़ बसा है अर्थात् आँखों के सामने शून्य दिखाई पड़ता है। इसमें भी विरोध का चमत्कार अत्यंत आकर्षक है।

आजकल हमारी वर्तमान काव्यधारा की प्रवृत्ति इसी प्रकार की लाक्षणिक वक्रता की ओर विशेष है। यह अच्छा लक्षण है। इसके द्वारा हमारी भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति के प्रसार की बहुत कुछ आशा है। श्री सुमित्रानंदन पंत की रचना से कुछ उदाहरण लेकर देखिए—

(१) धूलि की ढेरी में अनजान। छिपे हैं मेरे मधुमय गान।

(२) रुदन, क्रीड़ा, आलिंगन।

शशि की सी ये कलित कलाएँ किलक रही हैं पुर पुर में।

(३) मर्म पीड़ा के हास।

(४) अहह! यह मेरा गीला गान।

(५) तड़ित सा, सुमुखि! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार, उर चीर
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर।

(६) लाज में लिपटी उषा समान।

घनानंद की वाग्विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए अब ऊपर के उद्धरणों के रेखांकित प्रयोगों की लाक्षणिक प्रक्रिया देखिए—

(१) धूलि की ढेरी=तुच्छ या असार कहा जानेवाला संसार। मधुमय गान=मधुमय गान के विषय=मधुर और सुंदर वस्तुएँ। (२) कलाएँ किलक रही हैं=जोर से हँस रही हैं=आनंद का प्रकाश कर रही हैं। (३) पीड़ा के हास=पीड़ा का विकास या प्रसार। (विरोध का चमत्कार) (४) गीला गान=आर्द्र हृदय या अश्रुपूर्ण व्यक्ति की वाणी। (सामान्य कथन में जो गुण व्यक्ति का कहा जाता है वह गान का कहा गया; (विशेषण-विपर्यय)। (५) प्रभा के पलक मार=पल पल पर चमककर। गूढ़ गर्जन=छिपी हुई हृदय की धड़कन (६) लाज=लज्जा से उत्पन्न ललाई।

इन प्रयोगों का आधार या तो किसी न किसी प्रकार की साम्य-भावना है अथवा किसी वस्तु का उपलक्षण या प्रतीक के रूप में ग्रहण। दोनों बातें कल्पना ही के द्वारा होती हैं। उपलक्षणों या प्रतीकों का एक प्रकार का चुनाव है जो मूर्तिमत्ता, मार्मिकता या आतिशय्य आदि की दृष्टि से होता है—जैसे, शोक या विषाद के स्थान पर अश्रु, हर्ष और आनंद के स्थान पर

हास, प्रिय-प्रेमी के लिये मुकुल-मधुप, यौवन-काल या संयोग-काल के लिये मधुमास, शुभ्र के स्थान पर रजत या हंस, दीप्त के स्थान पर स्वर्ण इत्यादि ।[1] यह सारा व्यवसाय कल्पना ही का है ।

काव्य की पूर्ण अनुभूति के लिये कल्पना का व्यापार कवि और श्रोता दोनों के लिये अनिवार्य है । काव्य की कोई उक्ति कान में पड़ते समय जब काव्य-वस्तु के साथ साथ वक्ता या बोद्धव्य पात्र की कोई मूर्त भावना भी खड़ी रहती है तभी पूरी तन्मयता प्राप्त होती है ।

प्रत्यक्ष रूप-विधान के उपादान से ही कल्पित रूप-विधान होता है । जन्मांध अपने मन में स्पष्ट रूप-विधान नहीं कर सकते । जिस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभूति से कलानुभूति या काव्यानुभूति को एकदम अलग कहने की चाल योरप में चली उसी प्रकार प्रत्यक्ष रूप-विधान से कल्पित रूप-विधान को असंबद्ध घोषित करने की रूढ़ि प्रतिष्ठित हुई । 'कल्पना' की एक निराली दुनिया कही जाने लगी और कवि लोग दूसरी सृष्टि बनानेवाले विश्वामित्र हुए । पर थोड़ा विचार करने पर यह उक्ति स्तुति-परक ही ठहरती है । सारे वर्ण और सारी रूपरेखाएँ जिनसे कल्पित मूर्ति-विधान होता है बाह्य जगत् के प्रत्यक्ष बोध से प्राप्त हुई हैं । हम मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, तृण, गुल्म, नदी, पर्वत, भूमि, चट्टान इत्यादि देखी हुई वस्तुओं के अतिरिक्त वस्तुओं की कल्पना नहीं कर सकते । लंबाई, चौड़ाई, ऊँचाई (या गहराई) के अतिरिक्त और विस्तार मन में नहीं ला सकते । हम इतना ही कर सकते हैं कि चार मुँहवाले या घोड़े के मुँहवाले मनुष्य की

---

१ [मिलाइए 'हिंदी साहित्य का इतिहास', प्रवर्धित संस्करण, सं० १९९९, पृष्ठ ७५० ।]

कल्पना करें, सोने के पंखवाले पक्षी उड़ाएँ, मरकत–पद्मराग की प्रभावाले पेड़ खड़े करें, सोने की रेत पर चाँदी की धारा बहाएँ; माणिक्य और नीलम की चट्टानें बिछाएँ। पर असली ढाँचे मनुष्य, पशु, पक्षी, पेड़, रेत, नदी, चट्टान आदि के ही रहेंगे, उनमें रंग, रूप चाहे जैसे भरें। ऐसी दशा में यह कहना कि प्रत्यक्ष रूप-विधान से कवि के काल्पनिक रूप-विधान का कोई संबंध नहीं, बात बनाना ही माना जायगा।

इन ढाँचों को लेकर हम विलक्षण रंग-रूप की वस्तुएँ खड़ी कर सकते हैं, पर यह स्पष्ट समझ रखना चाहिए कि उन वस्तुओं का रूप-रंग प्रकृति से जितना ही दूर घसीटा जायगा उतनी ही वे वस्तुएँ कल्पना में कम देर तक टिकेंगी। घोड़े के मुहँवाले किन्नर, पुखराज की चट्टानों और सोने की रेत के बीच से बहती हुई नदियाँ, आग के बने हुए शरीर एक क्षण के लिये मन में आ सकते हैं, पर सोने की चिड़ियों की तरह चट उड़ जायँगे। पर जैसा कि मैं अपने अन्य प्रबंधों में दिखा चुका हूँ, हृदय के मर्म को स्पर्श करने के लिये, सच्ची और गहरी अनुभूति उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि कल्पना में आई हुई वस्तुएँ कुछ देर टिकें, मन उनका बिंबग्रहण कुछ काल तक किए रहे।[1]

काव्य-भूमि जीवन से, जगत् से परे नहीं है। वह वस्तु-व्यापार-योजना जो केवल विलक्षणता, नवीनता या अलौकिकता दिखाने के लिये की जाएगी, जिसमें जगत् या जीवन का कोई मार्मिक पक्ष, गंभीर या साधारण, व्यक्त होता न दिखाई पड़ेगा, वह काव्य का ठीक लक्ष्य पूरा न कर सकेगी।

---

१ [मिलाइए चिंतामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ २४ और ऊपर पृष्ठ १२६।]

प्रस्तुत रूप-विधान

कल्पित रूप-विधान दो प्रकार का होता है—

(१) प्रस्तुत रूप-विधान और

(२) अप्रस्तुत रूप-विधान।

यह प्रस्तुत रूप-विधान हमारे पुराने आचार्यों का विभाव-पक्ष* है जिसके अंतर्गत आलंबन और उद्दीपन दोनों हैं।

---

* विभाव पक्ष के अंतर्गत वस्तुएँ दो रूपों में लाई जाती हैं—वस्तु-रूप में और अलंकार-रूप में; अर्थात् प्रस्तुत रूप में और अप्रस्तुत में। मान लीजिए कि कोई कवि कृष्ण का वर्णन कर रहा है। पहले वह कृष्ण के श्याम या नील वर्ण शरीर को, उस पर पड़े हुए पीतांबर को, त्रिभंगी मुद्रा को, स्मित आनन को, हाथ में ली हुई मुरली को, सिर के कुंचित केश और मोर-मुकुट आदि को सामने रखता है। यह विन्यास वस्तु-रूप में हुआ। इसी प्रकार का विन्यास यमुना-तट, निकुंज की लहराती लताओं, चंद्रिका, कोकिल-कूजन आदि का होगा। इनके साथ ही यदि कृष्ण के शोभा-वर्णन में घन और दामिनी, सनाल कमल आदि उपमान के रूप में वह लाता है तो यह विन्यास अलंकार-रूप में होगा। —[सूरदास, पृष्ठ १६१।]

विचार करने से उद्दीपन दो प्रकार के निकलेंगे—आलंबनगत और आलंबन से बाहर के। यहाँ पर हम प्रस्तुत रूप-विधान का आलंबन की दृष्टि से ही विचार करेंगे। इस विचार में आलंबनगत या आलंबन से बाहर, पर आलंबन से लगाव रखनेवाली वस्तुएँ भी आ सकती हैं। आलंबन से हमारा अभिप्राय केवल रस-ग्रंथों में गिनाए आलंबनों से नहीं, उन सब वस्तुओं और व्यापारों से है जिनके प्रति हमारे मन में किसी भाव का उदय होता है। जैसे, यदि कहीं कवि प्रकृति के किसी रमणीय खंड का वर्णन पूरी तन्मयता के साथ, पूरा व्योरा देते हुए करता है तो वहाँ वह दृश्य या प्रकृति ही आलंबन होगी। अपने पूर्व प्रबंधों[1] और समीक्षाओं मे मैं यह दिखा चुका हूँ कि प्रकृति का वर्णन दोनों रूपों में हो सकता है—आलंबन के रूप में भी, उद्दीपन के रूप मे भी। कुमार-संभव के आरंभ का हिमालय-वर्णन, मेघदूत का नाना-प्रदेश वर्णन आलंबन के रूप में ही समझना चाहिए। ऋतुसंहार में दिया हुआ प्रकृति-वर्णन उद्दीपन के रूप में है। एक ही कवि कालिदास ने प्रकृति का आलंबन के रूप में भी वर्णन किया है और उद्दीपन के रूप में भी। आलंबन के रूप में जिस वस्तु का ग्रहण होता है भाव उसी के प्रति होता है; उद्दीपन के रूप में जिसका ग्रहण होता है भाव उसके प्रति नहीं रहता, किसी अन्य के प्रति रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कोरा प्रकृति वर्णन भी रसात्मक होता है। आलंबन मात्र का वर्णन भी बराबर रसात्मक होता है इस बात को पुराने आचार्यों ने भी स्वीकार किया है—

---

१ [देखिए काव्य में प्राकृतिक दृश्य, चिंतामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ २ और ऊपर पृष्ठ ११०।]

सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्।
झटित्यन्यसमाक्षेपे तथा दोषो न विद्यते।
—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, १७।

इसके उदाहरण में जो पद्य दिया गया है वह मालविका के अंग-प्रत्यंग का तन्मयता के साथ किया हुआ वर्णन मात्र है।[1] इतने ब्योरे के साथ वर्णन करने की प्रवृत्ति में ही वर्णनकर्ता के मन में सौंदर्य के प्रभाव, औत्सुक्य आदि का आभास मिलता है। इसी प्रकार आँखें फाड़ फाड़कर देखने आदि अनुभावों का आक्षेप भी हो जाता है और रति भाव की भी व्यंजना हो जाती है। यही बात कोरे प्रकृति-वर्णन में भी समझिए।

पाश्चात्य समीक्षकों ने 'कल्पना' का ऐसा पल्ला पकड़ा कि उन्होंने कल्पित रूप-विधान को ही एक प्रकार से काव्य का लक्ष्य ठहराया। हमारे यहाँ काल्पनिक रूप-विधान साधन की कोटि में रखा गया है; साध्य वस्तु रसानुभूति ही रखी गई है। भारतीय काव्य-दृष्टि के अनुसार कवि की कल्पना भावों की प्रेरणा से ही रूप-विधान में प्रवृत्त होती है और श्रोता या पाठक की कल्पना उस रूप-विधान का ग्रहण कर भावों को जगाती है। जो रूप-योजना कवि के मन में कार्यरूप में रहती है वही श्रोता या पाठक के अंतस् में जाकर कारण-रूप हो जाती है। अतः कल्पना की वही रूप-योजना काव्य के अंतर्गत आ सकती है जो श्रोता या पाठक के

---

१ [दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावराला‌ङ्गुली,
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः श्लिष्टं तथास्या वपुः॥
—मालविकाग्निमित्र, २-३।]

मन में कोई भाव जगाने में समर्थ हो, भाव जगाने में वही रूप-योजना समर्थ होगी जो जगत् या जीवन का कोई गूढ़ या मार्मिक तथ्य सामने लाएगी, जो विश्व के किसी अनुरंजनकारी, क्षोभ-कारी या विस्मयकारी विधान का चित्र होगी।

यदि हम किसी कारखाने का पूरे ब्योरे के साथ वर्णन करें, उसमें मजदूर किस व्यवस्था के साथ क्या क्या काम करते हैं ये सब बातें अच्छी तरह सामने रखें तो ऐसे वर्णन से किसी व्यव-सायी का ही काम निकल सकता है, काव्यप्रेमी के हृदय पर कोई प्रभाव न होगा। बात यह है कि ये सब विधान जीवन के मूल और सामान्य स्वरूप से बहुत दूर के हैं। पर यदि हम उसी कारखाने के पास बने हुए मजदूरों के झोपड़ों के भीतर के जीवन का चित्रण करें, रोटी के लिये झगड़ते हुए कृशकाय बच्चों पर झल्लाती हुई माँ का दृश्य सामने लाएँ तो कवि-कर्म में हमारे वर्णन का उपयोग हो सकता है।

अब यहाँ पर काव्य और सभ्यता के संबंध का सवाल सामने आता है। सभ्यता का स्वरूप उत्तरोत्तर बदलता चला आ रहा है। आज से सौ वर्ष पहले उसका जो स्वरूप था वह आज नहीं है, आज जो उसका स्वरूप है वह पचास वर्ष पीछे न रहेगा। अब विचारणीय यह है कि क्या कविता को भी सभ्यता का एक अंग होकर आज कुछ और कल कुछ और होते हुए चलना चाहिए अथवा सभ्यता के बाहरी और भीतरी दोनों स्वरूपों को बाह्य आवरण के रूप में रखकर एकरस-धारा के रूप में चलना चाहिए। हमारा कहना है कि दूसरा मार्ग ही सच्ची कविता का मार्ग हो सकता है। सभ्यता के साथ साथ वह चलेगी पर उसी का एक विधान होकर नहीं। वह अपनी मूल सत्ता स्वतंत्र रखेगी, किसी काल की सभ्यता की नकल करना, केवल नवीनता दिखाने

के लिये पुरानी से भिन्न लगनेवाली बातें खड़ी करना ; रेल, तार, हवाई जहाज, क्लब, सिनेमा इत्यादि का उल्लेख कर देना ही आधुनिक कविता करना नहीं कहा जा सकता। आधुनिक सभ्यता ने जो नई नई वस्तुएँ प्रस्तुत की हैं, उनके संबंध में हमारा अपना विचार तो यही है कि उनके वर्णन में स्वतः कोई रागात्मक प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति कई शताब्दियों तक न आएगी। यह हो सकता है कि चलित जीवन के साथ उनके घनिष्ठता के साथ मिलते जाने से परिस्थिति के चित्रों में वे कभी कभी दिखाई पड़ा करेंगी, पर प्रायः उदासीन रहेंगी, रस-प्रक्रिया में कोई योग न देंगी। इन वस्तुओं का काव्य में बहुत दिनों तक वही स्थान रहेगा जो हमारे यहाँ के आचार्यों ने सरस वाक्यों के भीतर नीरस वाक्यों का बताया है।[1]

अँगरेजी कविता में रेलगाड़ी और अगिनबोट की पहले पहल चर्चा करनेवाले कवि वर्ड्सवर्थ थे। इनको कविता के भीतर घुसने का पास उन्होंने कुछ हिचकते हुए, अपने मन को बहुत कुछ समझाते बुझाते हुए दिया था—

"हे पृथ्वी और समुद्र पर की गति और साधन ! तुम हमारी पुरानी रस-भावना के साथ मेल नहीं खाते हो, पर अब यह न होगा कि तुम इस कारण अनुपयुक्त समझे जाव। तुम्हारी उपस्थिति चाहे प्रकृति की रमणीयता को कितना ही भ्रष्ट करे पर मन को भविष्य के हेर-फेर का ऐसा आगम ज्ञान, दृष्टि की

---

१ [रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात्। —साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद।]

वह सीध, प्राप्त करने में बाधा न देगी जिससे यह खुले कि तुम तत्त्वतः हो क्या" ।*

पीछे टेनिसन (Tennyson) और ब्राउनिंग (Browning) आदि कई कवि कविता में रेलगाड़ी लाए पर असली कविता के रंग में नहीं—कुतूहल या विनोद के रंग में। केवल एमिली डिकिंसन (Emily Dickinson) ने उसको प्रेम का थोड़ा बहुत आलंबन बनाया। राबर्ट निकोल्स (Robert Nickols), सिटवेल (Sacheverell Sitwell) आदि आजकल के कवियों ने उसे जीवन की एक सामान्य वस्तु मान कर उसका कुछ ब्योरे के साथ वर्णन किया है।

लारा राइडिंग (Laura Riding) और राबर्ट ग्रेव्ज़ (Robert Graves) ने आजकल होनेवाली अँगरेजी कविता पर जो पुस्तक (A Survey of Modernist Poetry) लिखी है उसमें आधुनिक सभ्यता और कविता के संबंध में यह मत प्रकट किया है कि वही आधुनिक कविता कविता होगी जिसमें जानबूझकर आधुनिकता का रंग न चढ़ाया गया होगा, जिसकी रचना यह समझकर न होगी कि आधुनिक

---

*Motions and Means on land and sea at war
With old poetic feeling, not for this
Shall ye, by Poets even, be judged amiss!
Nor shall your presence, howsoe'er it mar
The loveliness of Nature, prove a bar
To the Mind's gaining that prophetic sense
Of future change, that point of vision, whence
May be discovered what in soul ye are.

सभ्यता के क्या क्या अनुरोध हैं; क्या क्या बातें लाई जायँ जिससे वह आधुनिक लगे। ऐसी कविता एक साथ ही पुरानी भी होगी और नई भी। एक ओर तो उसकी प्रकृति के भीतर काव्य अपने सत्य सर्वकालव्यापी स्वरूप में स्थित रहेगा दूसरी ओर वह आधुनिक जीवन और सभ्यता के मेल में होगी।*

---

*The modernist poetry can appear equally at all stages of historical development from Woidsworth to Miss Moor. And it does appear when the poet forgets what is the correct literary conduct demanded of him in relation to contemporary institutions (with civilization speaking through criticism) and can write a poem having the power of survival inspite of its disregarding these demands; a poem of purity—of a certain old-fashionedness of reaction against the time to archaism, or of retreat to nature and the primitive passions. All poetry that deserves to endure is at once old fashioned and modernist.

× × ×

The relation of a poet's poetry to Poetry as a whole and to the time in which it is written is the problem of criticism; and if this problem becomes part of the making of a poem, it adds to the uncouscious consciousness of the poet when he is in the act of composition, an alieu element—a conscious consciousness what we may call the "historical effort".

—A Survey of Modernist Poetry.

'कल्पना' और 'व्यक्तित्व' की, पाश्चात्य समीक्षा क्षेत्र में इतनी अधिक मुनादी हुई कि काव्य के और सब पक्षों से दृष्टि हटकर इन्हीं दो पर जा जमी। 'कल्पना' काव्य का बोधपक्ष है। कल्पना में आई हुई रूप-व्यापार-योजना का कवि या श्रोता को अंतःसाक्षात्कार या बोध होता है। पर इस बोधपक्ष के अतिरिक्त काव्य का भावपक्ष भी है। कल्पना को रूप-योजना के लिये प्रेरित करनेवाले और कल्पना में आई हुई वस्तुओं में श्रोता या पाठक को रमानेवाले रति, करुणा, क्रोध, उत्साह, आश्चर्य इत्यादि भाव या मनोविकार होते हैं। इसी से भारतीय दृष्टि ने भावपक्ष को प्रधानता दी और रस के सिद्धांत की प्रतिष्ठा की। पर पश्चिम में 'कल्पना' 'कल्पना' की पुकार के सामने धीरे धीरे समीक्षकों का ध्यान भावपक्ष से हट गया और बोधपक्ष ही पर भिड़ गया। काव्य की रमणीयता उस हलके आनंद के रूप में ही मानी जाने लगी जिस आनंद के लिये हम नई नई, सुंदर, भड़कीली और विलक्षण वस्तुओं को देखने जाते हैं। इस प्रकार कवि तमाशा दिखानेवाले के रूप में और श्रोता या पाठक तटस्थ तमाशबीन के रूप में समझे जाने लगे। केवल देखने का आनंद कुछ विलक्षण को देखने का कुतूहल मात्र होता है।

'कल्पना' और 'व्यक्तित्व' पर एकदेशीय दृष्टि रखकर पश्चिम में कई प्रसिद्ध 'वादों' की इमारतें खड़ी हुईं। इटली-निवासी क्रोसे (**Benedetto Croce**) ने अपने 'अभिव्यंजनावाद' के निरूपण में बड़े कठोर आग्रह के साथ कला की अनुभूति को ज्ञान या बोध-स्वरूप ही माना है। उन्होंने उसे स्वयंप्रकाश ज्ञान (**Intuition**)—प्रत्यक्ष ज्ञान तथा बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध या विचार-प्रसूत ज्ञान से भिन्न केवल कल्पना में आई हुई वस्तु-व्यापार-योजना का ज्ञान मात्र माना है। वे इस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान और

विचार-प्रसूत ज्ञान दोनों से सर्वथा निरपेक्ष, स्वतंत्र और स्वतः पूर्ण मानकर चले हैं। वे इस निरपेक्षता को बहुत दूर तक घसीट ले गए हैं। भावों या मनोविकारों तक को उन्होंने काव्य की उक्ति का विधायक अवयव नहीं माना है। पर न चाहने पर भी अभिव्यंजना या उक्ति के अनभिव्यक्त पूर्व रूप में भावों की सत्ता उन्हें स्वीकार करनी पड़ी है। उससे अपना पीछा वे छुड़ा नहीं सके हैं।*

काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में व्यक्ति की ऐसी दीवार खड़ी हुई, 'विशेष' के स्थान पर सामान्य या विचार-सिद्ध ज्ञान के आ घुसने का इतना डर समाया कि कहीं कहीं आलोचना भी काव्य-रचना के ही रूप में होने लगी। कला की कृति की परीक्षा के लिये विवेचन-पद्धति का त्याग सा होने लगा। हिंदी की मासिक पत्रिकाओं में समालोचना के नाम पर आजकल जो अद्भुत और रमणीय शब्द-योजना मात्र कभी कभी देखने में आया करती है वह इसी पाश्चात्य प्रवृत्ति का अनुकरण है।

पर यह भी समझ रखना चाहिए कि काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं; वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं। यह बात आधुनिक कला-समीक्षा के क्षेत्र में पूर्ण-तया स्थिर हो चुकी है। अनेक व्यक्तियों के रूप-गुण आदि के

---

* *Matter* is emotivity not aesthetically elaborated *i e.* impression. *Form* is elaboration and expression. × × × Sentiments or impressions pass by means of words from the obscure region of the soul into the clarity of the contemplative spirit.

—'Aesthetics.'

विवेचन द्वारा कोई वर्ग या जाति ठहराना, बहुत सी बातों को लेकर कोई सामान्य सिद्धांत प्रतिपादित करना, यह सब तर्क और विज्ञान का काम है—निश्चयात्मिका बुद्धि का व्यवसाय है। काव्य का काम है कल्पना में 'बिंब' (Images) या मूर्त भावना उपस्थित करना; बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं। 'बिंब' जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।*

इस सिद्धांत का तात्पर्य यह है कि शुद्ध काव्य की शक्ति सामान्य तथ्य-कथन या सिद्धांत के रूप में नहीं होती। कविता वस्तुओं और व्यापारों का बिंब-ग्रहण कराने का प्रयत्न करती है; अर्थग्रहण मात्र से उसका काम नहीं चलता। बिंब-ग्रहण जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं। जैसे, यदि कहा जाय कि 'क्रोध में मनुष्य बावला हो जाता है', तो यह काव्य की उक्ति न होगी। काव्य की उक्ति तो किसी क्रुद्ध मनुष्य के उग्र वचनों और उन्मत्त चेष्टाओं को कल्पना में उपस्थित भर कर देगी। कल्पना में जो कुछ उपस्थित

---

* अभिव्यंजना-वाद (Expressionism) के प्रवर्तक क्रोसे (Benedetto Croce) ने कला के बोधपक्ष और तर्क के बोधपक्ष को इस प्रकार अलग अलग दिखाया है—(क) Intuitive knowledge, knowledge obtained through the imagination, knowledge of the individual or of individual things (ख) Logical knowledge, knowledge obtained through the intellect, knowledge of the universal, knowledge of the relations between individual things.

—'Aesthetics' by Benedetto Croce.

होगा वह व्यक्ति या वस्तु विशेष ही होगा। सामान्य या 'जाति' की तो मूर्त भावना हो ही नहीं सकती।*

अब यह देखना चाहिए कि हमारे यहाँ विभावन व्यापार में जो 'साधारणीकरण' कहा गया है उसके विरुद्ध तो यह सिद्धांत नहीं जाता। विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि दोनों में कोई विरोध नहीं पड़ता। विभावादिक साधारणतया प्रतीत होते हैं, इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन में आलंबन आदि विशेष व्यक्ति या विशेष वस्तु की मूर्त भावना के रूप में न आकर सामान्यतः

---

* साहित्य-शास्त्र में नैयायिकों की बातें ज्यों की त्यों ले लेने से काव्य के स्वरूप-निर्णय में जो बाधा पड़ी है उसका एक उदाहरण 'शक्तिग्रह' का प्रसंग है। इसके अंतर्गत कहा गया है कि संकेतग्रह, 'व्यक्ति' का नहीं होता है, 'जाति' का होता है। तर्क में भाषा के संकेत-पक्ष (Symbolic aspect) से ही काम चलता है जिसमें अर्थ ग्रहण मात्र पर्याप्त होता है अतः न्याय में तो जाति का संकेतग्रह कहना ठीक है। पर काव्य में भाषा के प्रत्यक्षीकरण पक्ष (Presentative aspect) से काम लिया जाता है जिसमें शब्द द्वारा सूचित वस्तु का बिंब-ग्रहण होता है—अर्थात् उसकी मूर्ति कल्पना में खड़ी हो जाती है। काव्य-मीमांसा के क्षेत्र में न्याय का यह हाथ बढ़ाना डाक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण को भी खटका है। उन्होंने कहा है—It is, however, to be regretted that during the last 500 years the Nyaya has been mixed up with Law, Rhetoric, etc, and thereby has hampered the growth of those branches of knowledge upon which it has grown up as a sort of parasite.

—Introduction (The Nyaya Sutras).

व्यक्ति मात्र या वस्तु मात्र (जाति) के अर्थ-संकेत के रूप में आते हैं। 'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलंबन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलंबन हो जाती है। जिस व्यक्ति विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति विशेष ही उपस्थित रहता है। हाँ, कभी कभी ऐसा भी होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्मवाली कोई मूर्ति विशेष आ जाती है। जैसे, यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुंदरी से प्रेम है तो शृंगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह रहकर आलंबन-रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आएगी। यदि किसी से प्रेम न हुआ तो सुंदरी की कोई कल्पित मूर्ति उसके मन में आएगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कल्पित मूर्ति भी विशेष ही होगी—व्यक्ति की ही होगी।

कल्पना में मूर्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलंबन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलंबनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है; पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है—तात्पर्य यह कि आलंबन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाववाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के

कारण, सबके भावों का आलंबन हो जाता है। 'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं'—इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलंबन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिये पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नहीं रहता।

'साधारणीकरण' के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव-व्यंजना करनेवाला पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है जिसमें आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप मे आलंबन रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यंजना करता है और श्रोता (या पाठक) उसी भाव का रसरूप में अनुभव करता है। पर रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रंथों में विवेचन नहीं हुआ है। उसका भी विचार करना चाहिए। किसी भाव की व्यंजना करनेवाला, कोई क्रिया या व्यापार करनेवाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दर्शक) के किसी भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का—आलंबन होता है। इस दशा में श्रोता या दर्शक का हृदय उस पात्र के हृदय से अलग रहता है—अर्थात् श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिसकी व्यंजना पात्र अपने आलंबन के प्रति करता है, बल्कि व्यंजना करनेवाले उस पात्र के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है। यह दशा भी एक प्रकार की रस-दशा ही है—यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलंबन का साधारणीकरण नहीं रहता। जैसे, कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर

रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करनेवाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जगेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।

जहाँ पाठक या दर्शक किसी काव्य या नाटक में सन्निविष्ट पात्र या आश्रय के शील-द्रष्टा के रूप में स्थित होता है वहाँ भी पाठक या दर्शक के मन मे कोई न कोई भाव थोड़ा बहुत अवश्य जगा रहता है; अंतर इतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलंबन पाठक या दर्शक का आलंबन नहीं होता, बल्कि वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलंबन रहता है। इस दशा मे भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलंबन अवश्य होता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलंबन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलंबन प्रायः हो जाता है। जहाँ कवि किसी वस्तु (जैसे—हिमालय, विंध्याटवी) या व्यक्ति का केवल चित्रण करके छोड़ देता है वहाँ कवि ही आश्रय के रूप में रहता है। उस वस्तु या व्यक्ति का चित्रण वह उसके प्रति कोई भाव रखकर ही रहता है। उसी के भाव के साथ पाठक या दर्शक का तादात्म्य रहता है; उसी का आलंबन पाठक या दर्शक का आलंबन हो जाता है।

आश्रय की जिस भाव-व्यंजना को श्रोता या पाठक का हृदय कुछ भी अपना न सकेगा उसका ग्रहण केवल शील-वैचित्र्य के रूप में होगा और उसके द्वारा घृणा, विरक्ति, अश्रद्धा, क्रोध, आश्चर्य, कुतूहल इत्यादि में से ही कोई भाव उत्पन्न होकर अपरितुष्ट दशा में रह जायगा। उस भाव की तुष्टि तभी होगी जब कोई दूसरा पात्र आकर उसकी व्यंजना वाणी और चेष्टा द्वारा उस बेमेल या अनुपयुक्त भाव की व्यंजना करनेवाले प्रथम पात्र के प्रति करेगा। इस दूसरे पात्र की भाव व्यंजना के साथ श्रोता या दर्शक की पूर्ण सहानुभूति होगी। अपरितुष्ट भाव की आकुलता का अनुभव प्रबंध-काव्यों, नाटकों और उपन्यासों के प्रत्येक पाठक को थोड़ा-बहुत होगा। जब कोई असामान्य दुष्ट अपनी मनोवृत्ति की व्यंजना किसी स्थल पर करता है तब पाठक के मन में बार बार यही आता है कि उस दुष्ट के प्रति उसके मन में जो घृणा या क्रोध है उसकी भरपूर व्यंजना वचन या क्रिया द्वारा कोई पात्र आकर करता। क्रोधी परशुराम तथा अत्याचारी रावण की कठोर बातों का जो उत्तर लक्ष्मण और अंगद देते हैं उससे कथा-श्रोताओं की अपूर्व तुष्टि होती है।

इस संबंध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य-दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं। प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रहता है; द्वितीय में अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिये विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है। उदात्त वृत्तिवाले आश्रय की भाव व्यंजना में भी यह होगा कि जिस समय तक पाठक या श्रोता तादात्म्य की दशा में पूर्ण रसमग्न रहेगा उस समय तक

भाव-व्यंजना करनेवाले आश्रय को अपने से अलग रखकर उसके शील आदि की ओर दत्तचित्त न रहेगा। उस दशा के आगे-पीछे ही वह उसकी भावात्मक सत्ता से अपनी भावात्मक सत्ता को अलग कर उसके शील-सौंदर्य की भावना कर सकेगा। भाव-व्यंजना करनेवाले किसी पात्र या आश्रय के शील-सौंदर्य की भावना जिस समय रहेगी उस समय वही श्रोता या पाठक का आलंबन रहेगा और उसके प्रति श्रद्धा, भक्ति या प्रीति टिकी रहेगी।

हमारे यहाँ के आचार्यों ने श्रव्य-काव्य और दृश्य काव्य दोनों में रस की प्रधानता रक्खी है, इसी से दृश्य काव्य में भी उनका लक्ष्य तादात्म्य और साधारणीकरण की ओर रहता है। पर योरप के दृश्य-काव्यों में शील-वैचित्र्य या अंतःप्रकृति-वैचित्र्य की ओर ही प्रधान लक्ष्य रहता है जिसके साक्षात्कार से दर्शक को आश्चर्य या कुतूहल मात्र की अनुभूति होती है। अतः इस वैचित्र्य पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। वैचित्र्य के साक्षात्कार से केवल तीन बातें हो सकती हैं—

(१) आश्चर्यपूर्ण प्रसादन।
(२) आश्चर्यपूर्ण अवसादन। या
(३) कुतूहल मात्र।

आश्चर्यपूर्ण प्रसादन शील के चरम उत्कर्ष अर्थात् सात्त्विक आलोक के साक्षात्कार से होता है। भरत का राम की पादुका लेकर विरक्त रूप में बैठना, राजा हरिश्चंद्र का अपनी रानी से आधा कफन माँगना, नागानंद नाटक में जीमूतवाहन का भूखे गरुड़ से अपना मांस खाने के लिये अनुरोध करना इत्यादि शील-वैचित्र्य के ऐसे दृश्य हैं जिनसे श्रोता या दर्शक के हृदय में आश्चर्य-मिश्रित श्रद्धा या भक्ति का संचार होता है। इस प्रकार के उत्कृष्ट शीलवाले पात्रों की भाव-व्यंजना को अपनाकर वह

उसमें लीन भी हो सकता है। ऐसे पात्रों का शील विचित्र होने पर भी भाव-व्यंजना के समय उनके साथ पाठक या श्रोता का तादात्म्य हो सकता है।

आश्चर्यपूर्ण अवसादन शील के अत्यंत पतन अर्थात् तामसी घोरता के साक्षात्कार से होता है। यदि किसी काव्य या नाटक मे हूण-सम्राट् मिहिरगुल पहाड़ की चोटी पर से गिराए जाते हुए मनुष्य के तड़फने, चिल्लाने आदि की भिन्न भिन्न चेष्टाओं पर भिन्न भिन्न ढंग से अपने आह्लाद की व्यंजना करे तो उसके आह्लाद में किसी श्रोता या दर्शक का हृदय योग न देगा, बल्कि उसकी मनोवृत्ति की विलक्षणता और घोरता पर स्तंभित, क्षुब्ध या कुपित होगा। इसी प्रकार दुःशीलता की और और विचित्रताओं के प्रति श्रोता की आश्चर्य-मिश्रित विरक्ति, घृणा आदि जगेगी।

जिन सात्त्विकी और तामसी प्रकृतियों की चरम सीमा का उल्लेख ऊपर हुआ है, सामान्य प्रकृति से उनकी आश्चर्यजनक विभिन्नता केवल उनकी मात्रा में होती है। वे किसी वर्ग विशेष की सामान्य प्रकृति के भीतर समझी जा सकती है। जैसे भरत आदि की प्रकृति शीलवानों की प्रकृति के भीतर और मिहिरगुल की प्रकृति क्रूरों की प्रकृति के भीतर मानी जा सकती है। पर कुछ लोगों के अनुसार ऐसी अद्वितीय प्रकृति भी होती है जो किसी वर्ग विशेष की भी प्रकृति क भीतर नहीं होती। ऐसी प्रकृति के साक्षात्कार से न स्पष्ट प्रसादन होगा, न स्पष्ट अवसादन—एक प्रकार का मनोरंजन या कुतूहल ही होगा। ऐसी अद्वितीय प्रकृति के चित्रण को डंटन (**Theodore Watts-Dunton**) ने कवि की नाटकीय या निरपेक्ष दृष्टि (**Dramatic or Absolute vision**) का सूचक और काव्य-कला का चरम

उत्कर्ष कहा है। उनका कहना है कि साधारणतः कवि या नाटककार भिन्न भिन्न पात्रों की उक्तियों की कल्पना अपने ही को उनकी परिस्थिति में अनुमान करके किया करते हैं। वे वास्तव में यह अनुमान करते हैं कि यदि हम उनकी दशा में होते तो कैसे वचन मुँह से निकालते। तात्पर्य यह कि उनकी दृष्टि सापेक्ष होती है; वे अपनी ही प्रकृति के अनुसार चरित्र-चित्रण करते हैं। पर निरपेक्ष दृष्टिवाले नाटककार एक नवीन नर-प्रकृति की सृष्टि करते हैं। नूतन निर्माणवाली कल्पना उन्हीं की होती है।

डंटन ने निरपेक्ष दृष्टि को उच्चतम शक्ति तो ठहराया, पर उन्हें संसार भर में दो ही तीन कवि उक्त दृष्टि से संपन्न मिले जिनमें मुख्य शेक्सपियर हैं। पर शेक्सपियर के नाटकों में कुछ विचित्र अंतःप्रकृति के पात्रों के होते हुए भी अधिकांश ऐसे पात्र हैं जिनकी भाव-व्यंजना के साथ पाठक या दर्शक का पूरा तादात्म्य रहता है। 'जूलियस सीजर' नाटक में अंटोनियो के लंबे भाषण से जो क्षोभ उमड़ा पड़ता है उसमें किसका हृदय योग न देगा? डंटन के अनुसार शेक्सपियर की दृष्टि की निरपेक्षता के उदाहरणों में हैमलेट का चरित्र-चित्रण है। पर विचारपूर्वक देखा जाय तो हैमलेट की मनोवृत्ति भी ऐसे व्यक्ति की मनोवृत्ति है जो अपनी माता का घोर विश्वासघात और जघन्य शीलच्युति देख अर्द्धविक्षिप्त-सा हो गया हो। परिस्थिति के साथ उसके वचनों का असामंजस्य उसकी बुद्धि की अव्यवस्था का द्योतक है। अतः उसका चरित्र भी एक वर्ग विशेष के चरित्र के भीतर आ जाता है। उसके बहुत से भाषणों को प्रत्येक सहृदय व्यक्ति अपनाता है। उदाहरण के लिये आत्मग्लानि और क्षोभ से भरे हुए वे वचन जिनके द्वारा वह स्त्री-जाति की भर्त्सना करता

है। अतः हमारे देखने में ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन, जो किसी दशा में किसी की हो ही नहीं सकती, केवल ऊपरी मन-बहलाव के लिये खड़ा किया हुआ कृत्रिम तमाशा ही होगा। पर डंटन साहब के अनुसार ऐसी मनोवृत्ति का चित्रण नूतन सृष्टिकारिणी कल्पना का सबसे उज्ज्वल उदाहरण होगा।

'नूतन-सृष्टि-निर्माणवाली कल्पना' की चर्चा जिस प्रकार योरप में चलती आ रही है उसी प्रकार भारतवर्ष में भी। पर हमारे यहाँ यह कथन अर्थवाद के रूप में—कवि और कवि-कर्म की स्तुति के रूप में—ही गृहीत हुआ, शास्त्रीय सिद्धांत या विवेचन के रूप में नहीं। योरप में अलबत यह एक सूत्र सा बनकर काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में भी जा घुसा है। इसके प्रचार का परिणाम वहाँ यह हुआ कि कुछ रचनाएँ इस ढंग की भी हो चलीं जिनमें कवि ऐसी अनुभूतियों की व्यंजना की नकल करता है जो न वास्तव में उसकी होती हैं और न किसी की हो सकती हैं। इस नूतन सृष्टि-निर्माण के अभिनय के बीच 'दूसरे जगत् के पंछियों' की उड़ान शुरू हुई। शेली के पीछे पागलपन की नकल करनेवाले बहुत से खड़े हुए थे; वे अपनी बातों का ऐसा रूप-रंग बनाते थे जो किसी और दुनिया का लगे या कहीं का न जान पड़े।*

---

* After Shelley's music began to captivate the world certain poets set to work upon the theory that between themselves and the other portion of the human race there is a wide gulf fixed. Their theory was that they were to sing, as far as possible, like birds of another world. ×××× It might also be said that the

यह उस प्रवृत्ति का हद के बाहर पहुँचा रूप है जिसका आरंभ योरप में एक प्रकार से पुनरुत्थान-काल (**Renaissance**) के साथ ही हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि उस काल के पहले काव्य की रचना काल को अखंड, अनंत और भेदातीत मानकर तथा लोक को एक सामान्य सत्ता समझकर की जाती थी। रचना करनेवाले यह ध्यान रखकर नहीं लिखते थे कि इस काल के आगे आनेवाला काल कुछ और प्रकार का होगा अथवा इस वर्तमान काल का स्वरूप सर्वत्र एक ही नहीं है— किसी जन-समूह के बीच पूर्ण सभ्य काल है, किसी के बीच उससे कुछ कम ; किसी जन-समुदाय के बीच कुछ असभ्य काल है, किसी के बीच उससे बहुत अधिक। इसी प्रकार उन्हें इस बात की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती थी कि लोक भिन्न भिन्न व्यक्तियों से बना होता है जो भिन्न भिन्न रुचि और प्रवृत्ति के होते हैं। 'पुनरुत्थान-काल' से धीरे धीरे इस तथ्य की ओर ध्यान बढ़ाता गया, प्राचीनों की भूल प्रकट होती गई। अंत में इशारे पर आँख मूँदकर दौड़नेवाले बड़े बड़े पंडितों ने पुनरुत्थान की कालधारा को मथकर 'व्यक्तिवाद'

---

poetic atmosphere became that of the supreme palace of wonder—Bedlam.

Bailey, Dobell and Smith were not Bedlamites, but men of common sense. They only affected madness. The country from which the followers of Shelley sing to our lower world was named 'Nowhere.'

—'Poetry and the Renascence of Wonder' by Theodore Watts-Dunton.

रूपी नया रत्न निकाला। फिर क्या था? शिक्षित समाज में व्यक्तिगत विशेषताएँ देखने-दिखाने की चाह बढ़ने लगी।

काव्यक्षेत्र में किसी 'वाद' का प्रचार धीरे धीरे उसकी सार-सत्ता को ही चर जाता है। कुछ दिनों में लोग कविता न लिखकर 'वाद' लिखने लगते हैं। कला या काव्य के क्षेत्र में 'लोक' और 'व्यक्ति' की उपर्युक्त धारणा कहाँ तक संगत है, इस पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। लोक के बीच जहाँ बहुत सी भिन्नताएँ देखने में आती हैं वहाँ कुछ अभिन्नता भी पाई जाती है। एक मनुष्य की आकृति से दूसरे मनुष्य की आकृति नहीं मिलती, पर सब मनुष्यों की आकृतियों को एक साथ लें तो एक ऐसी सामान्य आकृति-भावना भी बँधती है जिसके कारण हम सबको मनुष्य कहते हैं। इसी प्रकार सबकी रुचि और प्रकृति में भिन्नता होने पर भी कुछ ऐसी अंतर्भूमियाँ है जहाँ पहुँचने पर अभिन्नता मिलती है। ये अंतर्भूमियाँ नर-समष्टि की रागात्मिका प्रकृति के भीतर हैं। लोक-हृदय की यही सामान्य अंतर्भूमि परख-कर हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' सिद्धांत की प्रतिष्ठा की गई है। वह सामान्य अंतर्भूमि कल्पित या कृत्रिम नहीं है। काव्य-रचना की रूढ़ि या परंपरा, सभ्यता के न्यूनाधिक विकास, जीवन-व्यापार के बदलनेवाले बाहरी रूप-रंग इत्यादि पर यह स्थित नहीं है। इसकी नीवँ गहरी है। इसका संबंध हृदय के भीतरी मूल देश से है, उसकी सामान्य वासनात्मक सत्ता से है।

जिस 'व्यक्तिवाद' का ऊपर उल्लेख हुआ है उसने स्वच्छंदता के आंदोलन (Romantic movement) के उत्तर-काल से बड़ा ही विकृत रूप धारण किया। यह 'व्यक्तिवाद' यदि पूर्ण रूप से स्वीकार किया जाय तो कविता लिखना व्यर्थ ही समझिए। कविता इसीलिये लिखी जाती है कि एक की भावना सैकड़ों,

हजारों क्या, लाखों दूसरे आदमी ग्रहण करें। जब एक के हृदय के साथ दूसरे के हृदय की कोई समानता ही नहीं तब एक के भावों को दूसरा क्यों और कैसे ग्रहण करेगा ? ऐसी अवस्था में तो यही संभव है कि हृदय द्वारा मार्मिक या भीतरी ग्रहण की बात ही छोड़ दी जाय ; व्यक्तिगत विशेषता के वैचित्र्य द्वारा ऊपरी कुतूहल मात्र उत्पन्न कर देना ही बहुत समझा जाय। हुआ भी यही। और हृदयों से अपने हृदय की भिन्नता और विचित्रता दिखाने के लिये बहुत से लोग एक एक काल्पनिक हृदय निर्मित करके दिखाने लगे। काव्यक्षेत्र 'नकली हृदयों' का एक कारखाना हो गया !

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे जान पड़ेगा कि भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न भिन्न विशेषों के भीतर से 'सामान्य' के उद्‌घाटन की ओर बराबर रही है। किसी न किसी 'सामान्य' के प्रतिनिधि होकर ही 'विशेष' हमारे यहाँ के काव्यों में आते रहे हैं। पर योरपीय काव्यदृष्टि इधर बहुत दिनों से विरल विशेष के विधान की ओर रही है। हमारे यहाँ के कवि उस सच्चे तार की झंकार सुनाने में ही संतुष्ट रहे जो मनुष्य मात्र के हृदय के भीतर से होता हुआ गया है। पर उन्नीसवीं शताब्दी के बहुत से विलायती कवि ऐसे हृदयों के प्रदर्शन में लगे जो न कहीं होते हैं और न हो सकते हैं। सारांश यह कि हमारी वाणी भावक्षेत्र के बीच 'भेदों में अभेद' को ऊपर करती रही और उनकी वाणी झूठे-सच्चे विलक्षण भेद खड़े करके लोगों को चमत्कृत करने में लगी।

उन्माद का अभिनय करनेवाले कुछ कवियों का उल्लेख हो चुका है। उनकी नकल वंग भाषा के काव्यक्षेत्र में हुई और उस

नकल की नकल निरालापन दिखाने के लिये हिंदी में अब, इस बीसवीं सदी में, हो रही है।*

योरप में तो इस उन्माद के अभिनय को समाप्त हुए बहुत दिन हो गए; वहाँ तो अब यह एक पुराने जमाने की बात हो गई। इसी प्रकार रहस्यवादी प्रतीकवाद (Symbolism or Decadence) उन्नीसवीं शताब्दी समाप्त होने के पहले ही अतीत दशा को प्राप्त हो गया। पर वंग भाषा के प्रसाद से न जाने कब के मरे हुए आंदोलनों की नकल हिंदी में अब हो रही है—काव्य-रचना के क्षेत्र में भी और आलोचना के क्षेत्र में भी।

योरप में साहित्य-संबंधी आन्दोलनों की आयु बहुत थोड़ी

---

* ये वंगाश्रयी अब कभी कभी अँगरेजी-साहित्य की प्रगति का भी कुछ परिचय प्रकट करने के लिये "शेली और रवींद्रनाथ का दर्शन" भी दिखाने चल पड़ते हैं, पर अँगरेजी-कविता की दो पंक्तियों का भी अनुवाद जहाँ करना पड़ा उनका असली रूप खुल जाता है, जैसे—

A sensitive plant in a garden grew
And the young winds fed it with silver dew.

अब इसका स्कूली तर्जुमा देखिए—

"एक होशमंद पौधा बगीचे में उगा। युवती हवा इसे चाँदी की ओस पिलाने लगी।"

('सुधा'—आषाढ़, जुलाई १९३०।)

खेद इस बात पर होता है कि ऐसे लोग, "रवींद्रनाथ और शेली के दर्शन" पर निराला नोट लिखकर उसे संपादकीय कालमों तक में पहुँचा देते हैं। प्रतिष्ठित पत्रिकाओं के संपादक यदि थोड़ी सावधानी रखें, तो ऐसी अनधिकार चेष्टाओं की बहुत कुछ रोक हो जाय। इनके कारण हिंदी-साहित्य का सिर ऊँचा होने के स्थान पर नीचा ही होगा।

होती है। कोई आंदोलन १० या १२ वर्ष से ज्यादा नहीं चलता। ऐसे आंदोलनों के कारण वहाँ इस बीसवीं शताब्दी में आकर काव्य-क्षेत्र के बीच बड़ी गहरी गड़बड़ी और अव्यवस्था फैली। काव्य की स्वाभाविक उमंग के स्थान पर नवीनता के लिये आकुलता मात्र रह गई। कविता चाहे हो, चाहें न हो, कोई नवीन रूप या रंग-ढंग अवश्य खड़ा हो। पर कोरी नवीनता केवल मरे हुए आंदोलन का इतिहास छोड़ जाय तो छोड़ जाय, कविता नहीं खड़ी कर सकती। केवल नवीनता और मौलिकता की बढ़ी-चढ़ी सनक में सच्ची कविता की ओर ध्यान कहाँ तक रह सकता है। कुछ लोग तो नए नए ढंग की उच्छृंखलता, वक्रता, असंबद्धता, अनर्गलता इत्यादि का ही प्रदर्शन करने में लगे; थोड़े से ही सच्ची भावनावाले कवि प्रकृत मार्ग पर चलते दिखाई पड़ने लगे। समालोचना भी अधिकतर हवाई ढंग की होने लगी।*

रहस्यवादी प्रतीकवाद, मुक्तछंदवाद, 'कला का उद्देश्य कला' वाद इत्यादि तो अब वहाँ बहुत दिन के मरे हुए आंदोलन समझे जाते हैं। इस बीसवीं शताब्दी के आंदोलनों में अभिव्यंजनावाद (**Expressionism**), जार्जकाल-प्रवृत्ति (**Georgianism**), मूर्तिमत्तावाद (**Imagism**), संवेदनावाद (**Impressionism**)

---

* Wherever attempts at sheer newness in poetry were made, they merely ended in dead movements.

× × × ×

Criticism became more dogmatic and unreal, poetry more eccentric and chaotic.

—A Survey of Modernist Poetry, by Laura Riding and Robert Graves. (1927)

और नवीन मर्यादावाद (New Classicism) मुख्य हैं। इनमें से 'अभिव्यंजनावाद' का कुछ परिचय मैं 'काव्य में रहस्यवाद' नाम की पुस्तक में दे चुका हूँ।[1] पिछले चार वाद बिल्कुल हाल के हैं।

जार्ज-काल की प्रवृत्ति का निचोड़ है 'प्रकृति का फिर आश्रय लेना'[2]। गत योरपीय महायुद्ध के दो तीन वर्ष पहले रूपर्ट ब्रुक (Rupert Brooke) प्रकृति की ओर बड़ी झोंक से बढ़े और उसे बड़े प्रेम से अपनाया। प्रकृति के चिर-परिचित सादे और सामान्य दृश्यों के माधुर्य ने उनके मन में घर कर लिया था। दृश्यावलि की चमक-दमक, तड़क-भड़क, भव्यता, विशालता की ओर जिस प्रकार उनका मन नहीं जाता था उसी प्रकार वचन-वक्रता, भाषा की ऐंठ और उछल-कूद, कल्पना की उड़ान की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। उनमें थी प्रकृति के चिर-परिचित रूपों की ओर बालकों की सी ललक और उमंग। उन्होंने प्रकृति के गंभीरपन की ओर उतना ध्यान न दिया, उनकी वाणी में उतना गुरुत्व न था, पर भाव की सचाई अवश्य थी। उन्होंने सामान्य घरेलू जीवन और उसमें काम आनेवाली वस्तुओं को बड़े प्यार की दृष्टि से देखा था। सन् १६१५ में उनका देहांत हो गया। ठीक उन्हीं के पथ के पथिक हेराल्ड मोनरो (Harold Monro) हैं जिनकी एक कविता है "बिल्ली के पीने का दूध"। प्रकृति की ओर लौटनेवालों में डि० ला० मेयर (Walter De La Mare)

---

१ [देखिए चिंतामणि, दूसरा भाग, 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ १०४ से।]

२ [मिलाइए चिंतामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ २४६ से।]

भी हैं, पर उनमें दृष्टि का विस्तार, भव्यता का आभास और भाषा की प्रगल्भता अधिक है।

मूर्तिमत्तावाद (Imagism) के प्रवर्तक फ्लिंट (F. S. Flint) थे जिनकी "तारक जाल में" नाम की पुस्तक सन् १९०९ में प्रकाशित हुई थी। इस संप्रदाय में डूलिटूल (Hilda Doolittle H. D.) और अल्डिंगटन (Rechard Aldington) भी थे, यद्यपि अल्डिंगटन धीरे धीरे इसके बाहर निकल आए। इन लोगों का सिद्धांत था मूर्त रूप में ही विषय को रखना, अतः ये छोटी छोटी कविताएँ ही ठीक समझते थे, जिनका चित्र मन में एक बार में आ सके। बड़ी और लंबी कविताओं के ये विरोधी थे। अपने सिद्धांत के अनुसार ये मूर्त भावना खड़ी करनेवाले (Concrete) शब्द ही कविता के लिये उपयुक्त समझते थे, भाववाचक (Abstract) शब्दों को दूर रखने की सलाह देते थे। इनका कहना था कि मूर्त भावना वाले शब्द कल्पना में स्पष्ट और स्थायी रूप-विधान भी करते हैं और सबको समान रूप से बोधगम्य भी होते हैं। वर्णनात्मक (Descriptive) और विचारात्मक (Philosophical) कविता का ये विरोध करते थे। इनके सिद्धांत में सत्य का बहुत कुछ आधार था, पर ये उसे बहुत दूर तक घसीट ले गए।

विचार करने पर यह बात साफ सामने आती है कि काव्य चित्र-विद्या और संगीत दोनों की पद्धतियों का कुछ कुछ अनुसरण करता है। विभाव और अनुभाव दोनों में रूप-विधान होता है जिसका उसी प्रकार कल्पना द्वारा स्पष्ट ग्रहण वांछित होता है जिस प्रकार नेत्र द्वारा चित्र का। अतः मूर्त भावना की आवश्यकता सबको स्वीकार करनी पड़ेगी। अँगरेजी कविता में मूर्तिमत्तावाद का एक अलग आंदोलन खड़े होने के बहुत पहले ही फ्रांस

में इसका कुछ आभास दिया गया था। सन् १८८४ में वाट्स डंटन ने अँगरेजी के प्रसिद्ध विश्वकोश (Encyclopaedia Britanica) में 'कविता' पर जो प्रबंध दिया था उसमें उन्होंने काव्य का लक्षण यह लिखा था—

Absolute poetry is the Concrete and artistic Expression of the human mind in emotional and rhythmical language.

"भावमयी और लयमयी भाषा में मनुष्य के हृदय की मूर्त और कलात्मक व्यंजना ही कविता है।"

संवेदनावाद (**Impressionism**)—जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं चित्र-विद्या के समान संगीत-कला की पद्धति का भी अवलंबन कविता करती है। इस पक्ष को लेकर भी फ्रांस की आधुनिक कविता में आंदोलन खड़ा हुआ है। बहुत से लोग वहाँ काव्य को संगीत के और निकट लाने के लिये उठ खड़े हुए हैं। वे शब्दों के प्रयोग में उनके अर्थों पर ध्यान देना उतना आवश्यक नहीं बताते जितना उनकी नाद-शक्ति पर। जैसे यदि मधु-मक्खियों के समूह के धावे का वर्णन होगा तो 'भिन भिन' 'मिन मिन' ऐसी ध्वनिवाले, हवा के बहने या पत्तों के बीच चलने का वर्णन होगा तो 'सर सर' 'मर्मर' ऐसी ध्वनिवाले शब्द इकट्ठे किए जायँगे। हिंदी की पुरानी वीर रस की कविताएँ पढ़नेवाले 'कड़क', 'तड़क', 'चटाक', 'पटाक' से तथा अमृतध्वनि छंद से अच्छी तरह परिचित होंगे। सूदन कवि के—

भड़भद्धरं भड़भद्धरं, भड़भब्भरं भड़भब्भरं !
तड़तत्तरं तड़तत्तरं, कड़कक्करं कड़कक्करं ॥

[सुजान-चरित्र, पृष्ठ १८६ ।]

से लोगों के घबराने का कारण यही है कि उनमें नाद संवेदन

मात्र है अर्थ कुछ नहीं। नए पुराने सब कवियों ने व्यापार-चित्रण करते समय कहीं कहीं शब्दों के प्रयोग में नाद की अनुकृति का प्रयत्न किया है। भवभूति के वर्णनों में यह बात कई जगह मिलती है। अँगरेजी कवियों की भी कई पंक्तियाँ इसके लिये प्रसिद्ध हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी के—

"कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि"

में भी झंकार का नाद-चित्र है। पर असल कवियों ने इसका समावेश बड़े कौशल और सफाई के साथ बहुत कम जगह किया है। इसके लिये वे अर्थशक्ति-शून्य शब्द नहीं लाए हैं। पर योरप में साहित्य-संबंधी आंदोलनों के चक्कर में पड़कर बहुत से लोग आँखों में पट्टी बाँधकर एक सीध में कुछ दिनों तक दौड़ते चले जाते हैं। यही दशा फ्रांस में हुई है। अक्षरों की ध्वनि में बड़ी लंबी चौड़ी व्यंजना मानकर वे अक्षरों पर मुख्य ध्यान रखते हुए शब्द-विन्यास कर चलते हैं।

संवेदना-वाद को लेकर सबसे विलक्षण तमाशा कमिंग्ज साहब (E. E. Cummings) ने खड़ा किया है। उन्होंने उक्त फरासीसी प्रवृत्ति के साथ मूर्तिमत्ता का सिद्धांत मिलाकर पदभंग, पदलोप, वाच्यलोप, अक्षर-विन्यास, चरण-विन्यास इत्यादि के नए नए करतब दिखाए हैं। जैसे—

सि—पाही स (ा) टी—देता है।

उनकी रचना का ढंग दिखाने के लिये उनकी एक कविता थोड़े से आवश्यक हेर-फेर के साथ नीचे देता हूँ। यद्यपि उसकी विचित्रताएँ बहुत कुछ अँगरेजी भाषा और उसके छंदों की मात्रा आदि से संबंध रखती हैं और हिंदी में नहीं दिखाई जा सकतीं फिर भी कुछ अंदाजा हो जायगा। कविता यह है—

सूर्यास्त*

सं—दंश
स्वर्ण 'गुंन्' जाल
सिखर पर

---

* Stinging
gold swarms
upon the spires
silver

chants the litanies the
great bells are ringing with rose
the lewd fat bells
and a tall

Wind
is dragging
the
sea

with
dream
—S.

इसकी विशेषताएँ जो बताई गई हैं, संक्षेप में दी जाती हैं—

The lines do not begin with capitals. The spacing does not suggest any regular verse form, though it seems to be systematic. No punctuation marks are used. There is no obvious grammar either of the prose or of

रजत

पाठ करता है

बड़े बड़े घंटे बजते हैं गेरू से

मोटे निठल्ले नगाड़े

और एक उत्तुंग

---

the poetic kind. It seems impossible to read the poem as a logical sequence. A great many words essential to the coherence of the ideas have been deliberately omitted ; and the entire effect is so sketchy that the poem might be made to mean almost any thing or nothing.

× × ×

The heavy alliteration in S in the first seven lines, confirmed in the last by the solitary capitalized S, cannot be discarded. The first word "Stinging", taken alone suggests a sharp feeling. In the second line 'swarms' developes the alliteration, at the same time colouring 'Stinging' with the association of golden bees. 'Silver' brings us back to the contract between cold and warm in the first and second lines ('Stinging' suggests cold in contract with the various suggestions of warmth in the 'gold swarms') because 'silver' reminds one of cold water as 'gold' does of warm light. Two suppressed S words, both disguised in 'silver' and gold, are 'sea' and 'sun'. 'Sea' itself does not actually occur until the twelfth line, when the S alliteration

पवन
खींचता है
सागर
को

स्वप्न

से

यह समुद्र के किनारे सूर्यास्त का वर्णन है जिसका विषय यह है। समुद्र की खारी हवा काटती सी है। डूबते सूर्य की किरनें ऊँची उठी तरंग की श्वेत फेनिल चोटी पर पड़कर पीली मधु-मक्खियों के फैले हुए झुंड सी लगती हैं। वह ऊपर उठी लहर देव-मंदिर के मंडप सी जान पड़ती है जिसके भीतर पाठ होता है, बड़े बड़े घंटे बजते हैं, गेरू से पुते दरवाजे होते हैं, नगाड़े बजते हैं, बड़ी तोंदवाले मोटे निठल्ले पुजारी बैठे रहते हैं। हवा समुद्र के जल को वैसे ही खींचती जान पड़ती है जैसे मछुवा जाल खींचता हो। सूर्यास्त हो जाता है। धुँधलापन, फिर अंधकार हो जाता है; लोग सोते हैं।

---

has flagged : seperated from alliterative association it becomes the definite image 'Sea' and the centre around which the poem is to be built up. But once it has appeared there is little more to be said ; the poem trails off, closing with the large S echo of the last line. The hyphen before this S detaches it from 'dream'. In a realistic sense -S might stand for the alteration of quiet and hiss in wave movement.

—A Survey of Modernist Poetry.

अब किस ढंग से इन सब बातों की संवेदना उत्पन्न करने के लिये शब्द विधान किया गया है, थोड़ा यह देखिए। 'सं-'से सनसनाहट अर्थात् हवा चलने की और 'दंश' से चमड़ा फटने, पानी की ठंड और मधुमक्खी के डंक मारने की संवेदना उत्पन्न की गई है। 'स्वर्ण' से सूर्य की किरनों और मधु-मक्खियों के पीले रंग का आभास दिया गया है। 'गुंन्' से गुनगुनाहट या गुंजार को मिलाकर मंदिरों में होनेवाले शब्द तथा समुद्र के गर्जन छीटों के 'कलकल' का आभास दिया गया है। लटके हुए घंटे की मूर्त भावना में लहरों के नीचे ऊपर झूलने का भी संकेत है। 'गेरू' में संध्या की ललाई झलकाई गई है। फिर दूसरे 'नगाड़े' में निकली हुई तोंद का संकेत है। रचना के प्रथम खंड में 'सूर्य' और 'समुद्र' शब्द नहीं रखे गए हैं। 'स्वर्ण' में तपे सोने के ताप और चमक की भावना रखकर सूर्य का और 'रजत' में शीतलता और स्वच्छता की भावना रखकर जलराशि या समुद्र का संकेत फिर कर दिया गया है। इसमें 'स' के अनुप्रास से भी सहायता ली गई है। पहले खंड में यह अनुप्रास 'स' से आरंभ होनेवाले 'सूर्य' और 'समुद्र' दो लुप्त शब्दों की ओर भी इशारा करता है। कमिंग्ज साहब की समझ में यह विषय को ठीक वैसे ही सामने रखना है जैसे संवेदना उत्पन्न होती है। इसमें ऐसे शब्द नहीं हैं जो अर्थ-संबंध मिलाने के लिये या व्याकरण के अनुसार वाक्य-विन्यास के लिये लाए जाते हैं पर संवेदना उत्पन्न करने में काम नहीं देते। उनके अनुसार यह खालिस कविता है जिसमें से भाषा, व्याकरण, तात्पर्य-बोध आदि का अनुरोध पूरा करनेवाले फालतू शब्द निकाल दिए गए हैं।

वास्तव में कमिंग्ज की इस प्रवृत्ति के मूल में क्या है? काव्यदृष्टि की परिमिति और प्रतिभा के अनवकाश के बीच

'नवीनता' के लिये नैराश्यपूर्ण आकुलता। 'सूर्योदय', 'सूर्यास्त' आदि बहुत पुराने विषय हैं जिन पर न जाने कितने कवि अच्छी से अच्छी कविता कर गए हैं। अब इन्हीं को लेकर जो नवीनता दिखाना चाहेगा वह मार्मिक दृष्टि के प्रसार के अभाव में सिवा इसके कि नए नए वादों का अंध अनुसरण करे, शब्दों की कलाबाजी दिखाए, पहेली बनाए और करेगा क्या ? पर इस प्रकार के ढकोसलों पर सहृदय-समाज क्यों ध्यान देने जायगा ? वर्तमान कवियों में कमिंग्ज का नाम शायद ही कोई लेता हो।

इन नाना 'वादों' से अब पाश्चात्य कवि-मंडली अपना पीछा छुड़ाना चाहती है। अब किसी कविता के संबंध में किसी 'वाद' का नाम लेना फैशन के खिलाफ माना जाने लगा है। कविता की सच्ची कला किस प्रकार 'वाद' ग्रस्त होकर विलीन होने लगती है यह बात बिना दिखाई पड़े कैसे रह सकती है। अब कोई 'वादी' समझे जाने में कवि अपना मान नहीं समझते। "उन्हें अब यह नहीं कहना पड़ता कि हम 'व्यक्तिवादी' हैं (जैसा कि मूर्तिमत्तावादी कहा करते थे), हम 'रहस्यवादी या छायावादी' हैं (जैसा कि इंगलिस्तान-आयर्लैंड के उस मरे हुए आंदोलन के कवि कहा करते थे) अथवा 'हम प्रकृतिवादी' हैं (जैसा कि जार्ज-काल के विगत आंदोलनवाले कहा करते थे)" ।*

* The modernist poet does not have to issue programme declaring his intentions toward the reader or to issue an announcement of tactics. He does not have to call himself an individualist (as the Imagist poet did) or a mystic (as the poet of the Anglo-Irish dead movement did) or a naturalist (as the poet of the Georgian dead movement did).

—A Survey of Modernist Poetry.

इन बहुत सी 'वाद'-व्याधियों का प्रवर्तक है 'व्यक्तिवाद', जो बहुत पुराना रोग है। पुराने रोग जल्दी पीछा नहीं छोड़ते—एक न एक रूप में बहुत दिनों तक बने रहते हैं। यही दशा व्यक्तिवाद की है जिसकी नीवँ भेदवाद पर है। अब तक कवि के 'व्यक्तित्व' के नाम पर भेद-प्रदर्शन होता था; अब उसकी कृति के व्यक्तित्व के नाम पर होने के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। अब तक किसी कविता में उसके कवि के व्यक्तित्व को प्रधान वस्तु कहने की चाल थी। पर अब 'कृति' ही प्रधान वस्तु कही जाने लगी है और उसकी सत्ता कवि और श्रोता (या पाठक) दोनों से स्वतंत्र ठहराई जाने लगी है। कवि के 'व्यक्तित्व' का परिहार यह कहकर किया जाने लगा है कि जैसे पुत्र का व्यक्तित्व पिता के व्यक्तित्व से अलग विकसित होने के लिये छोड़ दिया जाता है उसी प्रकार किसी काव्य-रचना का व्यक्तित्व उसके कवि के व्यक्तित्व से पृथक् और स्वतंत्र होना चाहिए। इस पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'व्यक्तिवाद' बना हुआ है, केवल उसने अपनी जगह बदल दी है। लोक से विशेषता और विचित्रता तो बनी रहने दी गई है, अंतर इतना ही पड़ा है कि अब तक उस विशेषता या विचित्रता को कवि की कहते थे, अब कृति की कहेंगे।

बात सुलझते सुलझते फिर उलझन में पड़ गई क्योंकि भेद-वाद का फंदा न छूट पाया। कवि और श्रोता दोनों पक्षों से 'व्यक्तित्व' को अलग हटाकर उसकी प्रतिष्ठा कृति में ले जाकर कर दी गई। विलायत की साहित्य-सरकार की इस नई कार्रवाई का मतलब यही हुआ कि किसी कविता का न तो कवि के हृदय के साथ सामंजस्य हो न श्रोता के हृदय के साथ। उसकी भाव-व्यंजना को दोनों अपनाएँ न, तटस्थ होकर तमाशे की तरह देखें।

इस मनोवृत्ति को 'कल्पना' और 'कला' इन दो शब्दों ने और भी दृढ़ कर रखा है। जब कविता केवल कल्पना का खेल समझी जायगी और भावुकता की [सेंटिमेंटैलिटी] (Sentimentality) कहकर उपेक्षा की जायगी तब काव्य का प्रकृत स्वरूप दृष्टि के सामने आने का साहस कैसे कर सकता है? जब कि 'कला' शब्द का इतना शोर है तब काव्य के पढ़ने-सुनने से उत्पन्न अनुभूति उससे अधिक गहरी, उससे अधिक मर्मस्पर्शिनी, कैसे समझी जा सकती है, जो किसी चित्र, इमारत बेलबूटे की नक्काशी आदि के सामने आने पर होती है? मेरा विश्वास तो यही है कि कविता या उसकी समीक्षा जब तक भेद-भाव का आधार हटाकर अभेद-भाव के आधार पर न प्रतिष्ठित होगी तब तक उसका स्वरूप इसी तरह झंझट और खींचतान में पड़ा रहेगा। अभेद-भाव की भूमि तैयार करने का नाम ही 'साधारणीकरण' है।

यह ठीक है कि प्रत्यक्ष वास्तविक अनुभूति से किसी काव्य के पठन-श्रवण से उत्पन्न रसानुभूति में एक बड़ी विशेषता होती है। यह विशेषता यह है कि इस दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् प्रस्तुत विषय को हम अपनी योगक्षेम वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते, निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं। इस मुक्त हृदय को व्यापक आत्मा का ही एक पक्ष समझना चाहिए। अब हमारा कहना यह है कि प्रत्यक्ष और वास्तविक अनुभूति (Actual experience) के समय भी कभी कभी हमारा हृदय मुक्त रहता है। अतः भावों की प्रत्यक्ष वास्तविक अनुभूति भी रसकोटि की हो सकती है और कभी कभी होती है।

अप्रस्तुत रूप-विधान

प्रस्तुत-अप्रस्तुत-भेद का निरूपण यह मानकर किया गया है कि किसी काव्य में जगत् या जीवन से संबंध रखनेवाली कोई न कोई वस्तु या तथ्य अवश्य होता है। उसी वस्तु या तथ्य के हृदय-ग्राह्य पक्ष का प्रत्यक्षीकरण तथा उसके प्रति जागरित हृदय की वृत्तियों का विवरण काव्य का लक्ष्य हुआ करता है। पर इधर कुछ दिनों से योरपीय समीक्षकों में से कुछ लोग, जैसे अभिव्यंजनावादी (Expressionists) काव्य में कोई 'वस्तु' या विषय होना स्वीकार नहीं करते। 'कला' शब्द की बढ़ती हुई पुकार के साथ स्वर मिलाने के लिये उन्होंने यह कहना आरंभ किया कि काव्य का कोई विषय या व्यंग्य वस्तु (या भाव) नहीं होता अर्थात् जिस रूप में कोई काव्यात्मक वाक्य हमारे सामने आता है उससे अलग कोई आधार-वस्तु ढूँढ़ना व्यर्थ है। उनकी इस उक्ति में सत्य का अंश केवल इतना ही है कि आधार-वस्तु या तथ्य का बोध रसानुभूति नहीं है; उसके मार्मिक पक्ष की अनुभूति का स्वरूप ही काव्यानुभूति तथा उस अनुभूति को उत्पन्न करनेवाला शब्द-विधान ही काव्य है। पर यह कहना कि काव्य में कोई आधार वस्तु या तथ्य की नीवँ होती ही नहीं, वह शून्य में स्थित रहता है, बैठकबाजी के सिवा और कुछ नहीं।

रसानुभूति में बोध-वृत्ति का उपादान बराबर रहता है। उसे हम अलग नहीं कर सकते। किसी वस्तु या तथ्य के मार्मिक पक्ष की प्रतीति या बोध लिए हुए ही सच्ची रसानुभूति होती है। वस्तु या तथ्य का मार्मिक पक्ष उस वस्तु या तथ्य से अलग कोई वस्तु नहीं होता, उसी के अंतर्भूत होता है। 'सत्' के भीतर ज्ञान का विषय भी रहता है, हृदय का भी। उसी सत् को कोई सिर्फ जानकर रह जाता है और कोई उसके समक्ष हृदय निकाल कर रखने लगता है। 'वह स्त्री मुसकिरा रही है' कोई तो यही जान कर रह जाता है और कोई अपने को सुधा-सिक्त आलोक-रेखा से संपृक्त या शुभ्र मधुधारा में मग्न बतलाता है। क्या कोई कह सकता है कि 'सुधा-सिक्त आलोक रेखा' या 'शुभ्र मधुधारा' ही सब कुछ है, स्त्री के मुसकान का काव्य-विधान में कोई योग नहीं ? यदि ऐसा माना जाय तो फिर कुछ इनी-गिनी प्रियदर्शन, सुंदर, भीषण, प्रकांड अथवा अद्भुत वस्तुओं की विचित्र और अलौकिक योजना मात्र ही काव्य कही जायगी जिसका प्रभाव उतना ही हो सकता है जितना कागज की फुलवाड़ी, सजावट के गुलदस्ते या सरकश के तमाशे का होता है। पर मै काव्य के प्रभाव को इससे कहीं अधिक गंभीर और अंतस्तलस्पर्शी मानता हूँ, उसे जीवन की एक शक्ति समझता हूँ।

शुद्ध सच्चे काव्य में दो पक्ष अवश्य रहते है—जगत् या जीवन का कोई तथ्य तथा उसके प्रति किसी प्रकार की अनुभूति। योरप के कुछ समीक्षक साहित्य-क्षेत्र में नई हवा—चाहे उस हवा के झोके में काव्य का प्रकृत स्वरूप ही क्यों न उड़ता दिखाई दे—बहाने के उद्योग में किस प्रकार इन दोनों को हवा बताने लगे थे यह उपर्युक्त विवरण से समझा जा सकता है। उक्ति या शब्द-विधान आधारभूत कोई विषय ही मानने की आवश्यकता नही

तब जगत् या जीवन का कोई तथ्य कहाँ रहा ? इसी प्रकार भावों की सच्ची और स्वाभाविक अनुभूति (Sentimentality) [सेंटीमेंटैलिटी] कहकर टाली गई और कलानुभूति उससे सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र अनुभूति बतलाई गई। मतलब यह कि जिस अनुभूति से मनुष्य हाथ पैर हिलाता है, जिस अनुभूति से शुभाशुभ कर्मों का प्रवर्त्तन होता है, जिस अनुभूति से मानवी प्रकृति का उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है वह इन कलाविदों के अनुसार काव्य के किसी उपयोग की नहीं। अब दूसरी कोटि की अनुभूति रही कौन ? वही जो कोई तमाशा, नकल, नक्काशी, बेलबूटे आदि देखने पर उत्पन्न होती है।

हमारा वक्तव्य यह है कि प्रकृत काव्य का सारा स्वरूप-विधान जगत् या जीवन की किसी वस्तु या तथ्य की ओर संकेत करता है। वही वस्तु या तथ्य कल्पना द्वारा उपस्थित काव्य-सामग्री को व्यवस्थित ढंग से संयोजित करके एक कृति का स्वरूप देता है। जब तक भीतर किसी वस्तु या तथ्य का ढांचा न होगा तब तक सुंदर से सुंदर संदर्भहीन रूप-समूह इमारत में लगनेवाले नक्काशीदार खंभों, पटरियों इत्यादि का पड़ा हुआ ढेर सा होगा। अतः काव्य में जगत् या जीवन की किसी वस्तु या तथ्य का होना, प्रस्तुत पक्ष का होना, अनिवार्य है। आध्यात्मिक कविता भी वही सच्ची होगी जो अव्यक्त की ओर संकेत करनेवाले किसी तथ्य के आधार पर होगी।

जब काव्य में कोई 'प्रस्तुत' अवयव होना आवश्यक ठहरा तब उसके अतिरिक्त और जो कुछ रूप-विधान होगा वह अप्रस्तुत होगा। पर इस अप्रस्तुत अवयव का होना अनिवार्य नहीं। कोरे वस्तु-व्यापार-वर्णन अथवा स्वभावोक्ति में अप्रस्तुत-विधान नहीं रहता, पर रसात्मकता रहती है। यदि प्रस्तुत तथ्य अर्थात्

उसके अंतर्भूत वस्तु, व्यापार मार्मिक है तो उनका ज्यों का त्यों चित्रण मात्र भी भाव-मग्न करनेवाला काव्य होता है।

हमें यहाँ अप्रस्तुत रूप-विधान पर कुछ विचार करना है जो काव्य में किसी न किसी वेश में, चाहे अलंकार रूप में, चाहे लक्षणा के रूप में, प्रायः रहता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह, भ्रांति, अपह्नुति, दीपक, अप्रस्तुतप्रशंसा इत्यादि सादृश्यमूलक अलंकारों के अतिरिक्त और अलंकारों में भी कुछ न कुछ अप्रस्तुत रूप-विधान मिलेगा। अब देखना यह है कि प्रस्तुत रूपों के साथ अप्रस्तुत रूपों की जो योजना की जाती है वह किस दृष्टि से, उसका प्रकृत उद्देश्य क्या होता है। साहित्य-ग्रंथों में उपमा, रूपक इत्यादि के निरूपण में अप्रस्तुत का आधार केवल सादृश्य या साधर्म्य ही लिखा पाया जाता है।

[1]विचार करने पर इन दोनों में प्रभाव-साम्य छिपा मिलेगा। सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है जो प्रस्तुतों के समान ही सौंदर्य, दीप्ति, कांति, कोमलता, प्रचंडता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता इत्यादि की भावना जगाते हैं। काव्य में बँधे चले आते हुए उपमान अधिकतर इसी प्रकार के हैं। केवल रूप-रंग, आकार या व्यापार को ऊपर ऊपर से देखकर या नाप-जोख कर, भावना पर उनका प्रभाव परखे बिना, वे नहीं रखे जाते थे। पीछे कवि-कर्म के बहुत कुछ श्रमसाध्य या अभ्यासगम्य होने के कारण जब कृत्रिमता आने लगी तब बहुत से उपमान केवल बाहरी नाप-जोख के अनुसार भी रखे जाने लगे। कटि की सूक्ष्मता दिखाने के लिये सिंहिनी और भिड़ सामने लाई जाने लगी।

---

१ [देखिए 'हिंदी-साहित्य' का इतिहास', प्रवर्धित संस्करण, संवत् १९९७, पृष्ठ ८०८ से।]

कहीं कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यंत अल्प या न रहने पर भी आभ्यंतर प्रभाव-साम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का संनिवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप में या प्रतीकवत् (Symbolic) होते हैं—जैसे, सुख, आनंद, प्रफुल्लता, यौवनकाल इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक उषा, प्रभात, मधुकाल; प्रिया के स्थान पर मुकुल; प्रेमी के स्थान पर मधुप; श्वेत या शुभ्र के स्थान पर कुंद; रजत; माधुर्य के स्थान पर मधु; दीप्तिमान् या कांतिमान् के स्थान पर स्वर्ण; विषाद या अवसाद के स्थान पर अंधकार, अँधेरी रात, संध्या की छाया, पतझड़; मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर झंझा, तूफान; भाव-तरंग के लिये झंकार; भाव-प्रवाह के लिये संगीत या मुरली का स्वर इत्यादि।

अप्रस्तुत किस प्रकार एकदेशीय, सूक्ष्म और धुँधले पर मर्मव्यंजक साम्य का धुँधला सा आधार लेकर खड़े किए जाते हैं, यह बात नीचे के कुछ उद्धरणों से स्पष्ट हो जाएगी—

(१) उठ उठ री लघु लघु लोल लहर।

करुणा की नव अँगड़ाई-सी, मलयानिल की परछाई-सी,
इस सूखे तट पर छहर छहर॥

(लहर = सरस कोमल भाव। सूखा तट = शुष्क जीवन। अप्रस्तुत या उपमान भी लाक्षणिक है।)

(२) गूढ़ कल्पना-सी कवियों की, अज्ञाता के विस्मय-सी
ऋषियों के गंभीर हृदय-सी, बच्चों के तुतले भय-सी।—'छाया।'

(३) गिरिवर के उर से उठ उठ कर,
उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर है झाँक रहे नीरव नभ पर।

(उठे हुए पेड़ों का साम्य मनुष्य के हृदय की उन उच्च आकांक्षाओं से जो लोक के परे जाती है।)

(४) वनमाला के गीतों-सा निर्जन मे बिखरा है मधुमास।

साम्य-भावना हमारे हृदय का प्रसार करनेवाली, शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के गूढ़-संबंध की धारणा बँधानेवाली, अत्यंत अपेक्षित मनोभूमि है, इसमें संदेह नहीं। पर यह सच्चा मार्मिक प्रभाव वहीं उत्पन्न करती है जहाँ यह प्राकृतिक वस्तु या व्यापार से प्राप्त सच्चे आभास के आधार पर खड़ी होती है। प्रकृति अपने अनंत रूपों और व्यापारों के द्वारा अनेक बातों की गूढ़ या अगूढ़ व्यंजना करती रहती है। इस व्यंजना को न परखकर या न ग्रहण करके जो साम्य-विधान होगा वह मनमाना आरोप मात्र होगा। इस अनंत विश्व महाकाव्य की व्यंजनाओं की परख के साथ जो साम्य-विधान होता है वही मार्मिक और उद्बोधक होता है। जैसे—

दुखदावा से नव अंकुर पाता जग जीवन का बन।
करुणार्द्र विश्व का गर्जन बरसाता नव जीवन कण।
खुल खुल नव इच्छाएँ फैलातीं जीवन के दल।

यह शैशव का सरल हास है, सहसा उर से है आ जाता।
यह ऊषा का नव विकास है, जो रज को है रजत बनाता।
यह लघु लहरों का विलास है, कलानाथ जिसमे खिंच आता॥

× × × ×

हँस पड़े कुसुमों मे छविमान, जहाँ जग मे पदचिह्न पुनीत।
वहीं सुख मे आँसू बन प्राण, ओस मे लुढ़क दमकते गीत॥

—गुंजन

मेरा अनुराग फैलने दो, नभ के अभिनव कलरव में।
जाकर सूनेपन के तम मे, बन किरन कभी आ जाना ॥
अखिल की लघुता आई बन, समय का सुंदर वातायन
देखने को अदृष्ट नर्त्तन।

—लहर

जल उठा स्नेह दीपक-सा, नवनीत हृदय था मेरा।
अब शेष धूमरेखा से, चित्रित कर रहा अँधेरा ॥

—आँसू

मनमाने आरोप, जिनका विधान प्रकृति के संकेत पर नहीं होता, हृदय के मर्मस्थल का स्पर्श नहीं करते, केवल वैचित्र्य का कुतूहल मात्र उत्पन्न करके रह जाते हैं। प्रकृति के वस्तु-व्यापारों पर मानुषी वृत्तियों के आरोप का बहुत अधिक चलन हो जाने से कहीं कहीं ये आरोप वस्तु-व्यापारों की प्रकृत व्यंजना से बहुत दूर जा पड़ते हें, जैसे—चाँदनी के इस वर्णन मे—

(१) जग के दुख दैन्य शयन पर यह रुग्णा जीवन-बाला।
पीली पड़, निर्बल कोमल, कृश देह-लता कुम्हलाई।
विवसना, लाज मे लिपटी; साँसो मे शून्य समाई ॥

चाँदनी अपने-आप इस प्रकार की भावना मन में नहीं जगाती। उसके संबंध में यह उद्भावना भी केवल स्त्री की सुंदर मुद्रा सामने खड़ी करती जान पड़ती है—

(२) नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद-हासिनि।
मृदु करतल पर शशिमुख धर नीरव अनिमिष एकाकिनि ॥

—आँसू

इसी प्रकार आँसुओं को 'नयनों के बाल' कहना भी व्यर्थ सा है। नीचे की जूठी प्याली भी (जो बहुत आया करती है)

किसी मैखाने से लाकर रखी जान पड़ती है—

(२) लहरों मे प्यास भरी है, है भँवर पात्र से खाली।
मानस का सब रस पीकर, लुढ़का दी तुमने प्याली॥

प्रकृति के नाना रूपों के सौंदर्य की भावना सदैव स्त्री-सौंदर्य का आरोप करके करना उक्त भावना की संकीर्णता सूचित करता है। कालिदास ने भी मेघदूत में निर्विंध्या और सिंधु नदियों में स्त्री-सौंदर्य की भावना की है[1] जिससे नदी और मेघ के प्रकृत संबंध की रमणीय व्यंजना होती है। ग्रीष्म में नदियाँ सूखती सूखती पतली हो जाती हैं और तपती रहती हैं। उन पर जब मेघ छाया करता है तब वे शीतल हो जाती हैं और उस छाया को अंक में धारण किए दिखाई देती हैं। वही मेघ बरसकर उनकी क्षीणता दूर करता है। दोनों के बीच इसी प्राकृतिक संबंध की व्यंजना ग्रहण करके कालिदास ने अप्रस्तुत-विधान किया है। पर सौंदर्य की भावना सर्वत्र स्त्री का चित्र चिपकाकर करना खेल सा हो जाता है। हिंदी की नई रंगत की कविता में उषा-सुंदरी के कपोलों की ललाई, रजनी के रत्नजटित केशकलाप, दीर्घनिःश्वास और अश्रुबिंदु तो रूढ़ हो ही गए हैं; किरन, लहर, चंद्रिका, छाया, तितली सब अप्सराएँ या परियाँ बनकर ही सामने आने पाती हैं। इसी तरह प्रकृति के नाना व्यापार भी चुंबन, आलिंगन, मधुग्रहण, मधुदान, कामिनी की क्रीड़ा इत्यादि में अधिकतर परिणत दिखाई देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति की नाना वस्तुओं और व्यापारों का अपना अपना अलग सौंदर्य भी है जो एक ही प्रकार की वस्तु या व्यापार के आरोप द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकता।

---

१ [पूर्व मेघ, ३०-३१ ।]

हिंदी की नई काव्य-धारा में साम्य पहले उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक ऐसे अलंकारों के बड़े बड़े साँचों के भीतर ही फैलाकर दिखाया जाता था। वह अब प्राय: थोड़े में या तो लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा झलका दिया जाता है अथवा कुछ प्रच्छन्न रूपकों में प्रतीयमान रहता है। इसी प्रकार किसी तथ्य या पूरे प्रसंग के लिये दृष्टांत, अर्थांतरन्यास आदि का सहारा न लेकर अब अन्योक्ति-पद्धति ही अधिक चलती है। यह बहुत ही परिष्कृत पद्धति है।

[1]अधिकतर अलंकारों का विधान सादृश्य के आधार पर होता है। सादृश्य की योजना दो दृष्टियों से की जाती है—स्वरूप-बोध के लिये और भाव तीव्र करने के लिये। कवि लोग सदृश वस्तुएँ भाव तीव्र करने के लिये ही अधिकतर लाया करते हैं। पर बाह्य करणों से अगोचर तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिये जहाँ सादृश्य का आश्रय लिया जाता है वहाँ कवि का लक्ष्य स्वरूप-बोध भी रहता है। भगवद्भक्तों की ज्ञानगाथा में सादृश्य की योजना दोनों दृष्टियों से रहती है। 'माया' को ठगिनी और काम, क्रोध आदि को बटपार, संसार को मायका और ईश्वर को पति रूप में दिखाकर बहुत दिनों से रमते साधु उपदेश देते आ रहे हैं। पर इन सदृश वस्तुओं की योजना से केवल स्वरूप-बोध ही नहीं होता, भावोत्तेजना भी प्राप्त होती है। बल्कि यों कहना चाहिए कि उत्तेजित भाव ही उन सदृश वस्तुओं की कल्पना कराता है। विरक्तों के हृदय में माया और काम, क्रोध आदि का भाव ही उस भय की ओर ध्यान ले जाता है जो ठगों और बटपारों से होता है। तात्पर्य यह कि स्वरूप-बोध के लिये भी काव्य में जो सदृश वस्तु लाई जाती है उसमें यदि भाव उत्तेजित करने की शक्ति भी हो तो काव्य

१ [देखिए जायसी-ग्रथावली, भूमिका, पृष्ठ १३५ से।]

के स्वरूप की प्रतिष्ठा हो जाती है। नाना राग-बंधनों से युक्त इस संसार के छूटने का दृश्य कैसा मर्मस्पर्शी है! भावुक हृदय में उसका क्षणिक साम्य मायके से स्वामी के घर जाने में दिखाई पड़ता है। बस इतनी ही झलक मिल ही सकती है। सदृश वस्तु के इस कथन द्वारा अगोचर आध्यात्मिक तथ्यों का कुछ स्पष्टीकरण भी हो जाता है और उनकी रुखाई भी दूर हो जाती है।

साहश्य की योजना में पहले यह देखना चाहिए कि जिस वस्तु, व्यापार या गुण के सदृश वस्तु, व्यापार या गुण सामने लाया जाता है वह ऐसा तो नहीं है जो किसी भाव—स्थायी या क्षणिक—का आलंवन या आलंबन का अंग हो। यदि प्रस्तुत वस्तु व्यापार आदि ऐसे हैं तो यह विचार करना चाहिए कि उनके सदृश अप्रस्तुत वस्तु या व्यापार भी उसी भाव के आलंवन हो सकते हैं या नहीं। यदि कवि द्वारा लाए हुए अप्रस्तुत वस्तु-व्यापार ऐसे हैं तो कविकर्म सिद्ध समझना चाहिए। उदाहरण के लिये रमणी के नेत्र, वीर का युद्धार्थ गमन और हृदय की कोमलता लीजिए। इन तीनों के वर्णन क्रमशः रतिभाव, उत्साह और श्रद्धा द्वारा प्रेरित समझे जायँगे और कवि का मुख्य उद्देश्य यह ठहरेगा कि वह श्रोता को भी इन भावों की रसात्मक अनुभूति कराए। अतः जब कवि कहता है कि नेत्र कमल के समान है, वीर सिंह के समान झपटता है और हृदय नवनीत के समान है तो ये सदृश वस्तुएँ सौंदर्य, वीरत्व और कोमल सुखदता की व्यंजना भी साथ ही साथ करेंगी। इनके स्थान पर यदि हम रसात्मकता का विचार न करके केवल नेत्र के आकार, झपटने की तेजी और प्रकृति की नरमी की मात्रा पर ही दृष्टि रखकर कहें कि 'नेत्र बड़ी कौड़ी या बादाम के समान है', 'वीर बिल्ली की तरह झपटता है' और 'हृदय सेमर के घूए के समान है' तो काव्योपयुक्त कभी न होगा। कवियों

की प्राचीन परंपरा में जो उपमान बँधे चले आ रहे हैं उनमें अधिकांश सौंदर्य आदि की अनुभूति के उत्तेजक होने के कारण रस में सहायक होते हैं। पर कुछ ऐसे भी है जो आकार आदि ही निर्दिष्ट करते हैं, सौंदर्य की अनुभूति अधिक करने में सहायक नहीं होते—जैसे जंघों की उपमा के लिये हाथी की सूँड़, नायिका की कटि की उपमा के लिये भिड़ या सिंहिनी की कमर इत्यादि। इनसे आकार के चढ़ाव-उतार और कटि की सूक्ष्मता भर का ज्ञान होता है, सौंदर्य की भावना नहीं उत्पन्न होती; क्योंकि न तो हाथी की सूँड़ में ही दांपत्य रति के अनुकूल अनुरंजनकारी सौंदर्य है और न भिड़ की कमर में ही। अतः रसात्मक प्रसंगों में इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि अप्रस्तुत (उपमान) भी उसी प्रकार के भाव के उत्तेजक हों प्रस्तुत जिस प्रकार के भाव का उत्तेजक हो।

उपर्युक्त कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि ऐसे प्रसंगों में पुरानी बँधी हुई उपमाएँ ही लाई जायँ, नई न लाई जायँ। 'अप्रसिद्धि' मात्र उपमा का कोई दोष नहीं, पर नई उपमाओं की सारी जिम्मेदारी कवि पर होती है। अतः रसात्मक प्रसंगो मे ऊपर लिखी बातो का ध्यान रखना आवश्यक है। जहाँ कोई रस स्फुट न भी हो वहाँ भी यह देख लेना चाहिए कि किसी पात्र के लिये जो उपमान लाया जाय वह उस भाव के अनुरूप हो जो कवि ने उस पात्र के संबंध मे अपने हृदय में प्रतिष्ठित किया है और पाठक के हृदय मे भी प्रतिष्ठित करना चाहता है। राम की सेवा करते हुए लक्ष्मण के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता है अतः उनकी सेवा का यह वर्णन जो गोस्वामीजी ने किया है कुछ खटकता है—

सेवत लषन सिया रघुबीरहि। जिमि अविवेकी पुरुप सरीरहि॥

इस दृष्टांत में लक्ष्मण का सादृश्य जो अविवेकी पुरुप से किया

गया है उससे सेवा का आधिक्य तो प्रकट होता है पर लक्ष्मण के प्रति प्रतिष्ठित भाव में व्याघात पड़ता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि लक्ष्मण का सादृश्य अविवेकी पुरुष के साथ कवि ने नहीं दिखाया है बल्कि लक्ष्मण के सेवा-कर्म का सादृश्य अविवेकी के सेवा-कर्म से दिखाया गया है। ठीक है, पर लक्ष्मण का कर्म श्लाघ्य है और अविवेकी का निंद्य, इसलिये ऐसे अप्रस्तुत कर्म को मेल में रखने से प्रस्तुत कर्म-संबंधिनी भावना में बाधा अवश्य पड़ती है। रसात्मक प्रसंगों में केवल किसी बात के आधिक्य या न्यूनता की हद से काम नहीं चलता। जो भावुक और रसज्ञ न होकर केवल अपनी दूर की पहुँच दिखाया चाहते हैं वे कभी कभी आधिक्य या न्यूनता की हद दिखाने में ही फँसकर भाव के प्रकृत स्वरूप को भूल जाते हैं। कोई आँखों के कोनों को कान तक पहुँचाता है, कोई नायिका को ब्रह्म के समान अगोचर और सूक्ष्म बताता है, कोई यार की कमर 'कहाँ है, किधर है' यही पता लगाने में रह जाता है। नायिका श्रृंगार का आलंबन होती है। उसके स्वरूप के संघटन में इस बात का ध्यान चाहिए कि उसकी रमणीयता बनी रहे। प्राचीन कवि जहाँ मृणाल की ओर संकेत करके सूक्ष्मता और सौंदर्य एक साथ दिखाते थे, वहाँ लोग या तो भिड़ की कमर सामने लाने लगे या कमर ही गायब करने लगे। चमत्कारवादी इसमें अद्भुत रस का आनंद मानने लगे। पर सोचने की बात है कि नायिका अद्भुत-रस का आलंबन है या श्रृंगार-रस का। श्रृंगार-रस के आलंबन में 'अद्भुत' केवल सौंदर्य का विशेषण हो सकता है। 'अद्भुत सौंदर्य' हम दिखा सकते हैं पर सौंदर्य को गायब नहीं कर सकते।

[1]किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अंतर्वृत्ति जब उस भाव के

---

१ [देखिए सूरदास, पृष्ठ १८९ से।]

पोषक स्वरूप गढ़कर या काट-छाँटकर सामने रखने लगती है तब हम उसे सच्ची कवि-कल्पना कह सकते हैं। यों ही सिरपच्ची करके—बिना किसी भाव में मग्न हुए—कुछ अनोखे रूप खड़े करना या कुछ को कुछ कहने लगना या तो बावलापन है, या दिमागी कसरत; सच्चे कवि की कल्पना नहीं। वास्तव के अतिरिक्त या वास्तव के स्थान पर जो रूप सामने लाए गए हों उनके संबंध में यह देखना चाहिए कि वे किसी भाव की उमंग में उस भाव को सँभालनेवाले या बढ़ानेवाले होकर आ खड़े हुए हैं या यों ही तमाशा दिखाने के लिये—कुतूहल उत्पन्न करने के लिये—जबरदस्ती पकड़ कर लाए गए हैं। यदि ऐसे रूपों की तह में उनके प्रवर्तक या प्रेषक भाव का पता लग जाय तो समझिए कि कवि के हृदय का पता लग गया और वे रूप हृदय-प्रेरित हुए। अँगरेज कवि कालरिज ने जिसने कवि-कल्पना पर अच्छा विवेचन किया है अपनी एक कविता* में ऐसे रूपावरण को आनंद-स्वरूप आत्मा से निकला हुआ कहा है, जिसके प्रभाव से जीवन में रोचकता रहती है। जब तक यह रूपावरण (कल्पना का) जीवन के साथ लगा चलता है तब तक दुःख की परिस्थिति में भी आनंद-स्वप्न नहीं टूटता। पर धीरे धीरे यह दिव्य आवरण हट जाता है और मन गिरने लगता है। भावोद्रेक और कल्पना में इतना घनिष्ठ संबंध है कि एक काव्य-मीमांसक ने दोनों को एक ही कहना ठीक समझकर कह दिया है—'कल्पना आनंद है' (Imagination is joy)।†

---

*Dejection Ode, 4th April 1802.

†G. W. Mackael's Lectures on Poetry

सच्चे कवियों की कल्पना की बात जाने दीजिए, साधारण व्यवहार में भी लोग जोश में आकर कल्पना का जो व्यवहार बराबर किया करते हैं वह भी किसी पहाड़ को 'शिशु' और 'पांडव' कहनेवाले कवियों के व्यवहार से कहीं उचित होता है। किसी निष्ठुर कर्म करनेवाले को यदि कोई 'हत्यारा' कह देता है तो वह सच्ची कल्पना का उपयोग करता है; क्योंकि विरक्ति या घृणा के अतिरेक से प्रेरित होकर ही उसकी अंतर्वृत्ति हत्यारे का रूप सामने करती है, जिससे भाव की मात्रा के अनुरूप आलंबन खड़ा हो जाता है। 'हत्यारा' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग ही विरक्ति की अधिकता का व्यंजक है। उसके स्थान पर यदि कोई उसे 'बकरा' कहे, तो या तो किसी भाव की व्यंजना न होगी या किसी ऐसे भाव की होगी जो प्रस्तुत विषय के मेल में नहीं। कहलानेवाला कोई भाव अवश्य चाहिए और उस भाव को प्रस्तुत वस्तु के अनुरूप होना चाहिए। भारी मूर्ख को लोग जो 'गदहा' कहते है वह इसी लिये कि 'मूर्ख' कहने से उनका जी नहीं भरता—उनके हृदय में उपहास अथवा तिरस्कार का जो भाव रहता है उसकी व्यंजना नहीं होती।

कहने की आवश्यकता नही कि अलंकार-विधान में उपयुक्त उपमान लाने मे कल्पना ही काम करती है। जहाँ वस्तु, गुण या क्रिया के पृथक् पृथक् साम्य पर ही कवि की दृष्टि रहती है वहाँ वह उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का सहारा लेता है और जहाँ व्यापार-समष्टि या पूर्ण प्रसंग का साम्य अपेक्षित होता है वहाँ दृष्टांत, अर्थांतरन्यास और अन्योक्ति का। उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट है कि प्रस्तुत के मेल में जो अप्रस्तुत रखा जाय—चाहे वह वस्तु, गुण या क्रिया हो अथवा व्यापार-समष्टि—वह प्राकृतिक और चित्ताकर्षक हो तथा उसी प्रकार का भाव जगानेवाला

हो जिस प्रकार का प्रस्तुत। व्यापार-समष्टि के समन्वय में कवि की हृदयता का जिस पूर्णता के साथ हमें दर्शन होता है उस पूर्णता के साथ वस्तु, क्रिया आदि के पृथक् पृथक् समन्वय में नहीं। इसी से सुंदर अन्योक्तियाँ इतनी मर्म-स्पर्शिणी होती हैं। चुना हुआ अप्रस्तुत व्यापार जितना ही प्राकृतिक होगा—जितना ही अधिक मनुष्य जाति के आदिम जीवन में सुलभ दृश्यों के अंतर्गत होगा—उतना ही रमणीय और अनुरंजनकारी होगा। कोई गोपिका या राधा स्वप्न में श्रीकृष्ण के दर्शनों का सुख प्राप्त कर रही थी कि उसको नींद उचट गई। इस व्यापार के मेल में कैसा प्रकृति-व्यापी और गूढ़ व्यापार सूर ने रखा है, देखिए—

हमको सपनेहू मे सोच।
जा दिन तें बिछुरे नंदनंदन ता दिन तें यह पोच।
मनौ गोपाल आए मेरे घर, हँसि करि भुजा गही।
कहा करौं वैरिनि भइ निदिया, निमिष न और रही।
ज्यो चकई प्रतिबिंब देखि कै आनंदी पिय जानि।
सूर पवन मिस निठुर विधाता चपल कियो जल आनि॥

स्वप्न में अपने ही मानस में किसी का रूप देखने और जल में अपना ही प्रतिबिंब देखने का कैसा गूढ़ और सुंदर साम्य है। इसके उपरांत पवन द्वारा प्रशांत जल के हिल जाने से छाया का मिट जाना कैसा भूतव्यापी व्यापार स्वप्नभंग के मेल में लाया गया है!

इसी प्रकार प्राकृतिक चित्रों द्वारा सूर ने कई जगह पूरे प्रसंग की व्यंजना की है। जैसे, गोपियाँ मथुरा से कुछ ही दूर पर पड़ी विरह से तड़फड़ा रही हैं, पर कृष्ण राज-सुख के आनंद में फूले नहीं समा रहे हैं। यह बात वे इस चित्र द्वारा कहते हैं—

सागर-कूल मीन तरफत है, हुलसि होत जल पीन।

जैसा ऊपर कहा गया है, जिसे निर्माण करनेवाली—सृष्टि खड़ी करनेवाली—कल्पना कहते हैं उसकी पूर्णता किसी एक प्रस्तुत वस्तु के लिये कोई दूसरी अप्रस्तुत वस्तु—जो कि प्रायः कवि-परंपरा में प्रसिद्ध हुआ करती है—रख देने में उतनी नहीं दिखाई पड़ती जितनी किसी एक पूर्ण प्रसंग के मेल का कोई दूसरा प्रसंग—जिसमें अनेक प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की नवीन योजना रहती है—रखने में देखी जाती है। सूरदास जी ने कल्पना की इस पूर्णता का परिचय जगह जगह दिया है। कबीर, जायसी आदि कुछ रहस्यवादी कवियों ने इस जीवन का मार्मिक स्वरूप तथा परोक्ष जगत् की कुछ धुँधली सी झलक दिखाने के लिये इसी अन्योक्ति की पद्धति का अवलंबन किया है; जैसे—

हंसा प्यारे ! सरवर तजि कहँ जाय ?
जेहि सरवर बिच मोती चुनते, बहुबिधि केलि कराय।
सूख ताल, पुरइनि जल छोड़े, कमल गयो कुँभिलाय।
कह कबीर जो अब की बिछुरै, बहुरि मिलै कब आय॥

रहस्यवादी कवियों के समान भक्त सूर की कल्पना भी कभी कभी इस लोक का अतिक्रमण करके आदर्श लोक की ओर संकेत करने लगती है; जैसे—

चकई री! चलि चरन-सरोवर जहाँ न प्रेम-वियोग।
निसि दिन राम राम की वर्षा, भय रुज नहिं दुख सोग।
जहाँ सनक से मीन, हंस शिव, मुनि-जन नख-रवि-प्रभा-प्रकास।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि डर, गुंजत निगम सुवास।
जेहि सर सुभग मुक्ति मुक्ता-फल, सुकृत अमृत रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम! इहाँ कहा रहि कीजै?॥

पर एक व्यक्तिवादी सगुणोपासक कवि की उक्ति होने के

कारण इस चित्र में वह रहस्यमयी अव्यक्तता या धुँधलापन नहीं है। कवि अपनी भावना को स्पष्ट और अधिक व्यक्त करने के लिये जगह जगह आकुल दिखाई पड़ता है। इसी से अन्योक्ति का मार्ग छोड़ जगह जगह उसने रूपक का आश्रय लिया है। इसी अन्योक्ति का दीनदयाल गिरिजी ने अच्छा निर्वाह किया है—

चल चकई! वा सर विपय जहँ नहि रैन विछोह।
रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंस-संदोह।
सुहृद हंस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाके।
भोगत सुख-अंबोह, मोह-दुख होय न ताके।
बरनै दीनदयाल भाग्य बिनु जाय न सकई।
पिय-मिलाप नित रहै ताहि सर चल तू चकई॥

[1]कहने की आवश्यकता नहीं कि ऊपर जो बात कही गई है वह ऐसी वस्तुओं के संबंध में कही गई है जिनका वर्णन कवि किसी भाव में मग्न होकर, उसी भाव में मग्न करने के लिये, करता है—जैसे, नायिका का वर्णन, प्राकृतिक शोभा का वर्णन, वीर कर्म का वर्णन इत्यादि इत्यादि। जहाँ वस्तुएँ ऐसी होती है कि उनके संबंध मे अलग कोई वेगयुक्त भाव (जैसे रति, भय, हर्ष, घृणा, श्रद्धा इत्यादि) नहीं होता, केवल उनके रूप, गुण, क्रिया आदि का ही गोचर स्पष्टीकरण करना या अधिकता न्यूनता की ही भावना तीव्र करना अपेक्षित होता है—उनके द्वारा किसी भाव की अनुभूति की वृद्धि करना नही—वहाँ आकृति, गुण आदि का निरूपण और आधिक्य या न्यूनता का बोध करानेवाली सदृश वस्तुओं से ही प्रयोजन रहता है। हाथियों के डीलडौल, तलवार

१ [देखिए जायसी-ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ १३९ से।]

की धार, किसी कर्म की कठिनता, खाई की चौड़ाई इत्यादि के वर्णन में केवल इस प्रकार का सादृश्य अपेक्षित रहता है जैसे पहाड़ के समान हाथी, बाल की तरह धार, पहाड़ सा काम, नदी सी खाई इत्यादि।

आधिक्य या न्यूनता सूचित करने के लिये ऊहात्मक या वस्तु-व्यंजनात्मक शैली का विधान कवियों में तीन प्रकार का देखा जाता है—

(१) ऊहा की आधार-भूत वस्तु असत्य अर्थात् कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध है।

(२) ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य या स्वतः-संभवी है और किसी प्रकार की कल्पना नहीं की गई है।

(३) ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य है पर उसके हेतु की कल्पना की गई है।

इनमें से प्रथम प्रकार के उदाहरण वे हैं जिन्हें बिहारी ने विरह-ताप के वर्णन में दिया है—जैसे, पड़ोसियों को जाड़े की रात में भी बेचैन करनेवाला, या बोतल में भरे गुलाबजल को सुखा डालनेवाला ताप; दूसरे प्रकार का उदाहरण एक स्थल पर जायसी ने बहुत अच्छा दिया है, पर वह विरह-ताप के वर्णन में नहीं है, काल की दीर्घता के वर्णन में है। आठ वर्ष तक अलाउद्दीन चित्तौरगढ़ घेरे रहा। इस बात को एक बार तो कवि ने साधारण इतिवृत्त के रूप में कहा, पर उससे वह गोचर प्रत्यक्षीकरण न हो सका जिसका प्रयत्न काव्य करता है। आठ वर्ष के दीर्घत्व के अनुमान के लिये फिर उसने यह दृश्य आधार सामने रखा—

आइ साह अमराव जो लाए। फरे, झरे पै गढ़ नहि पाए॥

सच पूछिए तो वस्तु-व्यंजनात्मक या ऊहात्मक पद्धति का इसी रूप में अवलंबन सब से अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इसमें अनुमान का आधार सत्य या स्वतःसंभवी है। जायसी अनुमान

या ऊहा के आधार के लिये ऐसी वस्तु सामने लाए हैं जिसका स्वरूप प्राकृतिक है और जिससे सामान्यतः सब लोग परिचित होते हैं। इसी प्रकार एक गीत में एक वियोगिनी नायिका कहती है कि "मेरा प्रिय दरवाजे पर जो नीम का पेड़ लगा गया था वह बढ़कर अब फूल रहा है, पर प्रिय न लौटा"। आधार के सत्य और प्राकृतिक स्वरूप के कारण इस उक्ति से कितना भोलापन बरस रहा है!

सुकुमारता की अत्युक्तियाँ अस्वाभाविकता के कारण, केवल ऊहा द्वारा मात्रा या परिमाण के आधिक्य की व्यंजना के कारण, कोई रमणीय चित्र सामने नहीं लातीं। प्राचीन कवियों के 'शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्य्य' का जो प्रभाव हृदय पर पड़ता है वह खरोंट और छालेवाले सौकुमार्य का नहीं। कहीं कहीं गुण की अवस्थिति मात्र का दृश्य जितना मनोरम होता है उतना उस गुण के कारण उत्पन्न दशांतर का चित्र नहीं। जैसे, नायिका के ओठ की ललाई का वर्णन करते करते यदि कोई 'तद्‌गुण' अलंकार की झोंक में यह कह डाले कि जब वह नायिका पीने के लिये पानी ओठों से लगाती है तब वह खून हो जाता है तो यह दृश्य कभी रुचिकर नहीं लग सकता। ईंगुर, बिंबा आदि सामने रखकर उस लाली की मनोहर भावना उत्पन्न कर देना ही काफी समझना चाहिए। उस लाली के कारण क्या क्या बातें पैदा हो सकती हैं इसका हिसाब-किताब बैठाना जरूरी नहीं।

इसी प्रकार की विरसता-पूर्ण अत्युक्ति ग्रीवा की कोमलता और स्वच्छता के इस वर्णन में भी है—

पुनि तेहि ठाँव परीं तिनि रेखा। घूँट जो पीक लीक सब देखा॥

इस वर्णन से तो चिड़ियों के अंडे से तुरंत फूटकर निकले हुए बच्चे का चित्र सामने आता है। वस्तु या गुण का परिमाण अत्यंत अधिक बढ़ाने से ही सर्वत्र सरसता नहीं आती। इस प्रकार की

वस्तु-व्यंग्य उक्तियों की भरमार उस काल से आरंभ हुई जब से 'ध्वनि' का आग्रह बहुत बढ़ा, और सब प्रकार की व्यंजनाएँ उत्तम काव्य समझी जाने लगीं। पर वस्तु-व्यंजनाएँ ऊहा द्वारा ही की और समझी जाती हैं, सहृदयता से उनका नित्य संबंध नहीं होता।

तीसरे प्रकार का विधान भी प्रथम प्रकार के विधान से अधिक उपयुक्त होता है। इसमें हेतूत्प्रेक्षा का सहारा लिया जाता है जिसमें 'अप्रस्तुत' वस्तुओं का गृहीत दृश्य वास्तविक होता है, केवल उसका हेतु कल्पित होता है। हेतु परोक्ष हुआ करता है। इससे उसकी अतथ्यता सामने आकर प्रतीति में बाधा डालती नहीं जान पड़ती। सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा का व्यवहार अधिक मिलता है। इनमें से हेतूत्प्रेक्षा अलंकार उत्कर्ष की व्यंजना के लिये बड़ा शक्तिशाली होता है। लोक में कार्य और कारण एक साथ बहुत ही कम देखे जाते हैं। प्रायः कारण परोक्ष ही रहता है। अतः रूप या क्रिया यदि अपने प्रकृत रूप में हमारे सामने रख दी गई तो वह उस प्रभाव का प्रमाण-स्वरूप लगने लगती है जिसे कवि खूब बढ़ाकर दिखाया चाहता है और हम इस बात की छानबीन में नहीं पड़ने जाते कि हेतु ठीक है या नहीं।

भारतीय काव्य-पद्धति में उपमान चाहे उदासीन हो, पर भाव के विरोधी कभी नहीं होते। 'भाव' से मेरा अर्थ वही है जो साहित्य में लिया जाता है। 'भाव' का अभिप्राय साहित्य में तात्पर्य-बोध मात्र नहीं बल्कि वह वेगयुक्त और जटिल अवस्था-विशेष है जिसमें शरीर-वृत्ति और मनोवृत्ति दोनों का योग रहता है। क्रोध को ही लीजिए। उसके स्वरूप के अंतर्गत अपनी हानि या अपमान की बात का तात्पर्य-बोध, उग्र वचन और कर्म की प्रवृत्ति का वेग तथा त्योरी चढ़ना, आँखें लाल होना, हाथ उठना ये सब बातें रहती हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से इन सब के समष्टि-

विधान का नाम क्रोध का भाव है। रौद्ररस के प्रसंग में कवि लोग जो उपमान लाते है वे भी संतापदायक या उग्र होते है, जैसे अग्नि। क्रोध से रक्तवर्ण नेत्रों की उपमा जब कोई कवि देगा तब अंगार आदि की देगा, रक्त कमल या बंधूक-पुष्प की नहीं। इसी प्रकार शृंगार रस में रक्त, मांस, फफोले, हड्डी आदि का वीभत्स दृश्य सामने आना अरुचिकर प्रतीत होता है। पर जहाँ केवल 'तात्पर्य' के उत्कर्ष का ध्यान प्रधान रहेगा—खयाल की बारीकी या बलंदपरवाजी पर ही नजर रहेगी—वहाँ भाव के स्वरूप का उतना विचार न रह जायगा। फारसी की शायरी मे ही विप्रलंभ शृंगार के अंतर्गत ऐसे वीभत्स दृश्य प्रायः लाए जाते है।

यदि कवि सच्चा है, शेष सृष्टि के साथ उसके हृदय का पूर्ण सामंजस्य है, उसमें सृष्टि-व्यापिनी सहृदयता है तो उसके सादृश्य-विधान में एक बात और लक्षित होगी। वह जिस सदृश वस्तु या व्यापार की ओर ध्यान ले जायगा कहीं कहीं उससे मनुष्य को और प्राकृतिक पदार्थों के साथ अपने संबंध की बड़ी सच्ची अनुभूति होगी। विरह-ताप से झुलसी और सूखी हुई नागमती को जब प्रिय के आगमन का आभास मिलता है तब उसकी दशा कैसी होती है—

जस भुइँ दहि असाढ़ पलुहाई। परहि बूँद औ सोंध बसाई॥
ओहि भाँति पलुही सुख बारी। उठी करिल नइ कोप सँवारी॥

इसमें मनुष्य देखता है कि जिस प्रकार संताप और आह्लाद के चिह्न मेरे शरीर मे दिखाई पड़ते है वैसे ही पेड़-पौधों के भी। इस प्रकार उनके साथ अपने संबंध की अनुभूति का उदय उसके हृदय में होता है। ऐसी अनुभूति द्वारा मानव-हृदय का प्रसार करने में जो कवि समर्थ हो वह धन्य है। 'शरीर पनपना' आदि लाक्षणिक प्रयोग जो बोलचाल में आ गए है वे ऐसे ही कवियों की कृपा से प्राप्त हुए है।

'सांग रूपक' के गुण-दोष का भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। यह तो मानना ही पड़ेगा कि एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आरोप सादृश्य और साधर्म्य के आधार पर ही होता है। अधिकतर देखा जाता है कि 'निरंग रूपक' में तो सादृश्य और साधर्म्य का ध्यान रहता है पर सांग और परंपरित में इनका पूरा निर्वाह नहीं होता और जल्दी हो भी नहीं सकता। दो में से एक का भी पूरा निर्वाह हो जाय तो बड़ी बात है, दोनों का एक साथ निर्वाह तो बहुत कम देखा जाता है। सादृश्य से हमारा अभिप्राय बिंब-प्रतिबिंब रूप और साधर्म्य से वस्तु-प्रतिवस्तु धर्म है। साहित्य-दर्पणकार का यह उदाहरण लेकर विचार कीजिए—

"रावण-रूप अवर्षण से क्लांत देवता-रूप सस्य को इस प्रकार वाणी-रूप अमृत-जल से सींच वह कृष्णरूप-मेघ अंतर्हित हो गया।"[1]

इस उदाहरण में रावण और अवर्षण में रूप-सादृश्य नहीं है; केवल साधर्म्य है। इसी प्रकार देवता और सस्य में तथा वाणी और जल में कोई रूप-सादृश्य नहीं है, साधर्म्य मात्र है। पर विष्णु और काले मेघ मे सादृश्य और साधर्म्य दोनो हैं—विष्णु का स्वरूप भी नील जलद का सा है और धर्म भी उसी के समान लोकानंद-प्रदान करता है। पर सांग रूपक में कहीं कहीं तो केवल अप्रस्तुत (उपमान) दृश्य को किसी प्रकार बढ़ाकर पूरा करने का ही ध्यान कवियों को रहता है। वे यह नहीं देखने जाते कि एक एक अंग या ब्योरे में किसी प्रकार का सादृश्य या साधर्म्य है अथवा नहीं। विनय-पत्रिका के 'सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी' वाले पद में रूपक के अंगों की योजना अधिकतर इसी प्रकार की है।

---

१ [रावणावग्रहक्लांतमिति वागमृतेन सः।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥—दशम परिच्छेद।]

यद्यपि साहित्य के आचार्यों ने साम्य से कहे हुए विरोधी रस या भाव को (विभाव आदि को भी) दोषाधायक नहीं माना है, पर इस प्रकार के आरोपों से रस की प्रतीति में व्याघात अवश्य पड़ता है, वाग्वैदग्ध्य द्वारा मनोरंजन चाहे कुछ हो जाय। काव्य में विंब-स्थापना (Imagery) प्रधान वस्तु है। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों में यह पूर्णता को प्राप्त है। अँगरेजी कवि शेली इसके लिये प्रसिद्ध है। भाषा के दो पक्ष होते हैं—एक सांकेतिक (Symbolic) और दूसरा विंबाधायक (Presentative)। एक में तो नियत संकेत द्वारा अर्थ-बोध मात्र हो जाता है, दूसरे में वस्तु का विंब या चित्र अंतःकरण में उपस्थित होता है। वर्णनों में सच्चे कवि द्वितीय पक्ष का अवलंबन करते हैं। वे वर्णन इस ढंग पर करते हैं कि विंब-ग्रहण हो, अतः रसात्मक वर्णनों में यह आवश्यक है कि ऐसी वस्तुओं का विंब-ग्रहण कराया जाय, ऐसी वस्तुएँ सामने लाई जायँ, जो प्रस्तुत रस के अनुकूल हों, उसकी प्रतीति में बाधक न हों। सादृश्य और साधर्म्य के आधार पर आरोप द्वारा भी जो वस्तुएँ लाई जायँ वे भी ऐसी ही होनी चाहिए। वीररस की अनुभूति के समय कुच, तरिवन, सिंदूर आदि सामने लाना या शृंगाररस की अनुभूति के अवसर पर मस्त हाथी, भाले, बरछे, सामने रखना रसानुभूति में सहायक कदापि नहीं।

[1]हम पहले कह आए हैं कि भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी कभी सहायक होनेवाली युक्ति ही अलंकार है। अतः अलंकारों की परीक्षा इसी दृष्टि से करनी चाहिए कि वे कहाँ तक उक्त प्रकार से सहायक हैं। यदि किसी वर्णन में उनसे इस प्रकार की कोई सहायता नहीं पहुँचती है, तो वे काव्यालंकार नहीं, भार

१ [मिलाइए गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ १६१ से।]

मात्र है। यह ठीक है कि वाक्य की कुछ विलक्षणता—जैसे श्लेष और यमक—द्वारा श्रोता या पाठक का ध्यान आकर्षित करने के लिये भी अलंकार की थोड़ी बहुत योजना होती है, पर उसे बहुत ही गौण समझना चाहिए। काव्य की प्रक्रिया के भीतर ऊपर कही बातों में से किसी एक में भी जिससे कई एक में एक साथ सहायता पहुँचती हैं, उसे उत्तम कहेंगे।

अलंकार के स्वरूप की ओर ध्यान देते ही इस बात का पता चल जाता है कि वह कथन की एक युक्ति या वर्णनशैली मात्र है। यह शैली सर्वत्र काव्यालंकार नहीं कहला सकती। उपमा को ही लीजिए जिसका आधार होता है सादृश्य। यदि कहीं सादृश्य-योजना का उद्देश्य बोध कराना मात्र है तो वह काव्यालंकार नहीं। 'नीलगाय गाय के सदृश होती है' इसे कोई अलंकार नहीं कहेगा। इसी प्रकार 'एकरूप तुम भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम तें नहिं मारेउँ सोऊ॥' में भ्रम अलंकार नहीं है। केवल 'वस्तुत्व' या 'प्रमेयत्व' जिसमें हो, वह अलंकार नहीं।* अलंकार में रमणीयता होनी चाहिए। चमत्कार न कहकर रमणीयता हम इसलिये कहते हैं कि चमत्कार के अंतर्गत केवल भाव, रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष ही नहीं, शब्द-कौतुक और अलंकार-सामग्री की विलक्षणता भी ली जाती है। जैसे, बादल के स्तूपाकार टुकड़े के ऊपर निकले हुए चंद्रमा को देख यदि कोई कहे कि 'मानो ऊँट की पीठ पर घंटा रखा हुआ है' तो कुछ लोग अलंकार-सामग्री की इस विलक्षणता पर—कवि की इस दूर की सूझ पर—ही वाह वाह करने लगेंगे। पर इस उत्प्रेक्षा से ऊपर लिखे प्रयोजनों में से एक भी सिद्ध नहीं होता। बादल के ऊपर निकलते हुए चंद्रमा को देख

* साधर्म्यं कविसमयप्रसिद्धं कातिमत्त्वादि न तु वस्तुत्वप्रमेयत्वादि ग्राह्यम्।
—विद्याधर।

हृदय मे स्वभावतः सौंदर्य की भावना उठती है। पर ऊँट पर रखा हुआ घंटा कोई ऐसा सुंदर दृश्य नहीं जिसकी योजना से सौंदर्य के अनुभव में कुछ और वृद्धि हो। भावानुभव में वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलंकार की रमणीयता है।

[1] हम ऊपर कह आए हैं कि अलंकार वर्णन करने की अनेक प्रकार की चमत्कारपूर्ण शैलियाँ है। इन्हें काव्यों से चुनकर प्राचीन आचार्यों ने नाम रखे और लक्षण बनाए। ये शैलियाँ न जाने कितनी हो सकती है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जितने अलंकारो के नाम ग्रंथों में मिलते है उतने ही अलंकार हो सकते है। बीच बीच में नए आचार्य नए अलंकार बढ़ाते आए है; जैसे, 'विकल्प' अलंकार को अलंकार-सर्वस्वकार राजानक रुय्यक ने ही निकाला था। इसलिये यह न समझना चाहिए कि काव्य-रचना में उतनी ही चमत्कारपूर्ण शैलियो का समावेश हो सकता है जितनी नाम रखकर गिना दी गई है। बहुत से स्थलों पर कवि ऐसी शैली का अवलंबन कर जायगा जिसके प्रभाव या चमत्कार की ओर लोगों का ध्यान न गया होगा और जिसका नाम न रखा गया होगा; यदि रखा भी गया होगा तो किसी दूसरे देश के रीति-ग्रंथ में। उदाहरण के लिये यह पद्य लीजिए—

कँवलहि बिरह-बिथा जस बाढ़ी। केसर-बरन पीर हिय गाढी॥

'केसर-बरन पीर हिय गाढ़ी' इस पंक्ति का अर्थ अन्वय-भेद से तीन ढंग से हो सकता है—(१) कमल केसर-वर्ण (पीला) हो रहा है, हृदय में गाढ़ी पीर है। (२) गाढ़ी पीर से हृदय केसर-वर्ण हो रहा है। (३) हृदय मे केसर-वर्ण गाढ़ी पीर है। इनमें से पहला अर्थ तो ठीक नहीं होगा, क्योंकि कवि की उक्ति का आधार कमल के केवल हृदय का पीला होना है, सारे कमल का

१ [मिलाइए जायसी-ग्रंथावली, भूमिका पृष्ठ १५५ से।]

पीला होना नहीं। दूसरा अर्थ अलबत सीधा और ठीक जँचता है, पर अन्वय इस प्रकार खींचतान कर करना पड़ता है—'गाढ़ी पीर हिय केसर बरन'। तीसरा अर्थ यदि लेते हैं तो 'पीर' का एक असाधारण विशेषण 'केसर-बरन' रखना पड़ता है। इस दशा में 'केसर-वर्ण' का लक्षणा से अर्थ करना होगा 'केसर-वर्ण करनेवाली', 'पीला करनेवाली' और पीड़ा का अतिशय लक्षणा का प्रयोजन होगा। पर योरपीय साहित्य में इस प्रकार की शैली अलंकार-रूप से स्वीकृत है और हाईपेलेज (Hypallage) कहलाती है। इसमें कोई गुण प्रकृत गुणी से हटाकर दूसरी वस्तु में आरोपित कर दिया जाता है; जैसे यहाँ पीलेपन का गुण 'हृदय' से हटाकर 'पीड़ा' पर आरोपित किया गया है।

एक उदाहरण और लीजिए—'जस भुइँ दहि असाढ़ पलुहाई'। इस वाक्य में 'पलुहाई' की संगति के लिये 'भुइँ' शब्द का अर्थ उस पर के घास पौधे अर्थात् आधार के स्थान पर आधेय लक्षणा से लेना पड़ता है। बोलचाल में भी इस प्रकार के रूढ़ प्रयोग आते हैं, जैसे 'इन दोनों घरों में झगड़ा है'। योरपीय अलंकार-शास्त्र में आधेय के स्थान पर आधार के कथन की प्रणाली को मेटानिमी (Metonymy) अलंकार कहेंगे। इसी प्रकार अंगी के स्थान पर अंग, व्यक्ति के स्थान पर जाति आदि का लाक्षणिक प्रयोग सिनेकडोक (Synecdoche) अलंकार कहा जाता है। सारांश यह कि चमत्कार-प्रणालियाँ बहुत सी हो सकती हैं।

[1]रूप, गुण और क्रिया तीनों का अनुभव तीव्र करने के लिये अधिकतर सादृश्य-मूलक उपमा आदि अलंकारों का ही प्रयोग होता है। रूप का अनुभव प्रधानतः चार प्रकार का होता है—अनुरंजक, भयावह, आश्चर्यकारक या घृणोत्पादक। इस प्रकार के

१ [मिलाइए गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ १६५ से।]

अनुभव में सहायक होने के लिये आवश्यक यह है कि प्रस्तुत वस्तु और आलंकारिक वस्तु में बिंब-प्रतिबिंब भाव हो अर्थात् अप्रस्तुत (कवि द्वारा लाई हुई) वस्तु प्रस्तुत वस्तु से रूप-रंग आदि में मिलती-जुलती हो और उससे उसी भाव के उत्पन्न होने की संभावना हो जो प्रस्तुत वस्तु से उत्पन्न हो रहा हो।

जहाँ वस्तु या व्यापार अगोचर होता है, वहाँ अलंकार उसके अनुभव में सहायता गोचर रूप प्रदान करके करता है; अर्थात् वह पहले गोचर-प्रत्यक्षीकरण करके बोध-वृत्ति की कुछ सहायता करता है, तब फिर रागात्मिका वृत्ति को उत्तेजित करता है। जैसे, यदि कोई आनेवाली विपत्ति या अनिष्ट का कुछ भी ध्यान न करके अपने रंग में मस्त रहता हो और उसको देखकर कहे कि— 'चरै हरित तृन बलि-पसु जैसे' तो इस कथन से उसकी दशा का प्रत्यक्षीकरण कुछ अधिक हो जायगा जिससे उसमें भय का संचार पहले से कुछ अधिक हो सकता है।

क्रिया और गुण का अनुभव तीव्र कराने के लिये प्रस्तुत-अप्रस्तुत वस्तु के बीच या तो 'अनुगामी' (एक ही) धर्म होता है, या 'वस्तु-प्रतिवस्तु' या उपचरित। सीधी भाषा में यों कह सकते हैं कि अलंकार के लिये लाई हुई वस्तु और प्रसंग-प्राप्त वस्तु का धर्म या तो एक ही होता है, या अलग अलग कहे जाने पर भी दोनों के धर्म समान होते हैं; अथवा एक के धर्म का उपचार दूसरे पर किया जाता है; जैसे, उसका हृदय पत्थर के समान है।

अब गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार पर आइए और देखिए कि इस 'व्यतिरेक' की सहायता से संतों का स्वभाव किस सफाई के साथ औरों से अलग करके दिखाया गया है—

संत-हृदय नवनीत-समाना। कहा कविन पै कहइ न जाना॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। पर-दुख द्रवै सुसंत पुनीता॥

संतों और असंतों के बीच के भेद को थोड़ा कहते कहते 'व्याघात' द्वारा कितना बड़ा कह डाला है, जरा यह भी देखिए—

बंदौं संत असज्जन चरना। दुख-प्रद उभय, बीच कछु बरना॥
मिलत एक दारुन दुख देहीं। बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं॥

इस इतने बड़े भेद को थोड़ा कहनेवाले का हृदय कितना बड़ा होगा!

बहुत से स्थल ऐसे भी होते हैं, जहाँ यह निश्चय करने में गड़बड़ी हो सकती है कि यहाँ अलंकार है या भाव। इसकी संभावना वहीं होगी जहाँ स्मरण, संदेह और भ्रांति का वर्णन होगा। स्मरण का यह उदाहरण लीजिए—

बीच बास करि जमुनहि आए। निरखि नीर लोचन जल छाए॥

इसे न विशुद्ध अलंकार ही कह सकते हैं, न भाव ही। उपमेय और उपमान (राम के शरीर, यमुना के जल) के सादृश्य की ओर ध्यान देते हैं तो स्मरण अलंकार ठहरता है; और जब अश्रु सात्त्विक की ओर देखते हैं तो स्मरण संचारी भाव निश्चित होता है। सच पूछिए तो इसमें दोनों हैं। पर इसमें संदेह नहीं कि भाव का उद्रेक अत्यंत स्वाभाविक है और यहाँ वही प्रधान है, जैसा कि 'लोचन जल छाए' से प्रकट होता है। विशुद्ध अलंकार तो वहीं कहा जा सकता है जहाँ सदृश वस्तु लाने में कवि का उद्देश्य केवल रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष दिखाना रहता है। अलंकार का स्मरण प्रायः वास्तविक नहीं होता; रूप, गुण आदि के उत्कर्ष-प्रदर्शन का एक कौशल मात्र होता है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि स्मरण भाव केवल सदृश वस्तु से ही नहीं होता, संबंधी वस्तु से भी होता है। शुद्ध 'स्मरण' भाव का यह उदाहरण बहुत ही अच्छा है—

जननी निरखति बान धनुहियाँ।
बार बार उर नयननि लावति प्रभु जू की ललित पनहियाँ॥

अब भ्रम का एक ऐसा ही उदाहरण लीजिए। सीताजी अपने जलने के लिये अशोक से अंगार माँग रही थीं। इतने में हनुमान् ने पेड़ के ऊपर से राम की 'मनोहर मुद्रिका' गिराई और—

जानि असोक-अँगार सीय हरपि उठि कर गह्यो।

इसी प्रकार जहाँ रामचरितमानस के उत्तरकांड में अयोध्या की विभूति का वर्णन है, वहाँ कहा गया है—

मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं।

इन दोनों उदाहरणों में 'भ्रम' अलंकार नहीं है। अलंकार में भ्रम के विषय की विशेपता होती है, भ्रांत की नहीं। भ्रांत की विशेपता में तो पागलों का भ्रम भी अलंकार हो जायगा। सीता का जो भ्रम है, वह विरह की विह्वलता के कारण और बंदरों का जो भ्रम है, वह पशुत्व के कारण। इस प्रकार का भ्रम अलंकार नहीं, यह बात आचार्यों ने स्पष्ट कह दी है—

भमंप्रहारकृत-चित्तविक्षेप-विरहादिकृतोन्मादादिजन्यभ्रान्तेश्च नालंकारत्वम्।
—उद्योतकार।

संदेह के संबंध में भी यही बात समझिए जो ऊपर कही गई है। तीनों में सादृश्य आवश्यक है। संदेह तो अलंकार तभी होगा जब उसको लाने का मुख्य उद्देश्य रूप, गुण, क्रिया का उत्कर्ष (अपकर्ष भी) सूचित करना होगा। ऐसा संदेह वास्तविक भी हो सकता है, पर वहाँ अलंकारत्व कुछ दबा सा रहेगा। जैसे, 'की मैनाक कि खग-पति होई' में जो संदेह है, वह कवि के प्रबंधकौशल के कारण वास्तविक भी है तथा आकार की दीर्घता और वेग की तीव्रता भी सूचित करता है। पर नीचे लिखा उदाहरण यदि लीजिए तो उसमें कुछ भी अलंकारत्व नहीं है—

की तुम हरिदासन महँ कोई। मोरे हृदय प्रीति अति होई॥
की तुम राम दीन-अनुरागी। आए मोहिं करन बड़-भागी॥

शब्द-शक्ति

शब्द-शक्ति

(१)

काव्य का लक्ष्य—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति सुख से, अल्प बुद्धिवालों को भी। परिपक्व बुद्धिवाले फिर काव्यानुशीलन क्यों करें? धर्म के लिये वेद-शास्त्र का ही अनुशीलन क्यों न करें? मीठी दवा से यदि काम हो तो कड़वी क्यों करें?[1]

काव्य का लक्षण—

(१) काव्यप्रकाश—दोषरहित, गुणसहित और अलंकृत, कभी कभी अनलंकृत भी शब्द तथा अर्थ को काव्य कहते हैं।[2]

लक्षण सदोष—दोष काव्य को केवल परिमित करता है, उसके तत्त्व का तिरस्कार नहीं। अनेक सदोष पद्य उत्तम काव्य में परिगणित होते हैं, जैसे 'न्यक्कारो ह्ययमेव'[3] इति। स्वयं लक्षण-

---

१ [चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥—साहित्यदर्पण १।२।]

२ [तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।
—काव्यप्रकाश १, सूत्र १।]

३ [न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।

कार ने दोषों से युक्त होते हुए भी इसे ध्वनि के कारण उत्तम काव्य स्वीकृत किया है। इसलिये लक्षण में अव्याप्ति है। स्वरूप-लक्षण में विशेषणत्व का समावेश अनावश्यक है। किसी दोष के कारण रत्न को रत्न कहना थोड़े ही छोड़ देते हैं।

'शब्दार्थौ' का विशेषण 'सगुणौ' भी असमीचीन है, क्योंकि 'गुण' का संबंध रस से है, शब्द और अर्थ से नहीं जैसा कि लक्षणकार ने स्वयं स्वीकार किया है। यह कहना भी ठीक नहीं कि शब्द और अर्थ से, जो रस के व्यंजक हुआ करते हैं, गुणों का अप्रत्यक्ष संबंध (उपचार) होता है। शब्द और अर्थ मे रस नहीं होता, इसलिये उनमें गुण भी नहीं होते। रस और गुण का संबंध अन्वय-व्यतिरेक-संबंध है।[1] लक्षण में अलंकार शब्द का उल्लेख भी अनावश्यक है। अलंकार तो केवल पहले से विद्यमान रस का उत्कर्ष करता है। संक्षेप मे गुण और अलंकार दोनों उत्कर्षकारक होते है, स्वरूपघटक नहीं।

(२) काव्यस्यात्मा ध्वनिः—ध्वनिकार।

धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिका विलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥

—हनुमन्नाटक, १४–६। काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास (दोषप्रकरण) मे 'अविमृष्ट विधेयांशत्व दोष' मे उद्धृत।

१ [अन्वय संबंध—यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम्—किसी के होने पर किसी का होना। व्यतिरेक संबंध—यदभावे यदभावः—किसी के न होने पर किसी का न होना। जैसे दंड और चक्र के रहने पर घड़े का बनना। यहाँ दंड और चक्र का घडे के बनने से अन्वय संबंध है। साथ ही दंड और चक्र के अभाव मे घड़ा नहीं बन सकता यह दंड और चक्र का उसके बनने से व्यतिरेक संबंध है।]

इस लक्षण में भी अतिव्याप्ति है। क्योंकि अलंकार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि पर भी यह घटित होता है। इसमें अव्याप्ति दोष भी है। यदि ध्वनि से ध्वनिकार का तात्पर्य रसादि-ध्वनि है तो इसमें कोई दोष संभाव्य नहीं जान पड़ता। यदि ऐसा ही है तो स्वयंदूती की यह उक्ति, 'खबर उड़ानी है बटोही द्वैक मारे की' आदि, को काव्य कैसे कहेंगे।[1] क्योंकि यहाँ रति भाव व्यंग्य है।

जैसा कि प्राचीन आचार्यों ने स्वीकार किया है काव्य का सार या आत्मा रस ही है। 'कृत्याकृत्य-प्रवृत्ति-निवृत्ति-उपदेशः'[2] में 'उपदेश' शब्द का प्रयोजन विधि या आज्ञा नहीं है, अपितु कांता-संमित उपदेश है। ('उपदेश' शब्द का व्यवहार ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि काव्य प्रवृत्तिनिवृत्त्युत्पादक होता है)। इस संबंध में अग्निपुराण का कथन यह है—'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।' व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट भी कहते हैं—'काव्यस्यात्मनि संगिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः।' ध्वनिकार का भी कथन है कि 'नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपदलाभः'।

प्रश्न—यदि केवल सरस रचना ही काव्य है तो रघुवंश आदि के नीरस अंश काव्यत्व कैसे प्राप्त करेंगे।

उत्तर—नीरस पद्य भी सरस पद्यों के वैशिष्ट्य से उसी प्रकार रसवान् हो जाते है जिस प्रकार किसी पद्य के नीरस शब्द पूरे पद्य के रस से सरस हो जाया करते हैं। जिन पद्यों में केवल अलंकार और गुण ही होते हैं वे भी कभी कभी काव्यबंध के साम्य के कारण काव्य कहे ही जाते हैं।

---

१ [उदयनाथ कवींद्र कृत कवित्त का एक चरण; पूरे कवित्त के लिये देखिए 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', सं० १९९१, पृष्ठ २००।]

२ [साहित्यदर्पण, पृष्ठ २१।]

(३) 'रीतिरात्मा काव्यस्य'—वामन।

यह भी आपत्तिजनक है, क्योंकि रीति केवल संघटना है, शरीर का अंगविन्यास है। इसलिये यह भी आत्मा नहीं हो सकती।

विश्वनाथ द्वारा प्रस्तावित लक्षण है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'। इसके अंतर्गत रसाभास, भाव और भावाभास भी हैं। जगन्नाथ पंडितराज द्वारा उपस्थापित लक्षण—'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' का विचार किया जाय।

[२]

आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदसमूह वाक्य कहलाता है।[1]

आकांक्षा = अर्थज्ञान की पूर्ति की जिज्ञासा।[2]

योग्यता = बुद्धि-संमत संबंध।

आसत्ति = अव्यवधान।

आकांक्षा के विना 'हाथी, मनुष्य, घोड़ा'—यह पद समूह भी वाक्य हो जायगा।

योग्यता—'पदार्थों के परस्पर संबंध में बाध का न होना।'[3] यदि कोई कहे 'आग से सींचता है' तो यह वाक्य न होगा।

आसत्ति के लिये अपेक्षित होता है अर्थ के विचार से परस्पर संबद्ध दो पदों के बीच समय और पदार्थ दोनों का अव्यवधान।[4]

---

१ [वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। साहित्य०, २–१।]

२ [आकांक्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः। स च श्रोतुर्जिज्ञासारूपः—वही, पृ० ३०।]

३ [योग्यता पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः—वही।]

४ [आसत्ति बुद्ध्यविच्छेदः—वही।]

'कुत्ते को पीया मारा पानी' पदसमूह वाक्य नहीं हो सकता। क्योंकि 'पीया' पद 'कुत्ते को' और 'मारा' पदों के बीच व्यवधान उपस्थित करता है। इसी प्रकार एक शब्द प्रातःकाल कहा जाय और दूसरा सांयकाल तो दोनों से वाक्य न बन सकेगा।

महावाक्य—परस्पर संबद्ध अनेक वाक्यो का समूह महावाक्य कहलाता है; उदाहरणार्थ, रामायण, रघुवंश इत्यादि।

अर्थ तीन प्रकार का होता है—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। और इन अर्थों का बोध करानेवाली शक्तियाँ क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना कहलाती है।

अभिधा

अभिधा—शब्द के मुख्य अर्थ का बोध (संकेतसंग्रह) करानेवाली शक्ति। 'संकेत' प्रथम और प्रमुख अर्थ को कहते हैं। इस शक्ति की बौद्धिक प्रक्रिया का नाम शक्तिग्रह या संकेतग्रह है।

संकेतग्रह—संकेतग्रह कई प्रकार से होता है—निरीक्षण और अभ्यास से, जैसे बच्चे में; प्रसंग से, उपदेश से इत्यादि इत्यादि। शब्द चार प्रकार के होते है—जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्द या द्रव्यशब्द। इन शब्दों का बोध अभिधा-शक्ति से होता है। जातिशब्द किसी व्यक्ति का सर्वसामान्य नाम होता है जो जाति के द्वारा कहा जाता है। उदाहरणार्थ 'गो' शब्द से शक्तिग्रह के द्वारा व्यक्ति का गोत्व जाति में बोध होता है। सर्वसामान्य नामों में जाति का शक्तिग्रह होता है, व्यक्ति का नहीं। यदि संकेतग्रह व्यक्तियों का माना जाय तो या तो किसी जाति के सभी स्थानों और सभी समयो में होनेवाले सभी व्यक्तियों का पृथक रूप मे एक साथ उसी समय बोध होगा या केवल एक

विशेष व्यक्ति का। पहली स्थिति आनंत्य-दोष के कारण अग्राह्य है, क्योंकि किसी जाति के सभी व्यक्तियों के समुदाय का एक ही स्थान और एक ही समय में उपस्थित होना असंभव है। यदि सर्वसामान्य नाम को हम एक व्यक्ति का संकेत मानें तो किसी जाति के प्रत्येक व्यक्ति के लिये पृथक् नाम की आवश्यकता होगी। यदि यह माना जाय कि एक व्यक्ति के शक्तिग्रह के वैशिष्ट्य से जाति के अन्य सभी व्यक्तियों का बोध बिना किसी शक्तिग्रह के हो जायगा तो यह कथन ठीक न होगा। क्योंकि शक्तिग्रह के बिना कोई प्रमा (सत्यज्ञान) की प्रतीति नहीं हो सकती। इसलिये दूसरा तर्क भी व्यभिचार-दोष के कारण असिद्ध हो जाता है। यदि एक व्यक्ति का संकेत करनेवाले शब्द से जाति के अन्य सभी व्यक्तियों का बोध हो तो 'गो' शब्द से घोड़ा, हाथी इत्यादि का बोध होने में कोई बाधा न रह जायगी। यही व्यभिचार-दोष है।[1]

[पश्चिम के प्राचीन तर्कशास्त्रियों के विष्वक् सिद्धांत—डाक्ट्रिन ऑव् युनिवर्सल्स—से इसे मिलाइए। आभासवाद (नॉमिनलिज्म), यथार्थवाद (रियलिज्म) और प्रमावाद। (कॉन्सेप्चुअलिज्म)—इन तीन सिद्धांतों में से लेखक यथार्थवादियों के मत को परिष्कृत रूप से ग्रहण करता जान पड़ता है। इस विवाद को मनोविज्ञान के क्षेत्र में पहुँचाकर छोड़ दिया गया है। क्योंकि मनोविज्ञान दो प्रकार की बौद्धिक प्रक्रिया स्वीकार करता है। अर्थमात्र का बोध और बिंबग्रहण। भाषाविज्ञान भी भाषा के दो पक्ष स्वीकार करता है—सांकेतिक और बिंबाधायक।]

---

१ [देखिए साहित्यदर्पण, पृष्ठ ३३ से ३५ तक।]

लक्षणा

मुख्यार्थ का बाध होने पर (देखिए 'योग्यता') रूढ़ि के कारण या किसी प्रयोजन के लिये मुख्यार्थ से संबद्ध अन्य अर्थ का ज्ञान जिस शक्ति के द्वारा होता है वह लक्षणा है। अन्य अर्थ के बोध के कारण हैं—अन्वयानुपपत्ति (अन्वय का अभाव) और मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ का संबंध। इसलिये अन्य का तात्पर्य एकदम असंबद्ध नहीं है, क्योंकि उपादान-लक्षणा में लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ भी लगा रहता है। लक्षणा के लिये तीन शर्तें होती है—(१) मुख्यार्थ का बाध, (२) मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से संबंध, (३) रूढ़ि या प्रयोजन। ये तीनों लक्षणा के हेतु है। 'पंजाब वीर है' और 'गाँव पानी [गंगा] में बसा है' ये क्रमशः रूढ़ि और प्रयोजन के उदाहरण हैं। दूसरे उदाहरण में लक्षणा का प्रयोजन है शैत्य और पावनत्व। ये दोनों व्यंग्य हैं। लक्षणा का हेतु सदा या तो कोई प्रयोजन होता है या कोई रूढ़ि।

विशेष

'बाध' पद का अर्थ ठीक ठीक समझ लेना चाहिए। यों तो इसका तात्पर्य योग्यता का अभाव (उक्ति की पदावली में तर्क-सिद्ध संबंध का अभाव) है, किंतु विशेष परिस्थिति में इस पद से कथन की अनुपपत्ति का अभाव भी समझना चाहिए (चाहे वह तर्क से ठीक ही क्यों न हो)। यह बात निम्नलिखित उदाहरण से बहुत स्पष्ट है—'आपने बड़ा उपकार किया' इत्यादि। इसमें वाक्यगत लक्षणा कही जाती है। मेरे मत से यहाँ वाक्यगत लक्षणा नहीं, व्यंजना है। यह उदाहरण लक्षणा का उदाहरण हो सकता है, यदि इस वाक्य के पहले 'आपने मेरा घर ले लिया' इत्यादि कहा जाय।

काव्यप्रकाश में दिए रूढ़ि के उदाहरण का खंडन—

उदाहरण है—'कर्म में कुशल'।[1] मम्मट 'कुशल' का 'व्युत्पत्ति-निमित्त' अर्थ बतलाते हैं और उसे वाच्यार्थ या मुख्यार्थ मानते हैं। पर इस प्रसंग में जिस अर्थ का विचार होना चाहिए वह लोकस्वीकृत अर्थात् 'प्रवृत्तिनिमित्त' ही ठहरता है। यदि ऐसा न होगा तो कोई 'गो' पद में भी लक्षणा मान सकता है (गो=जो चले)[2]।

लक्षणा दो प्रकार की होती है। उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा।

उपादान-लक्षणा—वाक्यार्थ में अंगरूप से अन्वित मुख्यार्थ जहाँ अन्य अर्थ का आक्षेप कराता है वहाँ मुख्यार्थ के भी बने रहने के कारण उपादान-लक्षणा कहलाती है। (इसे अजहत्स्वार्था-वृत्ति भी कहते हैं) जैसे—श्वेत दौड़ा, भाले घुसते हैं।

उदाहरण—

रूढ़ि में उपादान-लक्षणा—काले ने काटा।
प्रयोजन में „ „ =लाल पगड़ी आई, सब भागे।
दूसरे उदाहरण में व्यंग्य प्रयोजन है आतंकातिशय।

विशेष—

उपादान-लक्षणा में हमें यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि 'अंगरूप से अन्वित' का तात्पर्य क्या है। अर्थ अर्थात् उस पदार्थ या वस्तु का अन्वय होता है जो पद के द्वारा कही जाती है, उस पद का नहीं। उदाहरण के लिये—'लाल पगड़ी' पदार्थ 'लाल पगड़ीवाले सिपाही' पदार्थ में अंगरूप से उपस्थित

१ ['कर्मणि कुशलः'—काव्यप्रकाश, पृष्ठ ४२।]
२ [मिलाइए साहित्यदर्पण, द्वितीय परिच्छेद।]

है। किंतु 'इस घर से बड़ी आशा है' इस उदाहरण में यद्यपि 'घर के लोग' में 'घर' पद उपस्थित है तथापि 'घर' पदार्थ का उससे कोई प्रयोजन नहीं।

लक्षण-लक्षणा—जहाँ किसी शब्द का मुख्यार्थ अपने स्वरूप का समर्पण करके अन्य या लक्ष्य अर्थ का उपलक्षण मात्र बन जाय वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है। जैसे—'पंजाब वीर है'। और 'गंगा पर घर है' (जहत्स्वार्थावृत्ति)।

सूचना—उपादान में मुख्यार्थ का अन्वय अंगरूप से—लक्ष्यार्थ के साथ होता है पर लक्षण-लक्षणा में नहीं।

उदाहरण—

रूढ़ि में लक्षण-लक्षणा—इस घर से बड़ी आशा है।

प्रयोजन में ,, ,, —आपका गाँव बिल्कुल पानी में बसा है।

विशेष—

प्रयोजनवती लक्षणा रूढ़ि भी हो सकती है। इसलिये तीसरा भेद भी होना चाहिए। रूढ़ि-प्रयोजनवती लक्षणा आवश्यक जान पड़ती है। जैसे इन मुहावरों में—'सिर पर क्यों खड़े हो'। 'वह उसके चंगुल में है'। ये इसके विशिष्ट उदाहरण है।

कभी कभी लक्ष्यार्थ एकदम विपरीत अर्थ के रूप में होता है। जैसे जब कोई किसी के द्वारा किए गए अपकार का वर्णन करते हुए इस प्रकार संबोधित करता है—'आपने बड़ा उपकार किया, सज्जनता की हद कर दी।'

लक्ष्यार्थ—अपकार और दुर्जनता।

व्यंग्यार्थ—उनका (अपकार और दुर्जनता का) आतिशय्य।

अब प्रश्न होता है कि उस स्थिति में जब कि किए गए अपकार

का कथन शब्दों द्वारा न होगा केवल दोनों व्यक्तियों के द्वारा मन ही मन समझ लिया जायगा तब क्या लक्षणा होगी ?

लक्षणा के अन्य भेद—

सारोपा और साध्यवसाना—ये साम्य (आरोप और अध्यवसान) पर आश्रित है।

आरोप—उपमेय का उपमान के साथ इस प्रकार अभेद कथन कि उपमेय भी बना रहे, निगीर्ण या आच्छादित न हो। उदाहरणार्थ—'यह बालक सिंह है'।

अध्यवसान—उपमेय को हटाकर अभेद ज्ञान द्वारा उपमान को उपस्थित करना। जैसे, 'एक सिंह मैदान में आया'। जिसमें आरोप हो वह सारोपा और जिसमें अध्यवसान हो वह साध्यवसाना लक्षणा है।

उदाहरण—

रूढ़ि में सारोपा उपादान-लक्षणा—('अश्वः श्वेतो धावति, यह उदाहरण हिंदी मे न चल सकेगा।) जैसे 'गूदड़साईं'। इस अर्थ में उक्त पद का व्यवहार 'रूढ़ि' है। लक्ष्यार्थ मे 'गूदड़' का वाच्यार्थ भी गृहीत है। इसलिये उपादान है। 'साईं' पर मुख्यार्थ (अनिगीर्ण स्वरूप) का बिना त्याग किए 'गूदड़' का आरोप है। इसलिये सारोपा है।

प्रयोजन से सारोपा उपादान-लक्षणा—'यह आम गूदा ही गूदा है'। ('एते कुन्ताः प्रविशन्ति' हिंदी में अच्छा उदाहरण न होगा)।

रूढ़ि में सारोपा लक्षण-लक्षणा—'अरब लोग लड़ाके थे'। (अरब=अरब देशवासी)। अरब शब्द अरब के निवासियों का उपलक्षण है। 'अरब' [देश] और 'लोग' [देशवासी] का अभेद होने से सारोपा है।

प्रयोजन से सारोपा लक्षण-लक्षणा—'घृत आयु है', 'जल जीवन है', 'वह मनुष्य हमारा दहना हाथ है' इत्यादि, इत्यादि। इन उदाहरणों में आयु, जीवन और हाथ ने अपने मुख्यार्थ का त्याग कर दिया है और इनका प्रयोग केवल उपलक्षण के रूप में हुआ है। अतः लक्षण-लक्षणा है। घृत, जल और मनुष्य के साथ क्रमशः आयु, जीवन और हाथ का अभेद होने से आरोप है। 'वह गौ आदमी है' उदाहरण सादृश्य पर आश्रित है।

सूचना—

सारोपा लक्षणा रूपकालंकार का बीज होती है।

लक्षणा के आधार कई प्रकार के संबंध होते है जैसे, कार्य-कारण-संबंध, अवयवावयवि-संबंध इत्यादि।[1] 'कमर में बूता' अवयवावयवि-संबंध का उदाहरण है।

साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा—'घृत आयु है'—कार्य-कारण-संबंध का उदाहरण है। 'वह पूरा बढ़ई है'—तात्कर्म्य-संबंध का उदाहरण हैं। 'चरणों की कृपा से' में अवयवावयवि-संबंध है। इत्यादि इत्यादि।

रूढ़ि मे साध्यवसाना उपादान-लक्षणा—'काले ने काटा।'

प्रयोजन में ,, ,, ,, —'भाले पिल पड़े', 'लाल पगड़ी आ पहुँची'।

रूढ़ि में साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा—'पंजाब वीर है।'

प्रयोजन में ,, ,, ,, —'उसका घर पानी में है'।

---

१ [अभिधेयेन संबंधात्सादृश्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पंचधा मता ॥
—अभिधावृत्तिमातृका, पृष्ठ १७।]

लक्षणा के अन्य भेद—

जो सादृश्य के आधार पर नहीं होती वह 'शुद्धा'। जो सादृश्य के आधार पर होती है वह 'गौणी'।

सूचना—

सादृश्य के अतिरिक्त अन्य संबंधों के आधार पर 'शुद्धा' होती है, जैसे कार्य-कारण-संबंध, अंगांगिभाव-संबंध इत्यादि। 'गौणी' का आधार उपचार अर्थात् बलात्कृत अभेद होता है। उपचार=भेद-प्रतीतिस्थगन। उपचार के लिये दो वस्तुओं को अत्यंत भिन्न होना चाहिए।[1]

रूढ़ि में गौणी सारोपा उपादान-लक्षणा—('एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि' उदाहरण पर भी वही आपत्ति हो सकती है जो 'कर्मणि कुशलः' के संबंध मे की गई है; क्योंकि यहाँ 'तैलानि' का व्युत्पत्ति-निमित्तक अर्थ गृहीत किया जाता है।)

क्या 'एते राजकुमारा गच्छन्ति' उपादान-लक्षणा का उदाहरण हो सकता है। उपादान-लक्षणा में वाच्यार्थ का उपादान लाक्षणिक पद मे होना चाहिए। यहाँ लक्षणा 'राजकुमारा' (राजकुमारों से पद में मिलते-जुलते लोगों) मे है 'एते' में नहीं।[2]

प्रयोजन में गौणी सारोपा उपादान लक्षणा—'सब नवाब ही तो जा रहे हैं, किसको बतावें।'

---

१ [अत्यन्तविशकलितयोः शब्दयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदस्थगनप्रतीतिमात्रम्।—साहित्यदर्पण, द्वितीय परिच्छेद, पृ० ४७।]

२ ['साहित्यदर्पण' मे 'एते राजकुमारा गच्छन्ति' प्रयोजनवती उपादान गौणी सारोपा लक्षणा के उदाहरण मे उद्धृत किया गया है। इसका अर्थ यह है कि किसी मंडली मे कुछ राजकुमार जा रहे हैं और कुछ उन्हीं

रूढ़ि मे सारोपा गौणी लक्षण-लक्षणा—'गौड़ेंद्र कंटक को राजा निकाल रहा है'। 'कंटक' शब्द सादृश्य द्वारा 'कष्टदायी तुच्छ शत्रु' का उपलक्षण है; कंटक प्रायः शत्रु के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

प्रयोजन में सारोपा गौणी लक्षण-लक्षणा—'वह आदमी बैल है; वह गऊ आदमी है'।

रूढ़ि में गौणी साध्यवसाना उपादान-लक्षणा—'कत्थड़ गूदड़ सोते हैं, दुशालेवाले रोते हैं'।

प्रयोजन में गौणी साध्यवसाना उपादान-लक्षणा—'एक हड्डी की ठठरी सामने आकर खड़ी हुई'।

रूढ़ि मे गौणी साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा—'कंटक दूर करो'।

प्रयोजन में गौणी साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा—'एक बैल के मुँह क्या लगते हो'।

प्रयोजनवती लक्षणा के अन्य भेद—गूढ़ और अगूढ़ व्यंग्य के अनुसार प्रयोजनवती लक्षणा के गूढ़ और अगूढ़ दो भेद होते हैं।

से मिलते-जुलते अन्य कुमार जा रहे है। कहनेवाला कहता है कि 'ये राजकुमार जा रहे है'। इससे यहाँ पर जो लोग राजकुमार नहीं है वे भी राजकुमार कहे जा रहे हैं। सादृश्य के कारण ही वे राजकुमार कहे गए हैं। उन पर राजकुमार होने का आरोप 'ये' (एते) शब्द से है। उनका राजकुमारों के समान मान्य होना प्रयोजन है। यहाँ 'राजकुमार' शब्द का मुख्यार्थ तो 'राजा का कुमार' है, पर उसका लक्ष्यार्थ 'राजकुमार-सदृश अन्य कुमार' है। इस लक्ष्यार्थ मे मुख्यार्थ 'राजकुमार' का भी उपादान है। इसी से उपादान-लक्षणा है। शुक्लजी का कहना है कि 'राजकुमाराः' पद ही लाक्षणिक है, 'एते' (ये) नहीं। वस्तुतः 'एते' आरोप को बतलाता है। इसलिये 'एते राजकुमाराः' सब का सब लाक्षणिक है।]

'आपने बड़ा उपकार किया' इत्यादि 'गूढ़' का उदाहरण है। 'जगह कोतवाली सिखाती है' 'अगूढ़' का उदाहरण है। क्योंकि 'सिखाती है' का लक्ष्यार्थ 'सरलता से समझ में आ जाती है' है।

<u>प्रयोजनवती के अन्य भेद</u>—धर्मिगत और धर्मगत। यदि व्यंग्य-प्रयोजन फलवती[1] लक्षणा में धर्मी से संबद्ध होता है तो धर्मिगत लक्षणा होती है, जैसे, "मैं कठोर-हृदय 'राम' हूँ सब कुछ सह लूँगा"। यहाँ 'राम' शब्द का मुख्यार्थ अनुपयुक्त है। लक्षणा से यहाँ इसका अर्थ 'दुःख-सहनशील' होता है। यहाँ 'राम' (धर्मी) की अतिशयता व्यंग्य है। 'पानी में घर बसा है' उदाहरण में शैत्य (धर्म) की अतिशयता व्यंग्य है अतः लक्षणा धर्मगत है।

विशेप आवश्यक नहीं

<u>उपसंहार</u>—

लक्षणा के अनेक प्रकार के भेदों का निरूपण विभिन्न दृष्टियों से किया गया है जो परस्पर स्वच्छंद हैं। उनके मिश्रण से इसके ८० भेद हो सकते हैं। मुख्य भेद ये हैं—

(१) रूढ़ा और प्रयोजनवती।
(२) उपादान और लक्षण-लक्षणा।
(३) सारोपा और साध्यवसाना।
(४) गौणी और शुद्धा।

व्यंजना

व्यंजना शक्ति ऐसे अर्थ को बतलाती है जो अभिधा, लक्षणा या तात्पर्यवृत्ति द्वारा उपलब्ध नहीं होता। व्यंजना व्यापार का नाम व्यनन, गमन और प्रत्यायन भी है। यह शक्ति या तो शब्द, अर्थ और प्रत्ययगत होती है या उपसर्गगत। ('दफ्तर

१ [प्रयोजनवती।]

के चपरासियों तक ने कुछ चंदा दिया'—प्रत्ययनिष्ठ शक्ति का उदाहरण हो सकता है।)

तीन प्रकार की व्यंजनाएँ दिखाई पड़ती है—वस्तु-व्यंजना, भाव-व्यंजना और अलंकार-व्यंजना।

इसके अन्य भेद शाब्दी या आर्थी हैं। इनमें से शाब्दी व्यंजना के दो भेद हैं—अभिधामूलक और लक्षणामूलक।

शाब्दी व्यंजना—

(१) अभिधामूलक—'संयोग'[1] आदि के कारण अनेकार्थी शब्दों का एक अर्थ निर्दिष्ट कराके जब अभिधा रुक जाती है और उसके उपरांत जब उन्हीं शब्दों को लेकर दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, तब वह दूसरा अर्थ अभिधामूलक व्यंजना द्वारा निकलता है। जैसे—'वह राजा भद्रात्मा है, उसने शिलीमुखों का संग्रह किया है, दान से उसका कर सुशोभित है'।[2]

सूचना—जहाँ दूसरे अर्थ का बोध कराना भी इष्ट होता है वहाँ श्लेष अलंकार होता है, पर जहाँ दूसरे अर्थ की यों ही प्रतीति मात्र होती है वहाँ अभिधामूलक शाब्दी व्यंजना ही समझनी चाहिए।

---

१ [संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्य्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥
—वाक्यपदीय, भर्तृहरिकृत।]

२ [भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्॥
—काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास, १२।]

अभिधामूलक व्यंजना—वह है जो संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्द का संनिधान, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर इत्यादि के द्वारा शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ की उपलब्धि से वाच्यार्थ का निश्चय हो जाने पर दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति करती है।

उदाहरण—

शंखचक्रवाले हरि—संयोग।

बिना शंखचक्र के हरि—विप्रयोग।

भीम अर्जुन—साहचर्य।

कर्ण अर्जुन—विरोधिता (वैर)।

भवबाधा दूर करनेवाले स्थाणु को नमस्कार—अर्थ (प्रयोजन अर्थात् भवबाधा-शांति)।

देव सिंहासन पर विराजिए—प्रकरण।

मकरध्वज कुपित हुआ—लिंग (चिह्न; यहाँ कोप)।

मधु से मत्त कोकिल—सामर्थ्य (मधु=वसंत)।

लक्षणामूलक व्यंजना—अर्थात् लक्षणा पर आश्रित व्यंजना। उदाहरणार्थ, 'उसका घर बिलकुल पानी में है।' यहाँ 'पानी' का लक्ष्यार्थ 'पानी का तट' है। व्यंजित वस्तु है 'आर्द्रता और शैत्य की अतिशयता'।

शाब्दी व्यंजना में व्यंजित अर्थ किसी विशेष शब्द तक ही परिमित रहता है, उसके आगे नहीं बढ़ता।

आर्थी व्यंजना

आर्थी व्यंजना में वक्ता, बोधव्य (जिसके प्रति बात कही जाय), वाक्य, अन्य का संनिधान, वाच्य (अर्थ), प्रस्ताव

(प्रकरण), देश, काल, काकु, चेष्टा इत्यादि के द्वारा व्यंजित अर्थ का वोध होता है।

उदाहरण—

(१) वक्ता, वाक्य, प्रकरण, देश और काल द्वारा—'शरद् ऋतु आ गई, रास्तों का पानी सूख गया। लंका यहाँ से थोड़ी ही दूर है, वानरों का दल भी एकत्र हो गया, अब हम लोग कहाँ बैठे हैं'। यहाँ व्यंजित अर्थ है—'आक्रमण करो'।

(२) वोधव्य की विशेषता द्वारा—'चंदन छूट गया है, अंजन नहीं रह गया है, शरीर भी पुलकित है, हे झूठी दूती, तू वापी स्नान करने गई थी, उस अधम (नायक) के पास नहीं गई थी'।[1]

विपरीत लक्षणा के द्वारा 'तू अवश्य गई थी'—अर्थ निकलता है। दूती की अवस्था से यह अर्थ व्यंजित होता है कि नायक के साथ उसने संभोग किया है।

(३) अन्यसंनिधि की विशेषता द्वारा—'देखो इस कुंज के सामने वनमृग कैसे खिलौने की तरह निश्चल बैठे हैं' (यहाँ नायिका स्थान की निर्जनता की व्यंजना करती हुई संकेत-स्थल की भी व्यंजना करती है।)

(४) काकु से—'ऐसे समय में भी वह न आवेगा?' ('अवश्य आवेगा'—व्यंग्य।)

---

१ [निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥
—साहित्यदर्पण, पृष्ठ ५६।]

(५) चेष्टा से—'गुरुजनों के बीच नायिका ने नायक की ओर भाव से देख लीलाकमल का मुख बंद कर दिया'।[1]

('संकेत का समय संध्या है'—यह अर्थ व्यंग्य है)।

अर्थमूलक व्यंजना के तीन उपभेद होते हैं—(१) वाच्यार्थ में, (२) लक्ष्यार्थ में और (३) व्यंग्यार्थ में। इनके उदाहरण क्रमशः ऊपर (१), (२) और (३) में दिए जा चुके हैं।

विचार—

यह बात ध्यान में रखने की है कि 'लक्ष्यार्थ' में 'लक्ष्यार्थ' और 'अभिधेयार्थ' में 'अभिधेयार्थ' नहीं होता, किंतु 'व्यंग्यार्थ' में दूसरा व्यंग्य हो सकता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अभिधा और लक्षणा का शब्द से सीधा और निकट का संबंध है, पर व्यंजना का उससे संबंध अप्रत्यक्ष है, अर्थात् अभिधेयार्थ के द्वारा शब्द से उसका संबंध होता है, क्योंकि नियम है—'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः'।

आपत्ति—वाच्यार्थ ज्ञात हो जाने पर हम लक्ष्यार्थ तक पहुँचते है, फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि लक्ष्यार्थ का शब्द या पद से प्रत्यक्ष संबंध है।

समाधान——लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ का रूपांतर मात्र होता है और व्यंग्यार्थ पृथक् अर्थ होता है।

(१) प्रश्न—क्या तीसरा भेद 'व्यंग्य में व्यंग्य' नियम के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि शब्द का अर्थ बोध कराने मे वही वृत्ति एक बार अर्थ का बोध कराने के अनंतर अपना व्यापार समाप्त कर देती है। फिर से उस शब्द का अर्थ

१ [संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥
—साहित्यदर्पण, पृष्ठ ५८।]

चताने में उसका उपयोग नहीं होता—(शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः)।

उत्तर—नहीं। क्योंकि यह नियम शब्द के लिये है, अर्थ के लिये नहीं।

तात्पर्य वृत्ति

तात्पर्य वृत्ति वह वृत्ति है जो प्रत्येक शब्द के संकेतित अर्थों के समन्वय द्वारा पूरे वाक्य का संगत अर्थ प्रस्तुत करती है।

अभिधा शक्ति के एक एक पदार्थ को अलग अलग बोधन करके विरत हो जाने पर उन अलग अलग पदार्थों को परस्पर संवद्ध करके समूचे वाक्य का अर्थ बोधन करनेवाली वृत्ति तात्पर्य वृत्ति है।

तात्पर्य वृत्ति को मानने न मानने की दृष्टि से दो संप्रदाय हो गए हैं। जो इस वृत्ति को स्वीकृत करता है उसका नाम 'अभिहितान्वयवादी' है। इनका मत है कि वाक्य का प्रत्येक पद पृथक् रूप से स्वच्छंद अर्थात् अनन्वित अर्थ का बोध कराता है। इसके अनंतर सब अर्थों का समन्वय होकर वाक्यार्थ अर्थात् समूचे वाक्य के अर्थ की उपलब्धि होती है। पुराने नैयायिक, मीमांसक (जैसे कुमारिल भट्ट) तथा और बहुत से लोग अर्थात् अधिकांश शास्त्राभ्यासी इस मत को मानते हैं। आलंकारिकों (साहित्यिकों) का भी यही मत है। किंतु अन्विताभिधानवादी[1] तात्पर्य वृत्ति को नहीं मानते। उनका मत है कि वाक्य का प्रत्येक शब्द अन्वित अर्थ का ही बोध कराता है। इसलिये अभिधेयार्थ के अनंतर किसी और अन्वय की आवश्यकता नहीं रह जाती।

---

१ [यह मत कुमारिल भट्ट के शिष्य प्रभाकर तथा उनके अनुयायियो का है और 'गुरुमत' कहलाता है।]

[३]

ध्वनि

(चतुर्थ परिच्छेद)

ध्वनि शब्द का व्यवहार चार पृथक्-पृथक् अर्थों में होता है—(१) जहाँ व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ से अतिशयता हो, अर्थात् उत्तम काव्य, (२) जिसके द्वारा व्यंग्यार्थ व्यंजित हो, अर्थात् प्रधान व्यंग्य, (३) रसादि की व्यंजना, (४) व्यंजित रसादि।

यहाँ यह शब्द पहले अर्थ में गृहीत हुआ है और उसका लक्षण इस प्रकार है—जिस काव्य में व्यंग्य अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधान या अधिक चमत्कारक हो वह ध्वनि है। जिसमें व्यंग्य अर्थ गौण हो वह गुणीभूत व्यंग्य है।

ध्वनि के दो प्रकार हैं—(१) लक्षणामूलक या अविवक्षित वाच्य और (२) अभिधामूलक या विवक्षित वाच्य। (अविवक्षित = बाधित)।

लक्षणामूलक या अविवक्षित वाच्य ध्वनि—

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो प्रकार होते हैं—अर्थांतरसंक्रमित वाच्य और (२) अत्यंततिरस्कृत वाच्य।

उदाहरण—

अर्थांतरसंक्रमित वाच्य ध्वनि—'आम आम ही है, इमली इमली ही है, कोइल कोइल ही है, कौआ कौआ ही है'। यहाँ आम, कोइल इत्यादि शब्दों के व्यवहार में उक्त ध्वनि है। दूसरे अर्थ की ध्वनि लाक्षणिक है। व्यंग्यार्थ है 'मीठे स्वाद का, मीठे गानवाली' इत्यादि इत्यादि। ये लाक्षणिक अर्थ वाच्यार्थ से एकदम भिन्न नहीं है, प्रत्युत मुख्यार्थ का विशिष्ट रूप बतलाते

हैं। व्यंग्य प्रयोजन है—उत्कृष्टता और निकृष्टता। अर्थांतरसंक्रमित वाच्य में सामान्य-विशेष-भाव या व्यापक-व्याप्य-संबंध होना चाहिए। वाच्यार्थ को सामान्य या व्यापक होना चाहिए और लक्ष्यार्थ को विशेष या व्याप्य। दूसरे शब्दों में अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि अजहत्स्वार्था वृत्ति पर आश्रित होती है।

अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि—अंधा दर्पण, कानी चारपाई, बेसिर-पैर की बात।

न तो दर्पण के आँखें ही हुआ करती हैं और न बात के सिर-पैर ही। इसलिये वाच्यार्थ अत्यंत तिरस्कृत है। अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि जहत्स्वार्था वृत्ति पर आश्रित होती है।

सूचना—केवल वैपरीत्य की सत्ता से अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि और अभिधामूलक ध्वनि में भ्रांति न होनी चाहिए। लक्षणा में वैपरीत्य स्वतः होता है और अभिधामूलक ध्वनि में वैपरीत्य की प्रतीति परिस्थिति का बोध हो जाने के अनंतर होती है। निम्नलिखित उदाहरण देखिए—'भगत जी बेधड़क घूमिए, उस कुत्ते को जो तुम्हें तंग किया करता था नदी किनारे उस कुंज में रहनेवाले सिंह ने मार डाला'।[1]

यह अभिधामूलक ध्वनि का उदाहरण है, विपरीत लक्षणामूलक अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का नहीं। अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के उदाहरण निम्नलिखित होंगे—

(क) क्या भरा हुआ सरोवर है कि लोग लोट लोटकर नहा रहे हैं।

(ख) यदि यम-यातना से प्रेम है तो ईश्वर का भजन न करना।

---

१ [भम धम्मिअ बीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण।
गोलाणईकच्छकुडंगवासिना दरीऽसीहेण ॥]

पहले उदाहरण (क) में 'भरा हुआ' वस्तुतः 'सूखा हुआ' के अर्थ में है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण (ख) में निषेध बिना किसी खींचतान के विधि का बोध कराता है। 'भगतजी आदि' उदाहरण ऐसा नहीं करता। उसमें निषेध की प्रतीति प्रकरणादि के पर्यालोचन के बाद होती है। इसलिये उसमें लक्षणा नहीं है। नियम यह है कि जिस वाक्य में पदार्थों का संबंध अनुपपन्न होता है उसी में लक्षणा होती है। जहाँ पदों के मुख्य अर्थ का अन्वय हो जाने के उपरांत अवसर या प्रसंग के विचार से बाध की प्रतीति होती है वहाँ लक्षणा नहीं हो सकती।

अभिधामूलक या विवक्षितवाच्य ध्वनि—इसके दो प्रकार होते हैं—असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य।

(क) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य—रस, भाव, रसाभास, भावाभास इसके उदाहरण हैं।

सूचना—इससे रसों और भावों की असंख्यता प्रकट होती है। लेखक [साहित्यदर्पणकार] ने चुंबन-आलिंगनादि को भी इसी के अंतर्गत रखा है। किंतु विभाव और अनुभाव सदा वाच्य होते हैं व्यंग्य नहीं। केवल स्थायी और संचारी [भाव] व्यंग्य हो सकते है।

(ख) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि—के तीन प्रकार होते हैं—(१) शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि, (२) अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि और (३) उभय शक्त्युद्भव ध्वनि।

(१) शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के दो प्रकार है—वस्तु-रूप और अलंकार-रूप।

(क) वस्तु-रूप—उदाहरण—(स्वयंदूती-वचन—पथिक, इन

उठे हुए पयोधरों को देखकर यदि ठहरना चाहते हो तो ठहर जाव[1]) (पयोधर = मेघ और स्तन)।

व्यंग्य वस्तु है 'यहाँ ठहरो और सहवास का सुख लूटो'।

प्रश्न—क्या इस उक्ति में रसाभास व्यंग्य नहीं है। स्वयंदूती के कथन में (प्रथम अध्याय[2]) विश्वनाथ ने रसाभास माना है। हम लोगों के सामने जो उदाहरण है उसमें श्लिष्ट 'पयोधर' शब्द केवल वस्तु व्यंजित करता है। अब प्रश्न यह है कि क्या व्यंजना इसके आगे भी जाती है।

समाधान—हाँ, निश्चय ही। और इस प्रकार व्यंग्यार्थ में अर्थमूलक व्यंजना का उदाहरण प्रस्तुत करती है। देखिए पृष्ठ ३८४। इसलिये यह माना जाता है कि व्यंजना शक्ति के द्वारा एक के बाद एक वस्तुओं और भावों की माला की माला व्यंजित हो सकती है। जैसे अनुभाव के द्वारा संचारी भाव व्यंजित हो सकता है और तदुपरांत संचारी के द्वारा स्थायी भाव। ठीक इसी प्रकार व्यंग्य वस्तु के द्वारा व्यंग्य भाव या रस व्यंजित हो सकता है।

(ख) शब्द-शक्ति से अलंकार व्यंग्य—श्लेष के द्वारा सादृश्य (उपमा) की व्यंजना इसका उदाहरण होगा। (अन्योक्ति-कल्पद्रुम के पद्य उदाहरण में दिए जा सकते है।)

(२) अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि—यह या तो वस्तु के रूप में

---

१ [पन्थिअ ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे।
उण्णअ पओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु॥
—साहित्यदर्पण, पृष्ठ १७६।]

२ [अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअंधिअ सज्जाए मह णिमज्जहिसि॥
—वही, पृष्ठ २०।]

होती है या अलंकार के रूप में। इनमें से प्रत्येक या तो स्वतः-संभवी होगी या कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध (कल्पित), जैसे 'कौओं को सफेद करनेवाली चंद्रिका' जो कहीं उपलब्ध नहीं होती।

इन चारों के विभिन्न प्रकार के मिश्रणों द्वारा बारह प्रकार की अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि हो सकती है। ये बारहों प्रकार प्रबंध (जैसे गृध्रगोमायुसंवाद) में भी हो सकते हैं। इसलिये अर्थ-शक्त्युद्भव ध्वनि के चौबीस भेद हो जाते हैं।

उदाहरण—

स्वतःसंभवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य—'इस बालक के पिता इस कुएँ का खारी पानी न पीएँगे। मैं झटपट तमालाकुल सोते पर जाती हूँ। पुराने नरसल की गाँठें देह में खरोंट डालें तो डालें।'[1] 'नरसल की खरोंट' स्वतःसंभवी वस्तु है। इसके द्वारा भावी रतिचिह्न के गोपन की व्यंजना हो रही है।

स्वतःसंभवी वस्तु से व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य—'दक्षिण दिशा में जाने से (दक्षिणायन होने से) सूर्य का तेज भी मंद हो जाता है। परंतु उसी दिशा में रघु का प्रताप पांड्य देश के राजाओं से नहीं सहा गया'।[2]

यहाँ संभवी वस्तु है 'सूर्य की मंदता और रघु के समक्ष

---

१ [दृष्टि हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति।
एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमा लिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः॥
—वही, पृष्ठ १७८।]

२ [दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्या रवेरपि।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे॥
—वही।]

दक्षिण के नरेशों की पराजय'। यहाँ व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य है। अर्थात् रघु का प्रताप सूर्य के प्रताप से बढ़कर है। (अलंकार कल्पित अर्थात् कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध है।)

स्वतःसंभवी अलंकार से स्वतःसंभवी वस्तु व्यंग्य—'उस वेणुहारी को दूर से अपनी ओर झपटते देख बलराम ने भी सँभलकर पराक्रम के साथ उसे ऐसा देखा जैसे मत्त मातंग को केसरी देखे'।[1]

स्वतःसंभवी अलंकार से कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार व्यंग्य—'रण में क्रोध से ओठ चबाते हुए जिस राजा ने शत्रुनारियों के ओठों को पति के प्रगाढ़ दंतक्षत की व्यथा से छुड़ा दिया'।[2] वह दूसरों के ओठों की रक्षा कैसे करेगा जो अपने ही ओंठ चबा रहा है—स्वतःसंभवी विरोधालंकार। समुच्चय अलंकार व्यंग्य है—इधर ओठ चबाए, उधर शत्रु मारे गए।

कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु से व्यंग्य वस्तु—'युवतियों की ओर लक्ष्य रखनेवाले मुखों से युक्त, नव-पल्लव-रूप पत्र (पंख) वाले नए नए आम के मौरों के बाण वसंत में कामदेव तैयार करता है'।[3] यहाँ धनुर्धर काम के बाण कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध मात्र है जिससे 'कामोद्दीपन-काल' वस्तु व्यंग्य है।

---

१ [आपतन्तममुं दूरादूरीकृतपराक्रमः।
बलोऽवलोकयामास मातङ्गमिव केसरी॥ —वही, १७९]

२ [गाढकान्तदशनक्षतव्यथासंकटादरिवधूजनस्य यः।
ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन् युधि रुषा निजाधरम्॥
—वही।]

३ [सज्जेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खमुहे।
अहिणवसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणङ्गस्स सरे॥ —वही।]

कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य—'हे वीर, केवल रात्रि में ही चंद्रमा की किरणों से प्रकाशित होनेवाले भुवनमंडल को अब आपकी कीर्ति दिनरात शोभित कर रही है'।[1] यहाँ 'कीर्ति का प्रकाश' कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु है जिससे व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य है अर्थात् कीर्ति चाँदनी से अधिक प्रकाश करनेवाली है।

कविप्रौढ़ौक्तिसिद्ध अलंकार से व्यंग्य वस्तु—'उस समय रावण की मुकुटमणियों के बहाने राक्षस-श्री के आँसू पृथ्वी पर गिरे'।[2] मुकुट से मणियों का गिरना अपशकुन है। इसलिये अपह्नुति अलंकार के द्वारा श्री के आँसू गिराए गए हैं। श्री के आँसू कल्पित है, अतः कविप्रौढ़ोक्ति सिद्ध अलंकार है। इससे 'राक्षसों की शक्ति के विनाश' वस्तु की व्यंजना हो रही है।

कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार से व्यंग्य अलंकार—हे त्रिकलिंग-देश-तिलक आपकी अकेली कीर्तिराशि इंद्रपुरी की स्त्रियों के अनेक भूषणों के रूप में परिणत हो गई—चोटी में मल्लिका के पुष्प हुई, हाथ मे श्वेत कमल, गले में हार, शरीर में चंदन-लेप'।[3] यहाँ

---

१ [रजनीषु विमलभानो करजालेन प्रकाशितं वीर।
धवलयति भुवनमण्डलमखिलं तव कीर्तिसन्ततिः सततम् ॥
—वही, १८०।]

२ [दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः।
मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः ॥ —वही।]

३ [धम्मिल्ले नवमल्लिकासमुदयो हस्ते सिताम्भोरुहं
हारः कण्ठतटे पयोधरयुगं श्रीखण्डलेपो घनः।
एकोऽपि त्रिकलिंगभूमितिलक त्वत्कीर्तिराशिर्ययौ
नानामण्डनतां पुरन्दरपुरीवामभ्रुवां विग्रहे ॥ —वही।]

आरोप के कारण रूपक अलंकार है, जो कविकल्पित है। इसके द्वारा 'आप पृथ्वी पर रहते हुए स्वर्ग के निवासियों का उपकार करते हैं' यह विभावना अलंकार व्यंग्य है।

(लेखक [साहित्यदर्पणकार] ने पात्रों (नायकादि) की उक्तियों के उदाहरण को पृथक् माना है। उनका कहना है कि कवि-प्रौढ़ोक्ति की अपेक्षा कविनिबद्धवक्ता की प्रौढ़ोक्ति में विशेष चमत्कार होता है क्योंकि वे उक्तियाँ ऐसे व्यक्तियों की होती हैं जो स्वयं उसका अनुभव करनेवाले होते हैं। 'रसगंगाधर' ने यह बात नहीं मानी है।)[1]

कविनिबद्धवक्ता की प्रौढ़ोक्ति से सिद्ध वस्तु द्वारा व्यंग्य वस्तु— 'हे सुमुखि! इस सूए के बच्चे ने किस पर्वत पर कितने दिनों तक क्या तप किया है कि यह तुम्हारे ओठ के सदृश लाल बिंबफल का स्वाद ले रहा है'।[2] सुग्गे का तप कल्पित वस्तु है। व्यंग्य वस्तु यह है कि रमणी के अधरों की प्राप्ति बड़ी तपस्या से होती है। यद्यपि यहाँ पर प्रतीप अलंकार है तथापि वह व्यंग्य वस्तु को व्यंजित नहीं करता।

वक्ता की प्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु से व्यंग्य अलंकार—'हे सखि! वसंत में काम के बाणों ने करोड़ों की संख्या प्राप्त करके पंचता छोड़ दी और वियोगिनियों को पंचता प्राप्त हुई'।[3]

---

१ [देखिए साहित्यदर्पण, विमला टीका, पृष्ठ १८२।]

२ [शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिर किमभिधानमसावकरोत्तपः।
सुमुखि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः।
—वही, १८१।]

३ [सुभगे कोटिसंख्यत्वमुपेत्य मदनाशुगैः।
वसन्ते पञ्चता त्यक्ता पञ्चतासीद्वियोगिनाम्॥ —वही।]

कवि की कल्पना यह है—कामदेव के बाण करोड़ों की संख्या में हो गए हैं जिससे वियोगियों की मृत्यु हो रही है। इससे उत्प्रेक्षा अलंकार व्यंग्य है। (बाणों की पंचता मानों वियोगियों को प्राप्त हो गई है।)

वक्ता के प्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार से व्यंग्य वस्तु—'हे क्रोधशीले ! चमेली की कली पर गूँजता हुआ भ्रमर ऐसा मालूम होता है मानों कामदेव की विजययात्रा का विजयशंख बज रहा है'।[1] उत्प्रेक्षा अलंकार कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध है और इससे इस वस्तु की व्यंजना होती है कि यह प्रेम का समय है, मान का नहीं।

वक्ता के प्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार से व्यंग्य अलंकार—'हे सुंदर ! हजारों स्त्रियों से भरे हुए तुम्हारे हृदय में अवकाश न पाकर वह कामिनी और सब काम छोड़कर दिनरात अपने दुर्बल शरीर को और भी दुर्बल बना रही है'।[2] काव्यलिंग अलंकार (नायक के हृदय में स्थान न पाकर) कल्पित है। इससे दूसरा अलंकार विशेषोक्ति व्यंग्य है—वह दुर्बल और क्षीण होने पर भी हृदय में स्थान नहीं पा रही है।

(३) उभयशक्त्युद्भव ध्वनि—इसके उपभेद नहीं होते। यह केवल वाक्यगत होती है। अन्य दो भेद (शब्दशक्त्युद्भव और अर्थशक्त्युद्भव) पदगत और वाक्यगत दोनों होते हैं (अन्योक्ति-

---

१ [मल्लिकामुकुले चण्डि भाति गुञ्जन्मधुव्रतः।
प्रयाणे पञ्चबाणस्य शङ्खमापूरयन्निव॥ —वही।]

२ [महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती।
अणुदिणमणण्णकम्मा अङ्गं तणुअं पि तणुएइ॥ —वही।]

कल्पद्रुम में वसंत की अन्योक्ति उदाहरण का काम देगी।[1] उस पद्य में 'माधव' और 'द्विज' शब्द के स्थान पर उनके पर्यायवाची नहीं रखे जा सकते। इसलिये शब्द-शक्त्युद्भव है, किंतु इन······ शब्दों को पर्यायवाची शब्दों से बदल सकते हैं)।

पदगत और वाक्यगत ध्वनि—

पद्य के केवल एक पद में जो ध्वनि होती है वह पदगत कहलाती है, जो अनेक पदों में होती है वह वाक्यगत कहलाती है। (यह विभाजन तर्कपूर्ण नहीं जान पड़ता; वस्तुतः विशिष्ट पद या पदों पर आश्रित व्यंग्य को पदगत ही कहना चाहिए)।

उदाहरण—

अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि पदगत—'उसी के नेत्र नेत्र होंगे जिसके सामने यह तरुणी होगी'।[2]

अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि वाक्यगत—'देख! मैं तुझसे कहता हूँ यहाँ विद्वानों की मंडली है अपनी बुद्धि को स्थिर करके काम करना'।[3] लक्ष्यार्थ—मैं = तुझसे ज्ञानवृद्ध और तेरा हितकारी;

---

१ [हितकारी ऋतुराज तुम साजत जग आराम।
सुमन सहित आसा भरो दलहिं करौ अभिराम॥
दलहि करौ अभिराम कामप्रद द्विजगुन गावै।
लहि सुबास सुखधाम बातबर ताप नसावै॥
बरनै दीनदयाल हिये माधव-धुनि प्यारी।
श्रवन सुखद सुक-बैन बिमल बिलसैं हितकारी॥ ४॥]

२ [धन्यः स एव तरुणो नयने तस्यैव नयने च।
युवजनमोहनविद्या भवितेयं यस्य संमुखे सुमुखी॥
—साहित्यदर्पण, पृष्ठ १८३।]

३ [त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्॥
—वही, पृष्ठ १८३।]

तुझसे = तू जो अनुभवी और विद्वान् नहीं है। व्यंग्यार्थ—मेरा उपदेश तेरे लिये हितकर है।)

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि पदगत—'वह लावण्य! वह कांति! वह रूप! और वह वचनावली! उस समय तो ये सब अमृत-वर्षी थे परंतु अब अत्यंत संतापकारी हो गए हैं'।[1] (वह के द्वारा पहले तो असाधारण और अवर्णनीय सौंदर्य की व्यंजना होती है (वस्तु) और फिर विप्रलंभ शृंगार (रस) की। इसलिये असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य है। 'वह' पद यद्यपि कई बार प्रयुक्त हुआ है पर वह एक ही पद है अतः पदगत ध्वनि है)।

शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि पदगत—'एकांतवास की आज्ञा देने में तत्पर और भुक्तिमुक्ति देनेवाला सदागम (सच्छास्त्र अथवा अच्छे पुरुष का आना) किसे आनंदित नहीं करता?[2] यहाँ व्यंग्य वस्तु पुरुष-समागम है।

प्रश्न—इसमें उपमानोपमेय भाव क्यों नहीं है जैसा कि अलंकार द्वारा व्यंग्य वस्तु के उदाहरणों में हुआ करता है?

समाधान—क्योंकि यह विवक्षित (इच्छित) नहीं है।

शब्द-शक्तिमूलक पदगत अलंकार-ध्वनि—'अलौकिक बुद्धि से युक्त संपूर्ण पृथ्वी को धारण करनेवाला यह कोई पुरुषोत्तम राजा

---

१ [लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः।
तदा सुधास्पदमभूदधुनो तु ज्वरो महान्॥
—वही, पृष्ठ १८४।]

२ [भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः।
कस्य नानन्दनिष्यन्दं विदधाति-सदागमः॥
—वही, पृष्ठ १८५।]

सुशोभित है'।[1] यहाँ सादृश्य विवक्षित है इसलिये उपमा व्यंग्य है।

अर्थशक्तिमूलक स्वतःसंभवी वस्तु से वस्तु ध्वनि—'तूने अभी सायंकाल स्नान किया है। शरीर में शीतल चंदन का लेप किया है, सूर्य अस्त हो गया है (धूप भी नहीं है, और आराम से धीरे धीरे तू यहाँ आई है; तेरी सुकुमारता अद्भुत है जो इस समय तू ऐसी क्लांत हो गई है'।[2] तूने परपुरुष के साथ संभोग किया है—यह वस्तु व्यंग्य है। यहाँ अत्यंत व्यंजक शब्द 'अधुना' (इस समय) है इसलिये यह पदगत है।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में प्रकृतिगत, प्रत्ययगत, उपसर्गगत ध्वनि—(उदाहरणों के लिए देखिये—साहित्यदर्पण पृष्ठ १९१, १९२, १९३।[3]

---

१ [अनन्यसाधारणधीर्धृताखिलवसुन्धरः।
राजते कोऽपि जगति स राजा पुरुषोत्तमः॥—वही, पृष्ठ १८६।]

२ [सायं स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं
यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विस्रब्धमत्रागतिः।
आश्चर्यं तवसौकुमार्यमभितक्लान्तासि येनाधुना
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम्॥—वही।]

३ [प्रकृतिगत—
चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करं व्याधुन्वन्त्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधुरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकरहतास्त्वं खलु कृती॥

प्रत्ययगत—
मुहुरङ्गुलिसंवृताधरौष्ठं प्रतिवेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥

उपसर्गगत—
'न्यक्कारोह्ययमेव', देखिए पृष्ठ ३६७ की पादटिप्पणी सं० ३।]

सूचना—

उदाहरणों से यह स्पष्ट नहीं है कि पदांशगत केवल असंलक्ष्य-क्रम में ही हो सकता है।)

अभिज्ञानशाकुंतल से दिए गए उद्धरण 'चलापांगां दृष्टिं' इत्यादि में हताः (मरा) शब्द प्रकृतिगत ध्वनि का उदाहरण बताया गया है। (हन्=मारना)। किंतु यह शब्द लक्ष्यार्थ के अनंतर व्यंग्य को व्यंजित करता है इसलिये यहाँ लक्षणामूलक ध्वनि है। किंतु असंलक्ष्यक्रम अभिधामूलक ध्वनि के अंतर्गत है, लक्षणामूलक ध्वनि के अंतर्गत नहीं।

निम्नलिखित उदाहरण के रूप में गृहीत हो सकते है—

(क) प्रत्यय या अव्ययगत—चमारों तक ने चंदा दिया।

(ख) मुखड़ा, सधुक्कड़। वर्ण और रचना के व्यंग्यों के उदाहरण वैदर्भी रीति के माधुर्य व्यंजक वर्णों आदि तथा अन्यत्र खोजने चाहिए।

संकर और संसृष्टि ध्वनि

संकर—जहाँ विभिन्न प्रकार की ध्वनियों का एक ही आश्रय (शब्द और अर्थ) हो या वे अन्योन्याश्रित हों तो संकर ध्वनि होती है, 'जैसे पीनस्तनों से सुशोभित दीर्घ और चंचल नेत्रवाली प्रिय के आगमन के महोत्सव में द्वार पर खड़ी हुई मांगलिकपूर्ण कलश और कमलों की वंदनवार विना यत्न के ही संपादित कर रही है।'[१] यहाँ व्यंग्य रूपक अलंकार (स्तन=कलश और नेत्र=कमल-तोरण) तथा व्यंग्य शृंगार दोनों एक ही आश्रय में है।

---

१ [अत्युन्नतस्तनयुगा तरलायताक्षी
द्वारि स्थिता तदुपयानमहोत्सवाय।
सा पूर्णकुम्भनवनीरजतोरणस्रक्
संभारमङ्गलमयत्नकृतं विधत्ते॥
—साहित्यदर्पण, पृष्ठ १९५।]

गुणीभूत व्यंग्य

व्यंग्य अर्थ या तो अन्य (रसादि) का अंग होता है या काकु से आक्षिप्त होता है या वाच्यार्थ का ही उपपादक (सिद्धि का अंगभूत) होता है अथवा वाच्य की अपेक्षा उसकी प्रधानता संदिग्ध रहती है या वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ की बराबर प्रधानता रहती है अथवा व्यंग्य अर्थ अस्फुट रहता है, गूढ़, अत्यंत अगूढ़ (स्पष्ट) या असुंदर होता है।

उदाहरण—

रसादि का अंग रस—स्मर्यमाण शृंगार करुणा का अंग। 'हा ! यह वह हाथ है जो रशना का आकर्षण करता था, कपोलों का स्पर्श करता था'[1] इत्यादि।

(यह ध्यान मे रखने की बात है कि ऐसे उदाहरणों में पूरा पद्य मध्यम काव्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यहां निश्चय ही रस है और अप्रधान व्यंग्य उसका अंग है। लेखक [साहित्य-दर्पणाकार] ने इसे स्वीकार किया है—देखिए पृष्ठ २०२]।[2]

वाच्यार्थ का उपपादक—'हे राजेंद्र पृथ्वी और आकाश के मध्य सर्वत्र प्रकाश करता हुआ वैरि-वंश का दावानल रूप यह आपका प्रताप सर्वत्र जग रहा है।'[3] (श्लेष द्वारा शत्रु में बाँस

१ [अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरूजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥ —वही, पृष्ठ १९६।]

२ [किं च यत्र वस्त्वलंकाररसादिरूप व्यंग्यानां रसाभ्यन्तरे गुणीभावस्तत्र प्रधानकृत एव काव्यव्यवहारः। तदुक्तं तेनैव—
प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपिध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादि तात्पर्यपर्यालोचनया पुनः॥]

३ [दीपयन्रोदसी रन्ध्रमेष ज्वलति सर्वतः।
प्रतापस्तव राजेन्द्र वैरिवंशदवानलः॥
—वही, पृष्ठ १९९।]

का आरोप व्यंग्य है। पर यह व्यंग्य अलंकार वाच्यार्थ दावानल का साधक है।)

इसी प्रकार यदि व्यंजित सादृश्य के अनंतर उपमानशब्द द्वारा कथित होता है तो व्यंग्य का महत्त्व नहीं रह जाता और वह वाच्यार्थ का अंग हो जाता है।

अस्फुट व्यंग्य—'संधि करने में सर्वस्व छिनता है और विग्रह करने में प्राणों का भी निग्रह होता है। अलाउद्दीन के साथ न तो संधि हो सकती है और न विग्रह।'[1]

'अलाउद्दीन के साथ केवल साम और दाम से काम बन सकता है' व्यंग्य है जो स्पष्ट नहीं है। उपमा अथवा दीपक, तुल्य-योगिता इत्यादि में होनेवाला व्यंग्य-सादृश्य गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण होगा ध्वनि का नहीं।

जहाँ गुणीभूत व्यंग्य रस का अंग होता है वहाँ पूरा पद्य ध्वनियुक्त माना जाता है। किंतु जहां यह रस का अंग नहीं होता प्रत्युत (नगरादि) के वर्णनों आदि का अंग होता है। वहां गुणीभूत व्यंग्य या मध्यम काव्य होता है, जैसे,

जिस नगरी के ऊँचे ऊँचे प्रासादों में जड़े लाल मणियों का गगनचुंबी प्रकाश यौवनमद से मत्त रमणियों को बिना संध्याकाल के ही संध्या का भ्रम उत्पन्न करके कामकलाओं से पूर्ण भूषणादि-रचना में प्रवृत्त करता है।[2]

काव्य का तीसरा भेद जिसे चित्र कहते हैं, अस्वीकृत कर दिया गया है।

---

१ [सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अल्लावदीन नृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः॥ —वही।]

२ [यत्रोन्मदाना प्रमदाजनानामभ्रंलिहः शोणमणीमयूखः।
संध्याभ्रमं प्रामुवतामकाण्डेऽप्यनङ्गनेपथ्यविधिं विधत्ते॥
—वही, पृष्ठ २०२।]

[४]

व्यंजना की स्थापना

नैयायिक और मीमांसक व्यंजना को पृथक् वृत्ति नहीं मानते। अलंकार-शास्त्री इसे स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य वृत्तियों के कार्य कर चुकने पर इसी वृत्ति से रस, अलंकार या वस्तु व्यंग्यार्थ के रूप में व्यंजित होते हैं।

अभिधा व्यंग्यार्थ का बोध कराने मे असमर्थ—

अभिधा संकेतित अर्थ का बोध कराकर स्थगित हो जाती है। इसलिये तदनंतर अन्य अर्थ का, अर्थात् रस, अलंकार या वस्तु का बोध कराने में वह अक्षम होती है। उदाहरणार्थ रस को लीजिए जो विभाव, अनुभाव इत्यादि के द्वारा व्यंजित कहा जाता है। अब न तो विभाव (जैसे राम, सीता आदि) और न अनुभाव (जैसे कंपादि) ही किसी रस के द्योतक हैं। रस और विभाव इत्यादि सदृश नहीं हैं। वे एक ही वस्तु नहीं हैं। इतना ही नहीं यदि कोई कहता है कि 'यह शृंगार रस है' तो इस वाक्य से किसी रस की कोई व्यंजना नहीं होती। इसके विपरीत रस का नाम लेना दोष है (स्वशब्दवाच्यत्व)। इन सबसे स्पष्ट है कि अभिधा के द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। यह पहले कहा जा चुका है कि मीमांसकों के दो संप्रदाय हैं एक अभिहितान्वयवादी जो तात्पर्य वृत्ति को स्वीकार करते है, दूसरे अन्विताभिधानवादी जो उसे स्वीकार नहीं करते। दोनों व्यंजना को चौथी वृत्ति अस्वीकृत करने में एकमत हैं। अभिहितान्वयवादियों का कहना है कि अभिधा का प्रसार इतना अधिक हो सकता है कि उसकी प्रतीति के अंतर्गत कोई भी अर्थ गृहीत हो सके, चाहे वह कितना ही दूरारूढ़

क्यों न हो। इस कथन से 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' सिद्धांत का उल्लंघन हो जाता है। यदि कोई इस सिद्धांत को नहीं मानता तो उससे पूछा जा सकता है कि अभिधा और तात्पर्य से ही 'काम चल जाता है तो तीसरी वृत्ति लक्षणा की क्या आवश्यकता।

अन्विताभिधानवादी अपने सूत्र 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' के बल पर कहते हैं कि अभिधा के द्वारा पूर्णतया व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है। उनका कहना है कि प्रत्येक वाक्य, चाहे वह पौरुषेय हो या अपौरुषेय, किसी कार्य से संबद्ध होता है। काव्य के शब्द भी कार्यपरक होते हैं। उस कार्य का परिणाम परमानंद की प्राप्ति है। इसलिये काव्य के वाक्य का तात्पर्य परमानंद हुआ। काव्यगत वाक्य का तात्पर्य समन्वित अर्थ के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। इसलिये व्यंजना को पृथक् वृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

खंडन—

'तत्परः' शब्द का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। इसका अभिप्राय या तो 'तदर्थत्व' होगा या तात्पर्य वृत्ति। यदि पहला अभिप्राय हो तो कोई विवाद नहीं क्योंकि व्यंग्यार्थ भी अर्थ ही होता है। यदि दूसरा अभिप्राय हो तो यह पूछा जा सकता है कि अभिहिता-न्वयवादी मीमांसकों के द्वारा मानी जानेवाली तात्पर्य वृत्ति से ही प्रयोजन है जिसमें संसर्ग-मर्यादा, अर्थात् संबंध का बोधने करानेवाली मर्यादा स्वीकृत है। यदि यह वही है तो यह ध्यान में रखना चाहिए कि विभिन्न अर्थों का समन्वित अर्थ प्रस्तुत करने के अनंतर तात्पर्य वृत्ति क्षीण हो जाती है। यदि यह तात्पर्य के अति-रिक्त कोई दूसरी वृत्ति है तो चौथी वृत्ति स्वीकृत कर ली गई। अब चाहे उसका जो नाम रखा जाय। यदि यह कहा जाय कि तात्पर्य वृत्ति से अन्वित अर्थ और व्यंजित रस इत्यादि की प्रतीति एक ही समय में और एक ही साथ होती है तो यह बात उपयुक्त नहीं

जँचती। क्योंकि किसी ने भी इसे अस्वीकार नहीं किया है कि रस का आस्वाद विभाव, अनुभाव आदि के अनंतर होता है। यही हेतु है कि विभाव, अनुभाव रसनिष्पत्ति के कारण कहे गए हैं।

लक्षणा व्यंग्यार्थ की प्रतीति में असमर्थ—

'गावँ पानी में वसा है' उदाहरण मे लक्षणा केवल 'पानी के तट पर' अर्थ का वोध' कराती है। क्योंकि दूसरे प्रकार से 'पानी में' पद का ठीक ठीक अर्थ-बोध नहीं हो सकता। किंतु शीतत्व और आर्द्रत्व व्यंग्य अर्थों का द्योतन वह नहीं करती। यही क्यों व्यंग्यार्थ सदा लक्षणा पर ही आश्रित नहीं होता। उसकी आवश्यकता तो वहाँ पड़ती है जहाँ अन्वयार्थ में बाध उपस्थित होता है।

यदि यह तर्क किया जाय कि लक्षणा में प्रयोजन भी लक्ष्य है तो 'पानी के तट पर' अर्थ वाच्यार्थ होगा और बाधित वाच्यार्थ होगा। किंतु न तो 'पानी के तट पर' 'पानी में' का मुख्यार्थ ही है और न इसमें अर्थ का वाध ही है। यदि 'वह गाँव पानी में वसा है' में शीतत्व और आर्द्रत्व को लक्ष्यार्थ माना जाय तो प्रयोजन क्या होगा। यदि कोई प्रयोजन हो तो वह भी लक्ष्य होगा। इस प्रकार 'अनवस्था दोष'[1] हो जायगा।

इतने पर भी कोई यह बात उठा सकता है कि लक्षणा प्रयोजन के सहित अर्थ का वोध कराती है। किंतु अर्थ और प्रयोजन भिन्न भिन्न हैं इसलिये वे एक ही समय और एक ही साथ लक्षित नहीं हो सकते। एक का वोध दूसरे के अनंतर ही होगा।

---

१ [उपपाद्योपपादकप्रवाहोऽ न वाधः—जब तर्क करते करते कुछ परिणाम न निकले और तर्क भी समाप्त न हो जैसे कारण का कारण और उसका भी कारण, फिर उसका कारण इस प्रकार का तर्क और अन्वेषण जिसका कुछ ओर छोर न हो—हिंदी शब्दसागर, पृष्ठ ९८।]

व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न है—

भिन्नता बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीति, काल, आश्रय, विषय इत्यादि की हो सकती है।[1]

बोद्धा—वाच्यार्थ का ज्ञान सरलतापूर्वक वैयाकरणों, नैयायिकों इत्यादि को हो सकता है। किंतु व्यंग्यार्थ की प्रतीति केवल सहृदयों को ही हो सकती है।

स्वरूप— व्यंजना के द्वारा बहुधा विधि वाक्य का अर्थ-निषेध होता है।

संख्या—व्यंग्य वाक्य विभिन्न व्यक्तियों के प्रति भिन्न भिन्न अर्थ धारण करता हुआ विविध प्रकार अर्थात् संख्या का हो जाता है। जैसे 'सूर्य अस्त हुआ' का अर्थ साधारणतया 'साँझ का समय' होता है। किंतु दूती-वाक्य होने पर 'नायक के पास अभिसार करने का समय' व्यंजित करेगा।

निमित्त—वाच्यार्थ की प्रतीति साधारण शब्द-ज्ञान से ही हो जाती है। किंतु व्यंग्यार्थ के लिये सहज प्रतिभा की आवश्यकता होती है।

कार्य—वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ज्ञान होता है। किंतु व्यंग्यार्थ से चमत्कार उत्पन्न होता है।

काल—व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के अनंतर होता है। अतः काल-भेद है।

आश्रय—वाच्यार्थ केवल शब्द के आश्रित होता है। किंतु

१ [बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः ॥
—साहित्यदर्पण, ५-८।]

व्यंग्य शब्द में, शब्द के अंश में, अर्थ में, वर्णों में अथवा रचना में भी रह सकता है।

विषय—"प्रिया का व्रणयुक्त ओष्ठ देखकर किसके मन में क्षोभ न होगा। हे भ्रमरयुक्त पद्म को सूँघनेवाली निवारित वामा, अब तू सहन कर।"[1] यहाँ वाच्यार्थ की दृष्टि से लक्ष्य या विषय नायिका जान पड़ती है, किंतु व्यंग्य का विषय नायक है। क्योंकि उसके संदेह-वारण के लिये यह बात कही गई है।

अभिधा और लक्षणा पहले से सिद्ध (विद्यमान) वस्तुओं का बोधन कराती हैं। किंतु शब्द जब तक विशेष प्रकार से अपना कार्य संपन्न नहीं कर लेते तब तक रस की सत्ता नहीं रहती। इस तात्त्विक भेद को सदा ध्यान में रखना चाहिए। व्यंजित होने के पूर्व रस की सत्ता नहीं रहती। इसमें कोई पूर्वसिद्ध वस्तु या तथ्य नहीं है जिसे अभिधा या लक्षणा बोध करावे। रस वस्तुतः आस्वाद या आनंद की अनुभूति है जो श्रोता के मन में प्रकट होती है और व्यक्त होने के पूर्व इसका कोई अस्तित्व नहीं होता।

'व्यक्तिविवेक' (साहित्यशास्त्र पर एक प्रबंध) के कर्ता महिमभट्ट ने व्यंजना का खंडन किया है। उनका कहना है कि व्यंग्यार्थ अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उनके तर्क निम्नलिखित हैं—

जैसे एक वस्तु से हम दूसरी वस्तु का अनुमान करते हैं उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से जो भावों के क्रमशः कारण, कार्य और सहकारी होते हैं हम रस का भी अनुमान करते हैं। पूर्ववत्, शेषवत्, और सामान्यतो दृष्ट अनुमान

---

१ [कस्स व ण होइ रसो दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरम्।
सब्भभरपडमग्घाइ णिवारिअ वामे सहसु एण्हिम्॥
—वही, पृष्ठ २१०।]

(कारण से कार्य का, कार्य से कारण का, सामान्य से विशेष का अनुमान अर्थात् एक वस्तु के ज्ञान से उस दूसरी वस्तु का ज्ञान जो उसके साथ देखी जाती है जैसे अग्नि धुएँ के साथ ।) के द्वारा विभाव, अनुभाव और संचारी रति इत्यादि का अनुमान कराते हैं जिससे रस की निष्पत्ति होती है। उदाहरणार्थ राम के प्रति सीता के प्रेम को लीजिए। इसे अनुमान की प्रक्रिया के रूप में यों रख सकते हैं—

सीता में राम के प्रति रति है—प्रतिज्ञा ।

क्योंकि वे राम के प्रति प्रेमभरी दृष्टियों से देखती हैं—हेतु ।

जिसमें रति-भाव नहीं होता वह इस प्रकार नहीं देखती—दृष्टांत ।

इसलिये सीता राम के प्रति अनुरागवती हैं—उपनय ।

रति का यह अनुमान उत्कृष्ट आस्वाद कोटि (आस्वाद पदवी) में पहुँचकर शृंगार रस हो जाता है—उपनय ।

इसका अभिप्राय यह है कि भाव का अनुमान रस की प्रतीति कराता है। अर्थात् हम पहले भाव का अनुमान करते है तव रस का आस्वाद लेते है। दूसरे शब्दों में इन दोनों में कारण-कार्य भाव है। हमें पहले विभाव इत्यादि की प्रतीति होती है फिर हम भाव का अनुमान करते है और अंत में रस तक पहुँचते हैं—जो अनुमान की प्रक्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। किंतु यह पहले ही कहा जा चुका है कि रस असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य है। महिम-भट्ट इस आपत्ति का समाधान यह कहकर करते हैं कि इसमें क्रम निस्संदेह होता है। किंतु शीघ्रता के कारण वह संलक्ष्य नहीं होता। हमारा प्रतिवाद यह है कि सीता में राम के प्रति रति-भाव है—केवल इस तथ्य का ज्ञान ही रस नहीं है। अनुमान ज्ञान का विषय है इसलिये वह किसी न किसी प्रकार के ज्ञान के रूप में ही

परिणत हो सकता है। यदि हम किसी अन्य मानसिक स्थिति के द्वारा रस तक पहुँचते हैं तो उसे दूसरी प्रक्रिया मानना पड़ेगा।

यह बात उठाई जा सकती है कि एक अनुमान के द्वारा हम सीता और राम के रति-भाव के ज्ञान तक पहुँचते हैं और दूसरे अनुमान के द्वारा हम उसके आस्वाद तक पहुँच जाते हैं। अनुमान की प्रक्रिया वैसी ही होगी जैसी 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' में होती है। हम कह सकते हैं कि 'यत्र यत्र रामादिगतानुरागज्ञानं तत्र तत्र रसोत्पत्तिः'। किंतु यह हेत्वाभास मात्र है। यहाँ व्याप्तिग्रह नहीं है। रस भाव के अनुमान के साथ साथ अनिवार्य रूप से नहीं रहता जैसा धूम के साथ वह्नि रहती है। क्योंकि नैयायिक, वैयाकरण इत्यादि इस बात का अनुमान तो कर सकते हैं कि अमुक अमुक व्यक्तियों के बीच रति-भाव है, किंतु शृंगार रस का आस्वाद नहीं ले सकते। हेतु के व्यभिचारी होने से यह हेत्वाभास हो गया। इसलिये अनुमान ठीक नहीं उतर सकता। इसके अतिरिक्त अपनी ही मानसिक स्थिति की सत्ता का ज्ञान अनुमान की प्रक्रिया द्वारा होना भी बेतुका है।

निदान, भाव की स्थिति का ज्ञान अनुमान की प्रक्रिया के द्वारा होता है—इस सिद्धांत से रस अनुमेय सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि केवल भाव की सत्ता के ज्ञान से रस सर्वथा पृथक् होता है।

विचार—

आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से ऊपर के लंबे चौड़े वाद-विवाद का अधिकांश शब्दों का अपव्यय मात्र जान पड़ेगा। जो ज्ञान (कागनीशन) और अनुभूति (फीलिंग) का पार्थक्य जानता है, उसके लिये ऐसे तर्क की कोई आवश्यकता नहीं कि रस एक वस्तु है और भाव का ज्ञान दूसरी वस्तु। रस आनंद की विशेष स्वरूपवाली अनुभूति है जो तर्क की किसी प्रक्रिया के द्वारा

ग्राह्य नहीं है। भ्रांति के अधिकांश का हेतु वस्तुतः व्यंजना शब्द के व्यवहार की असावधानी है, जिसके द्वारा रस को व्यंग्य कहा है। वस्तु-व्यंजना और अलंकार-व्यंजना में इस शब्द का व्यवहार किसी तथ्य या वस्तु के ज्ञान की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया बतलाने के लिये होता है। किंतु रस-व्यंजना में व्यंजना से सर्वथा पृथक् प्रक्रिया का बोध कराया जाता है। किसी विशेष भाव का रस के रूप में आस्वाद लेने की अभिव्यक्ति का संकेत इस शब्द से मिलता है। वस्तुतः एक स्थिति में कुशाग्र मति व्यक्ति तथ्य की प्रतीति करनेवाले होते हैं और दूसरी स्थिति में हृदय-संपन्न (सहृदय) व्यक्ति होते है जो व्यंजना का ग्रहण करके रस का आस्वाद लेते हैं। व्यंजना का शाब्दिक अर्थ है—प्रकट करना (प्रकाशन)। 'प्रकाशन' शब्द का अभिप्राय यह है कि जिस वस्तु का प्रकाशन होनेवाला है उसकी सत्ता पहले से ही है। किंतु यह पहले कहा जा चुका है कि अनुभूति के पूर्व रस की सत्ता नहीं होती। श्रोता के मन में प्रसुप्त भावों का प्रकाश रस के रूप में होता है। इसलिये 'प्रकट करना' का अर्थ होगा केवल अनुभूति उत्पन्न करना। इसलिये इस व्यंजना में रस शब्द का व्यवहार बहुत उपयुक्त नहीं है। 'रसा प्रतीयन्ते' में 'प्रतीयन्ते' शब्द को परिष्कृत अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। वस्तुतः रस उत्पन्न होता है ज्ञात नहीं कराया जाता। यद्यपि अलंकार-शास्त्रियों के सिद्धांतानुसार रस न तो ज्ञाप्य (जिसका ज्ञान कराया जाय) होता है न कार्य, जो उत्पन्न किया जा सके। किंतु रस के कार्यत्व के संबंध मे जो आपत्ति उठाई गई है वह आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से ग्राह्य नहीं है। यह आपत्ति स्पष्ट इस नैयायिक सिद्धांत पर स्थित है कि युगपत् ज्ञान असंभव है। इस सिद्धांत का साहित्य के क्षेत्र मे हाथ बढ़ाना वस्तुतः आलंकारिकों के द्वारा ज्ञान

(कागनीशन) और अनुभूति (फीलिंग) विषयक पारस्परिक विवेक के अभाव से ही हुआ है। वे रस को ज्ञान और प्रतीति दोनों कहते हैं। किंतु रस भाव की अनुभूति है, आप चाहें तो भाव को प्रच्छन्न भाव कह सकते हैं। ज्ञान और अनुभूति दोनों की युगपत् अनुभूति हो सकती है क्योंकि ये दोनों विभिन्न मानसिक प्रक्रियाएँ हैं। भाव, (इमोशन) ज्ञान (कागनीशन), अनुभूति (फीलिंग) और इच्छा या संकल्प (कोनेशन) का संश्लेष होता है। इसलिये हम बड़े मजे में कह सकते हैं कि विभाव-अनुभाव के प्रदर्शन से ऐसे विभाव-अनुभाव के ज्ञान की उत्पत्ति होती है जिसके साथ विशेष प्रच्छन्न या प्रसुप्त भाव की अनुभूति लगी रहती है।

डाक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण अलंकारशास्त्र के साथ न्यायशास्त्र के मिश्रण के संबंध में अपना दुःख इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—"यह बड़े खेद की बात है कि गत ५०० वर्षों से न्याय कानून अलंकारशास्त्र इत्यादि में घुस पड़ा है और इस प्रकार वह ज्ञान की उन शाखाओं के विकास में घातक हो रहा है, जिन शाखाओं के आश्रय में ही इसका आरोह और पोषण हुआ है।"

इसलिये यदि व्यंजना किसी तथ्य की व्यंजना करती है तो यही कि व्यंजित भाव की श्रोता या दर्शक के द्वारा रस रूप में अनुभूति होती है। इस प्रकार रस व्यंजना के द्वारा उत्पन्न होता है। भाव की अवस्थिति नायक और नायिका में होती है और रस की अनुभूति श्रोता या दर्शक के द्वारा होती है। पात्र के मन में रस नहीं होता जो व्यंजित किया जा सके। इसलिये व्यंजना की प्रक्रिया का विवेचन करने का उचित मार्ग यह है

कि इसके द्वारा इस बात की व्यंजना होती है कि भाव श्रोता के द्वारा रस के रूप में अनुभव किया जानेवाला है।

अब वस्तु-व्यंजना और अलंकार-व्यंजना पर विचार कीजिए। ये भी अनुमेय नहीं हैं। अनुमान में तीन अवयव होते हैं—पक्ष (जिसके संबंध में कोई बात सिद्ध करनी होती है), सपक्ष (उसके सदृश वस्तु) और विपक्ष (उससे पृथक् वस्तु)। 'अग्नियुक्त पर्वत है' उदाहरण में पक्ष= पर्वत, सपक्ष= रसोईघर और विपक्ष= सरोवर। अनुमितिवादी व्यंग्य वस्तु को अनुमेय सिद्ध करने के लिये जो प्रयास करते हैं उसमें 'भगतजी बेधड़क घूमो'[1] इत्यादि उदाहरण में व्यंग्य वस्तु अनुमान की प्रक्रिया के द्वारा इस प्रकार सिद्ध करते हैं—भगत जी (पक्ष), उनका गोदावरी के सिंहयुक्त तट पर न घूमना (साध्य), क्योंकि घूमनेवाला भीरु है, तट पर सिंह है (हेतु), अन्य भीरु ऐसे स्थान पर नहीं घूमा करते।

यहाँ भी हेतु व्यभिचारी है अर्थात् साध्य के साथ साथ अनिवार्य रूप से रहनेवाला नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि भीरु व्यक्ति कभी भयप्रद पदार्थ के समीप जाते ही नहीं। वे गुरुजन के आदेश अथवा उमंग से प्रेरित होकर कभी कभी ऐसा कर सकते है। भीरु व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक ऐसे स्थानों में नहीं जायँगे —यह तर्क ग्राह्य नहीं है। यह कथन भी सत्य नहीं हो सकता कि सिंह भी तट पर रहता है क्योंकि ऐसा कहनेवाली कुलटा है। इस लिये हेतु संदिग्ध है। दूसरा उदाहरण लीजिए—'मै अकेले तमाल के कुंजों से ढके नदी तट पर पानी लाने जाती हूँ खरोंट लगे तो लगे'।[2] इस उदाहरण में इस व्यंग्य वस्तु का अनुमान कि कहनेवाली प्रिय से मिलने जा रही है ठीक नहीं है। क्योंकि एकांत

---

१ [देखिए ऊपर पृष्ठ ३८७।]
२ [देखिए ऊपर पृष्ठ ३९०।]

स्थान में अकेले जाना और इस संभावना से जाना कि "शरीर में खरोंट लग जायगी" ऐसे अनुमान के लिये पुष्ट तर्क नहीं है। यह संभव है कि वह वहाँ बड़े पवित्र विचार से अपने पति की सेवा करने जा रही हो।

व्यंग्य अलंकार भी अनुमेय नहीं है। यह उदाहरण लीजिए—"जलक्रीड़ा के समय चंचल हथेलियों से बार बार राधा के मुख को ढाँककर खोलकर चक्रवाक के जोड़े का संयोग और वियोग करनेवाले कौतुकी कृष्ण संसार की रक्षा करें।"[1] यहाँ व्यंग्य अलंकार रूपक (मुखचंद्र है) है। इसको अनुमान से उपलब्ध करने के लिये कोई इस प्रकार अनुमान की प्रक्रिया दिखाएगा—

मुख चंद्रमा है—प्रतिज्ञा (मेजर टर्म या प्रापोजीशन)। क्योंकि जब यह दृश्य रहता है तो चक्रवाक के जोड़े का वियोग और जब यह दृश्य नहीं रहता है तब उनके संयोग का कारण होता है—हेतु (मिडिल टर्म या रीजन)। हेतु अनैकांतिक है। उनके वियोग के लिये चंद्रमा के अतिरिक्त और भी संभाव्य हेतु हो सकते है (जैसे, व्याध को देखना)।

विचार—

यह ध्यान देने योग्य है कि लेखक [साहित्यदर्पणकार] ने वस्तु-व्यंजना या अलंकार-व्यंजना के संबंध में जो दोनों ही वस्तुतः किसी तथ्य की व्यंजना होती हैं, अनुमेयत्व को असिद्ध करने के लिये उचित मार्ग का अवलंबन नहीं किया है। वस्तुतः पूर्वोक्त दोनों उदाहरणों में व्यंग्य अर्थ का पता देनेवाली परंपरा है। इनकी परीक्षा की जाय। पहले उदाहरण में साध्य या

१ [जलकेलितरलकरतलमुक्तपुनः पिहित-राधिकावदनः।
जगदवतु कोकयूनो विघटनसघटनकौतुकी कृष्णः॥
—साहित्यदर्पण, पृष्ठ २१६।]

प्रापोजीशन 'गोदावरी के तट पर घूमना' नहीं है, प्रत्युत नायिका की इच्छा कि 'भगतजी गोदावरी के तट पर न घूमें' है। काव्य-परंपरा से परिचित व्यक्ति के लिये एकांत नदी-तट पर कुंज शब्द का संकेत ही पर्याप्त है। इसके द्वारा वह तुरंत इस बात से अवगत हो जाता है कि कहनेवाली कुलटा या कम से कम परकीया है और इस अभिप्राय को समझ लेने में पूरी सहायता मिलती है। हम प्रतिज्ञा को यों रख सकते हैं—

नायिका चाहती है कि 'भगतजी तट पर घूमना छोड़ दें'। इसे अनुमान चक्र के रूप में यों रख सकते हैं—

नायिका चाहती है आदि—प्रतिज्ञा।

क्योंकि वह अपने प्रिय से वहाँ मिलती है—(हेतु)।

जो अपने पति से मिलना चाहती है वह यह चाहती है कि कोई बाधा न हो—(अप्लिकेशन)।

इसी से वह चाहती है इत्यादि—(उपसंहार)।

'वह कुलटा या परकीया है' यह भी अनुमान से जाना जा सकता है।

वह परकीया है—प्रतिज्ञा या साध्य।

साहित्य मे परकीया सहेट में प्रिय से मिलती हैं यह भी सहेट मे मिलना चाहती है—अप्लिकेशन।

इसलिये वह परकीया या कुलटा है—उपसंहार।

यही बात दूसरे उदाहरण के संबंध में भी कही जा सकती है। यदि ये वाक्य सीता के मुख से कहलाए जायँ तो उक्त व्यंग्य नहीं रह जाता। परंपरा (आप्तोपदेश) से वक्ता के चरित्र, प्रकरण इत्यादि का पता चलता है जो मुक्तक में अकथित हुआ करते हैं। इस प्रकार इनमें वही मानसिक प्रक्रिया दिखाई देती है जो अनुमान की होती है। उस प्रक्रिया का परिणाम ठीक ठीक

अनुमान तक पहुँच सकता है कि नहीं यह पृथक् ही विचारणीय प्रश्न है। यह वस्तुतः व्यावहारिक अनुमान है चाहे यह सदा सैद्धांतिक शुद्ध अनुभाव न हो।

उदाहरण—

१—'इस समय एक पत्ती नहीं हिलती है'। इससे वायु का अभावातिशय व्यंजित होता है। यह शेषवत् अनुमान का अच्छा उदाहरण होगा।

२—'देखो मृग कैसे निर्द्वंद्व और निश्चेष्ट बैठे है'—यहाँ निर्जनत्व का अतिशय व्यंजित होता है जो व्यावहारिक अनुमान है। यह विशुद्ध अनुमान नहीं है। क्योंकि यह संभव है कि मृगों ने झाड़ियों में छिपे व्याध को न देखा हो। चाहे व्यावहारिक अनुमान हो चाहे विशुद्ध सैद्धांतिक अनुमान, मानसिक प्रक्रिया दोनों में एक ही प्रकार की हुआ करती है। अनुमान और काव्य की वस्तु-व्यंजना में एक अंतर बहुत स्पष्ट है। वस्तु-व्यंजना में वक्ता की दृष्टि में रहनेवाला अर्थ प्रमुख होता है। न्याय की विशुद्ध पद्धति से वह अपनी बात नहीं कहता। दूसरे शब्दों में काव्यगत व्यंजना में वक्ता का विचार ही व्यंग्य हुआ करता है। वस्तु-व्यंजना और अनुमान के असादृश्य का तात्पर्य यों समझना चाहिए कि व्यावहारिक अनुमान से जिस व्यंग्य वस्तु की उपलब्धि होती है वह सामान्यतया घटित होनेवाली घटना पर आश्रित होती है। दूरारूढ़ संभाव्यताओं का विचार करने वह नहीं जाती। शक्त्युद्भव ध्वनि में भी व्यंजित सादृश्य तक एक प्रकार के अनुमान से ही हम पहुँचते हैं। वहाँ दूसरे अर्थों के बीच तर्कगत संबंध ही हेतु हुआ करता है।

जो यह कहते हैं कि रस-ज्ञान स्मृति है—उनका कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि उनका कथन इस बात पर आश्रित है कि स्मृति की

भाँति रस-ज्ञान भी वासनासंस्कार की पूर्व सत्ता से होता है। चूँकि संस्कार प्रत्यभिज्ञा भी (अतीत में देखे हुए पदार्थ का वर्तमान काल में देखे जानेवाले पदार्थ के सादृश्य का ज्ञान अर्थात् यह वही वस्तु है) जगाता है, इसलिये हेतु व्यभिचारी है। जो लोग यह मानते हैं कि प्रत्यभिज्ञा का उदय स्मृति से होता है, संस्कार या वासना से नहीं, इसलिये वह संस्कार से भिन्न वस्तु है उनके संबंध में यह आपत्ति नहीं की जा सकती।

[५]
रस-निर्णय

सहृदय पुरुषों के हृदय में वासना रूप में स्थित रति आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त होते हैं।[1]

इससे प्रकट है कि सहृदय पुरुषों के हृदय में प्रसुप्त भाव ही रस का रूप धारण करते हैं, जब वे विभाव आदि के द्वारा व्यंजित किए जाते हैं। किसी के हृदय में भाव का व्यक्त होना वस्तुतः उस भाव की अनुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिये इस बात को हम और स्पष्ट रूप में यों कह सकते हैं कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के प्रदर्शन द्वारा भाव की अनुभूति श्रोता या दर्शक के हृदय में रस रूप में उत्पन्न होती है। रस विभाव-अनुभाव के संयोग से उसी प्रकार उत्पन्न होता है जिस प्रकार दूध और मट्ठा या जमावन के मिश्रण से दही उत्पन्न होता है (दध्यादि न्याय)। अब यह प्रश्न उठता है कि संयोग की यह प्रक्रिया कहाँ होती है। यह श्रोता या दर्शक के हृदय में होती है। किंतु विभाव और अनुभाव श्रोता के मन में केवल ज्ञान के रूप में

१ [देखिए साहित्यदर्पण, पृष्ठ ६० ।]

ही अवस्थित रहते हैं। इसलिये और विशुद्ध रूप में हम यों कह सकते हैं कि विभाव अनुभाव के ज्ञान से रस नामक अनुभूति उत्पन्न होती है।

रस की आनंदानुभूति उस समय होती है जब सत्त्व का उद्रेक सत्त्वोद्रेकात् होता है और रजस् तमस् दब जाते हैं। रस वस्तुतः अनुभूति है, अनुभूति का विषय नहीं। देखिए पृष्ठ ४०८।

यदि रस आनंद की अनुभूति है तो करुण, बीभत्स को रस कैसे कहा जाय। इनके लिये दिए गए तर्क संतोषप्रद नहीं हैं। मनोवैज्ञानिक अनुभूति को क्रीड़ा वृत्ति मानते हैं। श्रम और पीड़ा जब क्रीड़ा की वृत्ति में स्वतःप्रवर्तित होते है तब उनकी अनुभूति आनंदस्वरूप होती है।

किसी पात्र के आलंबन का प्रदर्शन भाव की अनुभूति रस रूप में कैसे उत्पन्न कर सकता है। सामान्यता की प्रक्रिया से जिसे साधारणीकरण कहते हैं, श्रोता या दर्शक का. पात्र के साथ तादात्म्य हो जाता है। भावों की अनुभूति प्रदर्शित विशिष्ट विषयों के साथ नहीं होती, प्रत्युत साधारण रूप में होती है। रसानुभूति काल में श्रोता इस बात का विचार करने नहीं जाता कि भाव मेरे है या दूसरे के।

रसचक्र

(१) पूर्ण रस=श्रोता का आलंबन वही जो आश्रय का (भावात्मक)।

(२) मध्यम रस=श्रोता का आलंबन आश्रय स्वयं। श्रोता के औत्सुक्य का (कल्पनात्मक)।

अनौचित्य को रसाभास माना है किंतु अनुपयुक्तता को नहीं। द्वितीय चरित्र-चित्रण में बड़े मजे में प्रयुक्त हो सकता है।

अधिकतर परंपराभुक्त रचनाओं में बेढंगा प्रयोग हुआ है जिससे न तो उच्च कोटि की कोई अनुभूति ही होती है और न कल्पना को ही कोई सहारा मिलता है। कल्पनात्मक विधान से भी राग की उत्पत्ति होती है, पर अप्रत्यक्ष रूप में।

कुछ लोग कल्पनात्मक पक्ष पर ही जोर देते है और कुछ भावात्मक पक्ष पर। इसका समाधान इस प्रश्न के उत्तर से हो सकता है कि नाना प्रकार के दृश्य पदार्थ हमारी अनुभूति जगाया करते हैं या अपनी अनुभूति को चरितार्थ करने के लिये हमी उन्हें देखना चाहते हैं।

प्रश्न—कुरूप स्त्री के प्रति आत्मत्यागमूलक प्रेम के संबंध में क्या कहा जायगा जैसा फारसी के आख्यानों में मजनूँ का लैला के प्रति था।

उत्तर—पात्र में प्रदर्शित अनुभूति की गहराई अप्रत्यक्ष रूप से अपना प्रभाव डालती है।

साधारणीकरण की दो प्रकार की व्याख्याएँ संभव हो सकती हैं—(१) आश्रय के साथ तादात्म्य, (२) आलंबन का सामान्य रूप से कथन। आलंकारिक लोग कदाचित् दूसरा मत मानते थे। उनकी दृष्टि रति-भाव तक ही परिमित थी। क्योंकि इस दृष्टि से उसका स्वरूप विशिष्ट होता है।

प्रलय संचारी है, सात्त्विक नहीं।

अनुभावों के भेदों (कायिक, मानसिक इत्यादि) मे से मानसिक को पृथक् कर देना चाहिए। प्राचीनों ने यह भेद नहीं माना है। उद्दीपन दो प्रकार के होते है—आलंबनगत और आलंबन-बाह्य।

अनुभाव—

श्रृंगार—भ्रूकुटिभंग, आलिंगन, चुंबन आदि।

हास्य—आँखों का सुकड़ना, मुख का दाँत का खुलना, आँसू।

करुण—भूपतन, रोदन, विवर्णता, उच्छ्वास, स्तंभ, प्रलाप, दैवनिंदा।

रौद्र—लाल आँखें, भृकुटी चढ़ना, दाँत पीसना, ओंठ चबाना, मुँह लाल होना, उग्र वचन, शस्त्र उठाना, झपटना, गर्जन, तर्जन, अपनी प्रशंसा।

वीर—पुलक।

भयानक—स्वेद, कंप, वैवर्ण्य, रोमांच, स्तंभ आदि।

बीभत्स—थूकना, मुँह फेरना, नाक सुकोड़ना।

अद्भुत—स्तंभ, स्वेद, रोमांच।

अनुभाव—कायिक और सात्त्विक। सात्त्विक अनुभाव—

स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कंप, अश्रु, वैवर्ण्य, प्रलय Voluntory and Involuntory [ऐच्छिक और अनैच्छिक या सात्त्विक।]

नायिकाओं के अलंकार—

२८ होते हैं—

अंगज—भाव, हाव, हेला।

अयत्नज—शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य।

सयत्नज कृतिसाध्य—लीला, बिलास, विच्छित्ति, विब्बोक, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित, केलि।

उक्ताः स्त्रीणामलंकाराः अङ्गजाश्च स्वभावजाः।

संचारी—

निर्वेद, आवेग, दैन्य, श्रम, मद, जड़ता, उग्रता, मोह, विबोध, स्वप्न, अपस्मार, गर्व, मरण, अलसता, अमर्ष, निद्रा, अवहित्था, औत्सुक्य, उन्माद, शंका, स्मृति, मति, व्याधि, संत्रास, लज्जा, हर्ष, असूया, विषाद, धृति, चपलता, ग्लानि, चिंता, वितर्क।

अंगज—भाव (प्रथम प्रथम प्रेम-विकार के लक्षण दिखाई देना)। यह वही कुमारी है, किंतु इसका मन कुछ और ही दिखाई देता है।

हाव—(भ्रकुटी नेत्रादि के किंचित् या अल्प-विकार से संभोगेच्छा प्रकाश)।

हेला—(भ्रकुटी नेत्रादि के अधिक विकार से अभिलाषा का अधिक स्फुट होना)।

लीला—वेष, अलंकार, वचन आदि में प्रियतम का अनुकरण।

विलास—प्रिय के दर्शन से गति, स्थिति आदि तथा मुख, नेत्रादि के व्यापारों की विलक्षणता।

विच्छित्ति—कांति को बढ़ानेवाली कुछ वेश-रचना।

विब्बोक—अति गर्व के कारण अभिलषित वस्तु का भी अनादर प्रकट करना।

किलकिंचित्—अति प्रिय वस्तु के मिलने पर हर्ष, हास, अकारण रोदन, कुछ त्रास, कुछ क्रोध, कुछ श्रमादि का विचित्र मिश्रण।

मोट्टायित—प्रियतम की कथा में अनुराग दिखाई पड़ना।

कुट्टमित—अंगस्पर्श के समय भीतर हर्ष होने पर भी बाहरी घबराहट प्रकट करना, हाथ पैर हिलाना आदि।

विभ्रम—प्रिय के आगमन या मिलने जाने के हर्षातिरेक से वस्त्र, भूषण आदि का और का और स्थान पर पहनना।

ललित—अंगों को सुकुमारता से रखना (नज़ाकत)।

मद—सौभाग्य, यौवन आदि का गर्व-प्रदर्शन।

कुट्ट—To abuse, to bruise, grind। [कुट्ट=निंदा करना।]

किल—Trifle, to play. [किल=क्रीड़ा।]

The distinction between करुण रस and करुण विप्रलंभ—

In करुण विप्रलंभ there is a hope of the deceased beloved coming into life by some agency: if where there is no such hope, there is करुण रस।

[करुण रस और करुण विप्रलंभ में अंतर—करुण विप्रलंभ में किसी शक्ति के द्वारा मृत प्रिय के फिर से जीवित होने की आशा रहती है। यदि कहीं इस प्रकार की आशा न हो तो करुण रस हो जाता है।]

परिशिष्ट

[क]

EXAMPLES FOR QUOTATION

[उद्धरण के लिये उदाहरण]

(१) कई मनोविकारों की स्वच्छंद योजना—

"देखो दशरथ रामचंद्र को यौवराज्य देना चाहते हैं सो मैं अथाह भय में डूबी, दुःख और शोक से युक्त हो, और आग से जलाई जाती सी हो तेरे हित के लिये यहाँ आई हूँ।"[1] —अयोध्या ७।

(२) ईर्ष्या के कारण क्रोध की उत्पत्ति—

"ऐसा धात्री का वचन सुन कुब्जा अत्यंत डाह से उस कैलास-शृंग सदृश प्रासाद पर से उतरी। उस काल में वह पापदृष्टि दासी जो क्रोध से जली जाती थी कैकेयी के पास, जो सोती थी, जाकर बोली।"[2] Do [वही]

---

१ [अत्ययं सुमहद्देवि प्रवृत्तं त्वद्विनाशनम्।
रामं दशरथो राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २० ॥
सास्म्यगाधे भये मग्ना दुःखशोकसमन्विता।
दह्यमानानलेनेव त्वद्धितार्थमिहागता ॥ २१ ॥
(वाल्मीकीय रामायण)]

२ [धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रममर्षिता।
कैलासशिखराकारात्प्रासादादवरोहत ॥ १२ ॥

(३) एक विषय में किसी के प्रति कोई भाव उत्पन्न होने से उसके संबंधी अन्य विषयों के प्रति भी प्रायः वैसा ही भाव उत्पन्न हो जाता है। वाल्मीकिजी ने कैकेयी के द्वारा इसका बड़ा विनोद-पूर्ण उदाहरण खड़ा किया है। मंथरा ने जब कैकेयी के हृदय में अपने प्रति सुहृद्‌भाव उत्पन्न कर लिया तब कैकेयी कहती है—

"एक तुझे छोड़ और सब टेढ़े अंग-भंगयुक्त और परम पापिष्ट हैं और तू वायु से झुके कमल के समान प्रियदर्शना है। तेरा वक्षःस्थल स्कंधपर्यंत इस मांस के लोंदे से भरा और ऊँचा है, और नीचे सुंदर नाभि से युक्त उदर वक्षःस्थल से मानो लज्जित होकर शांत अर्थात् धँसा हुआ है...तेरा मुख विमलचंद्र के तुल्य है" इत्यादि।[1] अयोध्या ९।

(४) "अब उस काल में नराधिप अमर्ष से "अहो! धिक्कार है!" ऐसा वचन कह फिर शोक से मूर्छित हो गए। फिर कुछ अधिक विलंब में संज्ञा को प्राप्त हो अति दुःखित हुए, तदनंतर क्रुद्ध हो तेज से जलाते हुए कैकेयी से बोले"।[2] अयोध्या १२।

सा दह्यमाना क्रोधेन मंथरा पापदर्शिनी।
शयानामेव कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥ (वही)]

१ [नाहं समवबुद्धयेयं कुब्जे राज्ञश्चिकीर्षितम्।
सन्ति दुःसंस्थिताः कुब्जे वक्राः परमपापिकाः ॥ ४० ॥
त्वं पद्ममिव वातेन संनता प्रियदर्शना।
उरस्तेऽभिनिविष्टं वै यावत्स्कन्धात्समुन्नतम् ॥ ४१ ॥
अधस्ताच्चोदरं शान्तं सुनाभमिव लज्जितम्।......४२॥
विमलेन्दुसमं वक्त्रमहो राजसि मन्थरे।......४३॥ (वही)]

२ [मण्डले पन्नगो रुद्धो मन्त्रैरिव महाविषः।
अहो धिगिति सामर्षो वाचमुक्त्वा नराधिपः ॥ ५ ॥

प्रधान भाव या प्रधान भाव संचारी—

(५) "हे नक्षत्रों से भूषित रात्रि! मैं तेरा प्रभात नहीं चाहता"[1]। अयोध्या १३।

(६) सांग रूपक—"हे राम! मेरे मन से उत्पन्न यह शोक रूप अग्नि, जो तुम्हारे अदर्शन रूप वायु से बढ़कर, विलाप दुःख रूप ईंधन से और आँसू रूप घृत से प्रदीप्त और चिंता श्रम रूप धूम से पूर्ण है मुझे भस्म कर देगी"।[2] अयोध्या २४।

(७) रति-भाव का अमर्ष—"ऐसा राम का वचन सुन प्रिय-वादिनी वैदेही प्रेमपूर्वक क्रुद्ध हो पति से बोली"।[3] अयोध्या २७।

Add [जोड़िए]—'कोकिल-कंठ' कहकर कवि कोकिल की वर्ण आकृति की कल्पना जगाना नहीं चाहता, मधुर स्वर की कल्पना जगाना चाहता है।

मोहमापेदिवान्भूयः शोकोपहतचेतनः।
चिरेण तु नृपः संज्ञां प्रतिलभ्य सुदुःखितः॥ ६॥ (वही)]

१ [न प्रभातं त्वयेच्छामि निशे नक्षत्रभूषिते॥ १७॥ (वही)]

२ [अयं तु मामात्मभवस्तवादर्शनमारुतः।
विलापदुःखसमिधो रुदिताश्रुहुताहुतिः॥ ६॥
चिन्तावाष्पमहाधूमस्तवागमनचिन्तजः।
कर्शयित्वाधिकं पुत्र निःश्वासायाससंभवः॥ ७॥
त्वया विहीनामिह मां शोकाग्निरतुलो महान्।
प्रधक्ष्यति यथा कक्षं चित्रभानुर्हिमात्यये॥ ८॥ (वही)]

३ [एवमुक्ता तु वैदेही प्रियार्हा प्रियवादिनी।
प्रणयादेव संक्रुद्धा भर्तारमिदमब्रवीत्॥ १॥ (वही)]

[ख]

काव्यवाली पुस्तक के लिये मनोविज्ञान संबंधी टिप्पणियाँ

मन के संघटन के नियम—बृहत् और लघु चक्र; पहले में दूसरा भी अवस्थित रहता है। प्रवृत्तियाँ और जीवनवेग भाव के अंतर्गत हैं। भाव स्थायीभाव के अंतर्गत है। भावों और स्थायीभावों के चक्र के शासन के अंतर्गत केवल संस्कार ही नहीं, विचार भी आते है अर्थात् बुद्धि, इंद्रियवेग और मनोवेग। पहला बाह्य के बदले आभ्यंतर प्रेरणा से जगता है। इसकी अधिक व्यवस्थित संघटना होती है और वह अधिक उत्तेजित होता है। लघु चक्र के अंतर्गत बुभुक्षा और काम के जीवनवेग आते हैं। आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के वेग भी इसी के अंतर्गत आएँगे, जैसे विश्राम और शयन के वेग। (इंपल्सेज=जीवनवेग। एपिटाइट्स=इंद्रियवेग। इमोशंस्=मनोवेग या भाव। सेंटिमेंटस्=स्थायीभाव।) स्थायीभाव में भाव

अंतर्भुक्त हैं और भावों में संबद्ध संस्कार, जैसे भय में भागने का संस्कार (इंस्टिंक्ट=संस्कार । टेंडेंसी=प्रवृत्ति); आत्म-प्रदर्शन और आत्माभिभव के वेग।

मूल भाव—भय, क्रोध, ग्लानि, हर्ष, दुःख। जिज्ञासा में यद्यपि जीवनवेग के अधिक लक्षण हैं फिर भी इसे मनोवेग कहते हैं। हर्ष और दुःख के अंतर्गत यदि संस्कार नहीं तो कम से कम सूक्ष्म प्रवृत्तियाँ अवश्य होती हैं। उनमें से कुछ प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं पहले से रहनेवाली किन्हीं प्रक्रियाओं की रक्षा। शिशु के द्वारा स्तन (चूचुक) की खोज और उसका पान बुभुक्षा के संस्कार या इंद्रियवेग है। तब तक पीते रहना जब तक सुख की अनुभूति होती है—यह हर्ष भाव की प्रवृत्ति है। इस प्रकार हर्ष और खेद या तो (१) किसी दूसरे जीवनवेग के अनुवर्ती है अथवा (२) नहीं। दूसरे के उदाहरण भद्दे और सुंदर आलंबनों में मिल सकते हैं।

क्रोध, भय, हर्ष और दुःख एक दूसरे से सूक्ष्मतया संबद्ध भी है।

स्थायीभावों का चक्र—

प्रेम—आलंबन और परिणाम के अनुरूप इच्छारहित कर्म और इच्छारहित चरित्र ; भाव के विशेष स्वरूप के अनुरूप नहीं।

दो अत्यंत विपरीत प्रकार—(१) आत्मरक्षा की प्रवृत्ति। (२) जातिरक्षा की प्रवृत्ति। (३) यद्यपि बच्चों का भरण-पोषण करते हुए माता अपने जीवनवेग की परितुष्टि भी करती है किंतु उसका यह संस्कार इच्छारहित होता है। इसलिये करुणा को इच्छारहित प्रेरणा न मानना चाहिए, जैसा सामान्यतया माना जाता है।

राग और द्वेष एकाकी भाव नहीं हैं। स्पेंसर ने कामवृत्ति-मूलक प्रेम या संस्कार के संयोजकों के अंतर्गत राग, प्रशंसा, रक्षा का आनंद इत्यादि इत्यादि की गणना की है। किंतु प्रेम संयुक्त अनुभूति नहीं है प्रत्युत एक चक्र है, जिसके अंतर्गत भिन्न भिन्न अनुभूतियाँ और भाव संघटित हैं। दांपत्य रति और वात्सल्य रति के अंतर्गत और सब प्रकार के रति-भाव आ जाते है। स्थायीभाव एक व्यक्ति से दूसरे में भाव की अपेक्षा कहीं अधिक परिवर्तित रूप में रहते है। स्थायीभावों के द्वारा व्यक्ति अधिकाधिक आत्मावलंबन की स्थिति में हो जाता है। उनमें एक प्रकार की दृढ़ता आ जाती है। उनमें से अत्यंत प्रमुख ये हैं—

आत्मानुरक्ति जिसके अंतर्गत भाव ही नहीं स्थायीभाव भी आते है। किंतु स्थायीभाव है अहंकार, अपमान, लालसा, धनलोभ, इंद्रियासक्ति या रति, कामसुख।

ये सापेक्षिक स्थायी वृत्तियाँ वे ही हैं जिन्हें हम स्थायीभाव कहते है।— एंजिल। अमूर्त और मूर्त; जैसे सत्य, विज्ञान या कला का प्रेम और गुरुजनों के प्रति प्रेम या श्रद्धा।— वही।

अनुभूति और राग—

राग में हमारी चेतना की अवस्था का अनुकूल और प्रतिकूल तत्त्व या पक्ष। पूर्णरूपेण संमिश्र अवस्था, जब यह घटित होता है, संवेदनात्मक और बोधात्मक तत्त्वों से युक्त अनुभूति है। वुंट और सोयी ने उत्तेजना और शम की निरर्थक योजना की है। क्योंकि वे अनुभूति नहीं विशेषताएँ है, जो चेतना की साधारण क्रिया से संलग्न हैं। जब हम बहुत उत्तजित होते हैं तब हमारे स्नायु कड़े पड़ जाते हैं और हमारा श्वास-प्रश्वास असाधारण हो जाता है। सौंदर्यानुगत स्पंदनातिशय के अभाव में जब स्नायविक शांति रहती है तब हमारी चेतना-प्रक्रियाओं में परि-

वर्तन की गहनता और द्रुतता की चेतना बनी रहती है। ज्ञानात्मक मार्गों से हमें इन विशेषताओं का पता चल जाता है।

क्या रागात्मक स्मृति भी होती है? हम कह सकते है कि किसी निश्चित समय पर हमने हर्ष या पीड़ा का अनुभव किया। किंतु हम राग को इतने स्पष्ट रूप में स्मरण नहीं कर सकते, जैसे हम घटनाओं और दृश्यों को स्मरण कर सकते हैं।

शेली का प्रभाव—

शेली के संगीत ने जब विश्व को विमुग्ध करना आरंभ किया तो कतिपय कवि इस सिद्धांत पर कार्य कर चले कि हममें और इतर मानवजाति में निश्चय ही महान् अंतर है। उनका सिद्धांत था कि हम दूसरी दुनिया के पक्षी हैं और यथाशक्य गान ही करने के लिये है। इसे यों भी कह सकते हैं कि काव्यक्षेत्र अचरज से भरा और भड़कीला पागलखाना हो गया था। अलेक्जेंडर की महत्वाकांक्षा यह थी—

'काव्य का व्यवहार वैसा ही हो जैसे केतु के उदय से सुप्त रजनी का साम्राज्य जगमगा उठता है।'

बेली, डोवेल, स्मिथ प्रकृत लोक के प्राणी थे, उन्माद लोक के नहीं। पर उन्होंने उन्माद को उत्तेजित ही किया। शेली के अनुयायी जिस उच्च लोक का हमारे अधोलोक के लिये गायन कर रहे थे उसका नाम बेली ने 'नकुत्रापि' (नो ह्वेअर=कहीं नहीं) रखा था। बेली का 'घेस्टस' और ब्राउनिंग का 'सॉरडेलो' इस 'नकुत्रापि (कहीं नहीं)' काव्य के उदाहरण है।

काव्य-कला के भेद—

कल्पना के दो प्रकार—(१) नाटकीय कल्पना, (२) प्रगीतात्मक या अंतर्भावात्मक कल्पना। तदनुसार कवि लोग या तो सापेक्ष दृष्टि के होते हैं या निरपेक्ष दृष्टि के।

(१) प्रगीत या सापेक्ष दृष्टि—

(क) शुद्ध प्रगीतकार एक ही वाणी और एक ही स्वर का गान कर सकते हैं अर्थात् वे अपनी ही अनुभूतियों एवं अपने ही भावों से परिप्लुत रहते हैं और चतुर्दिक् व्याप्त विश्वदर्शन नहीं कर पाते।

(ख) प्रबंधकार कवि एक ही वाणी से अनेक स्वरों का गान कर सकता है। उसमें विस्तृत कल्पना होती है फिर भी वह सापेक्ष और अहंभावात्मक होती है। वह सर्वभूत में आत्मभूत को लीन करके उसकी कल्पना करता है। वह अपने ही अहम् को अनेक रूपों में परिवर्तित कर लेता है; कोई दूसरा अहम् नहीं निर्मित करता।

अधिकतर प्रबंधकार और नाटककार इसी श्रेणी के अंतर्गत हैं। समग्र एशियाई कवि एवं भारतीय नाटककार भी सापेक्ष-दृष्टि-संपन्न ही थे।

(२) निरपेक्ष या यथार्थ नाटकीय दृष्टि—

केवल सच्चे नाटककार ही अपने व्यक्तित्व से सर्वथा स्वच्छंद चरित्रों की सृष्टि कर सकते हैं। वे ऐसे सामान्य चरित्रों की सृष्टि करने में नहीं लगते जो अपने ही रूप को भिन्न भिन्न परिस्थितियों में ढालने से बनते है, प्रत्युत वे ऐसे प्राणियों की सृष्टि करते हैं जो उनसे सर्वथा पृथक् होते हैं।

अरस्तू—काव्य का अपरिहार्य आधार आविष्कार है। उसने कार्य-व्यापार के संविधान को ही मुख्य माना है। उसकी धारणा के अंतर्गत समस्त कल्पना-प्रसूत साहित्य आ जाता है, चाहे वह गद्य में हो या पद्य में। उसने कविता को प्रकृति के तथ्यों की कल्पना कहा है।

अफलातून—कविता को मनुष्य के स्वप्नों की कल्पना समझता है, अरस्तू और अफलातून दोनों ने पद्यबद्धता को कम महत्त्व दिया है। दोनों ने आकार की वस्तु पर अधिक जोर दिया है।

डिस्नीसियस—ने उक्त मत का प्रतिपादन किया और इस मत की स्थापना की कि कविता का मूलतः रीति (शैली) से संबंध है।

आधुनिक समीक्षकों ने पद्यबद्धता को तात्त्विक माना है। हीगल (ऐस्थिक) तो यहाँ तक कहते हैं कि छंद कविता के लिये अनिवार्य और मुख्य शर्त है, यह आलंकारिक चित्रोपम पदावली से कहीं विशेष आवश्यक है।

"काव्य-कला का विशिष्ट विधान यह है कि विषय जितना ही आसक्तिपूर्ण, वेगमय या काल्पनिक होगा उतनी ही सावधानी से कविकर्म के विशुद्ध कौशल मात्र से बचने की आवश्यकता होगी। इस नियम का आविष्कार मनुष्य ने नहीं किया है प्रत्युत इसका आधार प्रकृति के नियम हैं।

<u>काव्यात्मक कल्पना</u>—कवि और ही प्रकार की दृष्टि से जीवन को देखता है, उससे मानव-जीवन का रूपांतर हो जाता है तथा वह उच्च हो जाता है। जो ज्योति जल या स्थल पर कभी नहीं दिखाई पड़ी उसे कवि के नेत्र प्रत्यक्ष देखते रहते हैं। कवि ही ऐसा है जिसने जगत् को भड़कीले स्वर्णदेश की भावना से कभी नहीं देखा।

<u>यथार्थवाद</u>—शेली और कीट्स में यथार्थवाद का स्पर्श मात्र है। उनमें जीवन की मुखाकृति के लिये प्रेमपूर्ण नेत्रों का पता नहीं चलता, चाहे वह जीवन प्रकृति का हो चाहे मनुष्य का, वह भी ऐसी स्थिति में जब कि साधारण से साधारण कवियों में यह ललक मिलती है। केवल काव्य-साधन पर ही उनका अनन्य-

साधारण अधिकार है और इससे काव्य का अनुशीलन ललित कला के रूप में करने की उत्कट साध अवश्य उदित होती है। किंतु प्रकृति या मनुष्य का अनुशीलन करने के लिये उसमें बहुत ही कम आकर्षण बच रहता है। यही दूसरे प्रकार का अनुशीलन ऐसा है जिसमें दोनों प्रकार के कवियों की समस्त शक्तियों का सामंजस्य घटित हो सकता है।

यथार्थवाद कवि के लिये केवल विहित ही नहीं है प्रत्युत उसमें तब तक इसकी तात्त्विक जिज्ञासा होनी चाहिए जब तक वह उस उच्च दशा में नहीं पहुँच जाता, जहाँ पहुँचकर वह अपने व्यावहारिक जीवन और काव्य के वर्ण्य स्वर्ग में कोई अंतर न पाए।

अन्य कलाओं की दृष्टि से काव्य की स्थिति—

यवनान देश की इस प्राचीन उक्ति से कि 'काव्य मुखर चित्र है और आलेख (चित्र) मौन काव्य' से आधुनिक चित्र की अति के दोष का समाधान कुछ दूर तक हो जाता है। इस कथन की अवज्ञा करके यवनानियों ने काव्य का अनुशीलन संगीत और नृत्य के साहचर्य से किया। वही काव्यकला 'निर्माण' कही जाने के बहुत पहले से 'गायन' कही जाती रही है।

किंतु कवियों की शब्दजन्य लय संगीत से पृथक् वस्तु है, वह संगीत के नियमों से शासित भी नहीं होती, भले ही लय-प्रेमी कवि निरपेक्ष संगीत के लिये बहरे ही रहे हों, कुछ ने तो उसके प्रति अरुचि ही दिखलाई है। काव्य में आकार के प्रति उल्लास के अंतर्गत प्रधान है आकांक्षा और उस आकांक्षा की पूर्ति। यह सतुकांत पद्यों से बहुत स्पष्ट हो जाता है। मुक्त छंद में भी कवि की लय में यह तत्त्व ही काम करता है।

I

<u>OBJECT OF POETRY</u>:—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति सुख से, अल्प बुद्धिवालों को भी। परिपक्व बुद्धिवाले फिर काव्यानुशीलन क्यों करें जब कि धर्म के लिये वेद-शास्त्र का ही अनुशीलन क्यों न करें। मीठी दवा से यदि काम हो तो कड़वी क्यों करें ?

<u>DEFINITION OF POETRY</u>:—

(1) काव्य-प्रकाश—दोष रहित, गुण सहित और अलंकृत कभी कभी अनलंकृत भी शब्द तथा अर्थ को काव्य कहते हैं।

Definition defective:—A दोष simply restricts a Kavya but does not take away the essence of it. There are many सदोष verses which are reckoned as a good poetry e.g. न्यक्कारो ह्ययमेव etc. which is admitted by the author of the definition himself to be a good Kavya on account of ध्वनि but has faults. Therefore there is अव्याप्ति in the definition. The inclusion of quality in the definition

स्वरूप-लक्षण is unnecessary. A gem does not cease to be a gem for any flaw in it. The adjective सगुणौ of शब्दार्थौ is also improper for गुण relates to रस not to शब्द and अर्थ as admitted by the author himself. The defence that Gunas have indirect relation (उपचार) to शब्द and अर्थ, which are the व्यंजक of रस is also untenable. शब्द and अर्थ have no रस therefore no गुण. रस & गुण have अन्वय-व्यतिरेक relation. Mention of अलंकार is also unnecessary in the definition. अलंकार simply enhances रस which is already existing. In short गुण and अलंकार are both excellences (उत्कर्षकारक) and not स्वरूप-घटक ।

(2) काव्यस्यात्मा ध्वनिः —ध्वनिकार ।

The definition too inclusive for it includes अलंकारध्वनि and वस्तुध्वनि also (अव्याप्ति दोष). If by ध्वनि he meant रसादिध्वनि then there is not possible objection. Then how can such expression of स्वयंदूती as खबर उड़ानी है बटोही द्वैक मारे की etc. be called as काव्य ? Because of the रतिभाव suggested.

The essence or soul of Poetry is रस as admitted by old authorities. In कृत्याकृत्य-प्रवृत्तिनिवृत्तिउपदेश the word उपदेश does not signify विधि or आज्ञा but कांतासंमित उपदेश (The use

of the word उपदेश however is not proper, for Poetry is प्रवृत्तिनिवृत्त्युत्पादक). In अग्निपुराण we find the statement वाग्वैदग्ध्य-प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्. व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट also remarks—"काव्यस्यात्मनि सङ्गिनि रसादि रूपे न कस्यचिद्विमतिः". ध्वनिकार also observes—"न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपदलाभः". Objection—If only सरस is Poetry then how can नीरस portions in रघुवंश etc. may come under poetry. Answer—नीरस verses are रसवान् through the efficasy of सरस verses in the same way as नीरस words in a verse have रस through the रस of the entire verse. The verses that have only अलंकार and गुण are sometimes spoken of as Poetry by virtue of mere resemblance with the michanism of poetry.

(3) रीतिरात्मा काव्यस्य—वामन।

This is also objectionable for रीति is simply संघटना, the building up of शरीर, therefore it cannot be आत्मा.

The definition proposed by Vishwanath is—"वाक्यं रसात्मकं काव्यं"। रस includes रसाभास, भाव and भावाभास (consider the definition proposed by जगन्नाथ पंडितराज—"रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्").

II

आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदसमूह वाक्य कहलाता है।

आकांक्षा = demand for complete sense. योग्यता = rational connection. आसत्ति = proximity.

Without आकांक्षा such grouping of words as "Elephant, man, horse" will be a वाक्य. योग्यता—पदार्थों के परस्पर संबंध में बाध का न होना. If one say "आग से सींचता है" there will be no वाक्य. आसत्ति requires that there should be no व्यवधान either of time or of other पदार्थ between the two words which are closely connected in sense. Such words as कुत्ते को पीया मारा पानी do not constitute a वाक्य for the word पीया intervenes between कुत्ते को and मारा. In the same way a word pronounced in the morning and another in the evening will not make up a वाक्य.

महावाक्य—grouping of many Vakyas connected with one another is called महावाक्य e.g. रामायण, रघुवंश etc.

अर्थ of three kinds वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य and the powers conveying them are respectively called अभिधा, लक्षणा and व्यंजना.

अभिधा

अभिधा—The power which conveys the primary meaning attached to word—Symbol (संकेत) is the first and foremost. The mental operation involved is called शक्तिग्रह or संकेतग्रह।

संकेत-ग्रह is effected in many ways—by observation and practice as in a child, by context, by instruction etc. etc. Words are of four kinds—जाति शब्द, गुण शब्द, क्रिया शब्द and यदृच्छा शब्द or द्रव्य शब्द. These are comprehended by the अभिधा शक्ति of words. जाति शब्द is a common name of an individual denoted by its genus (जाति) e.g. गो denotes an individual by the शक्तिग्रह in गोत्व जाति. In common names शक्तिग्रह is of genus not of individual. If संकेतग्रह be presumed of individuals then either all the individuals of a genus of all places and of all times—be comprehended seperately at one and the same time or only one particular

individual. The former position will be untenable on account of आनंत्य दोष for a congregation of all the individuals of a genus at one place and time is impossible. If we take common name to be a symbol of one individual then every individual of the genus will require a seperate name. On the other hand if it be asserted that by virtue of शक्तिग्रह of one individual all other individuals of the genus comprehended without any शक्तिग्रह the assertion is wrong for there can be no concept without शक्तिग्रह. Therefore this second argument also fails on account of व्यभिचार दोष. If by the word which is taken to be the symbol for one individual, we comprehend all other individuals of the genus, there is nothing to prevent us from comprehending horse, elephant etc., by the term गो. This is व्यभिचार दोष.

(Compare this with the "Doctrine of Universals" of the old logicians of the West. Of the three theories nominalism, realism and conceptualism, the author appears to favour in a modified form the view of Realists. Now the controversy is set at rest by transferring the subject to the domain of Psycho-

logy which recognizes two modes of mental operation—comprehension of mere meaning and formation of image—Philology also distinguishes between the symbolic and presentative aspects of language).

लक्षणा

मुख्यार्थ का बाध होने पर (See योग्यता) रूढ़ि के कारण या किसी प्रयोजन के लिये मुख्यार्थ से संवद्ध अन्य अर्थ का ज्ञान जिस शक्ति के द्वारा होता है वह लक्षणा है।

The reasons for comprehending other meaning are अन्वयानुपपत्ति (want of rational synthesis) and the connection of मुख्यार्थ with लक्ष्यार्थ. अन्य therefore does not mean entirely disconnected for in उपादान लक्षणा, मुख्यार्थ is also involved in लक्ष्यार्थ. The four [three] essentials of लक्षणा as (1) Incompatibility of primary sense, (2) Connection of मुख्यार्थ with लक्ष्यार्थ, (3) रूढ़ि or प्रयोजन. These three are reasons for लक्षणा. पंजाब वीर है and गावँ पानी में बसा है are examples of रूढ़ि and प्रयोजन respectively. In the second example the motive (प्रयोजन) for लक्षणा is the coolness and sacredness that are व्यंग्य. There must always be either प्रयोजन or रूढ़ि as reason for लक्षणा.

Remarks

There should be no vagueness in the meaning of बाध. Properly speaking it should be confined to the "want of योग्यता" (want of rational or logical connection in the wording of the statement), but by the term is also understood inapplicability of th· statement (though rationally sound) to the particular circumstance of the case, as is evident from the example आपने बड़ा उपकार किया etc. This has been called an example of वाक्यगत लक्षणा. In my opinion वाक्यगत is no लक्षणा but व्यंजना. The example will be of लक्षणा if the sentence is precided by some such expression as आपने मेरा घर ले लिया etc.

Rejection of the example of रूढ़ि given by काव्यप्रकाश।

The example is कर्म में कुशल. Mammat alludes to the derivative meaning (व्युत्पत्ति-निमित्त अर्थ) of कुशल and takes it for मुख्यार्थ or वाच्यार्थ. But what is to be taken into account is the common acceptation of the term (प्रवृत्ति-निमित्त). Otherwise one may see लक्षणा in the use of the word गो also (गौ = that which goes).

लक्षणा of two kinds—उपादान लक्षणा and लक्षण-लक्षणा.

<u>उपादान लक्षणा</u>—वाक्यार्थ में, अंग रूप से अन्वित मुख्यार्थ जहाँ अन्य अर्थ का आक्षेप कराता है वहाँ मुख्यार्थ के भी बने रहने के कारण उपादान लक्षणा कहलाती है।

In उपादान लक्षणा we must clearly understand what is meant by अंगरूप से अन्वित. The अन्वय is of अर्थ i.e. object signified by the word, not of word, e.g. the thing लाल पगड़ी is retained in the thing लाल पगड़ीवाले सिपाही. But in the example इस घर से बड़ी आशा है, though the word घर is retained in the expression घर के लोग but the thing घर has nothing to do with the fact.

(also called, अजहत्स्वार्थावृत्ति) e.g. श्वेत दौड़ा, भाले घुसते हैं।

<u>Examples</u> रूढ़ि में उपादान लक्षणा—काले ने काटा।
प्रयोजन में „ „ —लाल पगड़ी आई, सब भागे।

In the second example the suggested (व्यंग्य) प्रयोजन is आतंकातिशय.

लक्षण-लक्षणा—जहाँ किसी शब्द का मुख्यार्थ अपने स्वरूप का समर्पण करके अन्य या लक्ष्य अर्थ का उपलक्षण मात्र बन जाय वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है.

e g. पंजाब वीर है and गंगा पर घर है (जहत्स्वार्था वृत्ति)

N. B. उपादान में मुख्यार्थ का अन्वय-अंगरूप से-लक्ष्यार्थ के साथ होता है पर लक्षण-लक्षणा में नहीं.

Examples—रूढ़ि में लक्षण-लक्षणा—इस घर से बड़ी आशा है।

प्रयोजन में ,, ,,—आपका गावँ बिल्कुल पानी में बसा है।

(Remarks—प्रयोजनवती लक्षणा may also be a रूढ़ि therefore a third division. रूढ़ि प्रयोजनवती लक्षणा appears neccessary. Such idioms as सिर पर क्यों खड़े हो ? वह उसके चंगुल में है etc. etc. are typical examples.)

Sometimes the लक्ष्यार्थ has a quite contrary meaning e.g. when a man describing the evil done by another addresses him thus-आपने बड़ा उपकार किया, सज्जनता की हद कर दी.

लक्ष्यार्थ—अपकार and दुर्जनता। व्यंग्यार्थ—their excessiveness.

Now a question arises whether there will be a लक्षणा in case the evil done is not described in words but simply understood by both persons. Another division of लक्षणा—सारोपा and साध्यवसाना based on similitude (आरोप and अध्यवसाय).

आरोप—उपमेय का उपमान के साथ इस प्रकार अभेद कथन कि उपमेय भी बना रहे निगीर्ण या आच्छादित न हो e.g. यह बालक सिंह है.

अध्यवसान—उपमेय को हटाकर अभेद ज्ञान द्वारा उपमान को उपस्थित करना, जैसे एक सिंह मैदान में आया. जिसमें

आरोप (Superim position) हो वह सारोपा और जिसमें अध्यवसान हो वह साध्यवसाना लक्षणा है.

<u>रूढ़ि में सारोपा उपादान लक्षणा</u>—(The example अश्वः श्वेतो धावति will not do in Hindi) e.g. गूदड़ साँई. The use of the word is रूढ़ि in this sense. गूदड़ retains its वाच्यार्थ as a part of लक्ष्यार्थ therefore उपादान "साँई" without losing its primary significance (अनिगीर्ण स्वरूप) has the आरोप of गूदड़ therefore सारोपा.

<u>प्रयोजन में सारोपा उपादान लक्षणा</u>—यह आम गूदा ही गूदा है (एते कुन्ताः प्रविशन्ति will not serve as a good example in Hindi).

<u>रूढ़ि में सारोपा लक्षण-लक्षणा</u>—अरब लोग लड़ाके थे.

(अरब=अरब देशवासी. The word अरब is उपलक्षण of the inhabitant of Arabia. The identity of अरब with लोग makes सारोपा)

<u>प्रयोजन में सारोपा लक्षण-लक्षणा</u>—घृत आयु है. जल जीवन है. वह मनुष्य हमारा दहना हाथ है etc. etc. In these examples आयु, जीवन, हाथ have lost their primary meaning and are used as mere उपलक्षण therefore लक्षण-लक्षणा. The identity of घृत, जल, मनुष्य with आयु, जीवन and हाथ is the आरोप. वह गऊ आदमी है is an example based on सादृश्य.

N. B. सारोपा लक्षणा is the basis (बीज) of रूपकालंकार.

उपादान लक्षणा ? In उपादान-लक्षणा the inclusion of वाच्यार्थ should be in the लाक्षणिक word. The लक्षणा is here in the राजकुमारा (persons resembling राजकुमारा in dignity) not in एते.

<u>प्रयोजन में गौणी सारोपा उपादान लक्षणा</u>—सब नवाब ही तो जा रहे हैं किसको बतावें.

<u>रूढ़ि में सारोपा गौणी लक्षण-लक्षणा</u>—गौड़ेंद्र कंटक को राजा निकाल रहा है.

The word कंटक by the power of similarity is an उपलक्षण of a harassing insignificant enemy. कंटक is generally used for an enemy.

<u>प्रयोजन में सारोपा गौणी लक्षण-लक्षणा</u>—वह आदमी बैल है. वह गऊ आदमी है.

<u>रूढ़ि में गौणी साध्यवसाना उपादान लक्षणा</u>—कत्थर गूदड़ सोते हैं—दुशालेवाले रोते है.

<u>प्रयोजन में गौणी साध्यवसाना उपादान लक्षणा</u>—एक हड्डी की ठठरी सामने आकर खड़ी हुई.

<u>रूढ़ि में गौणी साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा</u>—कंटक दूर करो.

प्रयोजन में " " " —एक बैल के मुँह क्या लगते हो !

<u>Another division of प्रयोजनवती लक्षणा</u>—

प्रयोजनवती लक्षणा—are of two kinds गूढ़ and अगूढ़ according to the व्यंग्य being गूढ़ or अगूढ़.

Not so important

आपने बड़ा उपकार किया etc. is an example of गूढ़. जगह कोतवाली सिखाती है is an example of अगूढ़ for the लक्ष्यार्थ of सिखाती है is easily intelligible.

Another Division of प्रयोजनवती—धर्मिगत and धर्मगत. If the suggested fact (व्यंग्य प्रयोजन) related to substance, लक्षणा is धर्मिगत e.g. मैं कठोर हृदय "राम" हूँ, सब कुछ सह लूँगा. Here the word राम in its primary significance is superfluous Here by लक्षणा it means दुःखसहनशील. Uniqueness of राम is suggested. In the example पानी में घर बसा है excess of coolness (property) is suggested, therefore लक्षणा is धर्मगत.

Conclusion.

It will be observed that the many divisions of लक्षणा are made from different points of view of consequence independent of one another. Their combinations however may result in as many divisions as 80. The main divisions are—

(1) रूढ़ा and प्रयोजनवती.
(2) उपादान and लक्षण-लक्षणा.
(3) सारोपा and साध्यवसाना.
(4) गौणी and शुद्धा.

व्यंजना

That शक्ति which suggests a meaning not conveyed by अभिधा, लक्षणा or तात्पर्य वृत्ति is व्यंजना. The operation of व्यंजना is also called ध्वनन, गमन and प्रत्यायन. The शक्ति may be located either in शब्द, अर्थ, प्रत्यय or उपसर्ग (दफ्तर के चप-

रासियों तक ने कुछ चंदा दिया may be an example of प्रत्यय-निष्ठ शक्ति).

Three kinds of व्यंजना have already been noticed वस्तु-व्यंजना, भाव-व्यंजना and अलंकार-व्यंजना.

Another division is शाब्दी and आर्थी. Of these शाब्दी व्यंजना has two subdivisions—अभिधा-मूलक and लक्षणा-मूलक ।

शाब्दी व्यंजना—

(१) अभिधा-मूलक—'संयोग' आदि के कारण अनेकार्थी शब्दों का एक अर्थ निर्दिष्ट कराके जब अभिधा रुक जाती है और उसके उपरांत जब उन्हीं शब्दों को लेकर दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है तब वह दूसरा अर्थ अभिधा-मूलक व्यंजना द्वारा निकलता है; e.g. वह राजा भद्रात्मा है, उसने शिलीमुखों का संग्रह किया है, दान से उसका कर सुशोभित है.

Note—जहाँ दूसरे अर्थ का बोध कराना भी इष्ट होता है, वहाँ श्लेष अलंकार होता है पर जहाँ दूसरे अर्थ की यों ही प्रतीति मात्र होती है वहाँ अभिधा-मूलक शाब्दी व्यंजना ही समझनी चाहिए.

अभिधा-मूलक व्यंजना—is that which suggests another meaning after the वाच्यार्थ has been determined by arriving at one meaning out of many of a word through संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्द का संनिधान, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति and स्वर etc.

Examples.

शंख-चक्रवाले हरि—संयोग.

विना शंख-चक्र के हरि—विप्रयोग.

भीम अर्जुन—साहचर्य.

कर्ण अर्जुन—विरोधिता (वैर).

भव-बाधा दूर करनेवाले स्थाणु को नमस्कार—अर्थ (=प्रयोजन i. e. भवबाधा शांति).

देव, सिंहासन पर विराजिए—प्रकरण.

मकरध्वज कुपित हुआ—लिंग (चिह्न here कोप).

मधु से मत्त कोकिल—सामर्थ्य (मधु-वसंत).

In शाब्दी the suggested meaning is confined to a particular word and does not go further.

लक्षणा-मूलक व्यंजना—i. e. व्यंजना based on लक्षणा. Example उसका घर बिल्कुल पानी मे है. Here the लक्ष्यार्थ of पानी is पानी का तट. The suggested fact is the excess of dampness or coolness.

आर्थी व्यंजना

In आर्थी व्यंजना the suggested meaning is comprehended by taking into consideration वक्ता, बोधव्य (the person addressed) वाक्य, अन्य का संनिधान, वाच्य (अर्थ), प्रस्ताव (प्रकरण), देश, काल, काकु, चेष्टा etc.

Examples.

(1) वक्ता, वाक्य, प्रकरण, देश और काल द्वारा—"शरद ऋतु आ गई, रास्तों का पानी सूख गया, लंका यहाँ से थोड़ी ही

दूर है, वानरों का दल भी पूरा एकत्र हो गया, अब हम लोग क्यों बैठे हैं ?"

Here the suggested fact is 'make the invasion'.

(2) बोद्धव्य की विशेषता द्वारा—चंदन छूट गया है, अंजन नहीं रह गया है, शरीर भी पुलकित है, हे झूठी दूती, तू वापी स्नान करने गई थी, उस अधम (नायक) के पास नहीं गई थी ? By means of विपरीत लक्षणा we arrive at the meaning "तू अवश्य गई थी". The condition of the दूती suggests the fact that she had an intercourse with the "नायक".

(3) अन्य-संनिधि की विशेषता द्वारा—देखो इस कुंज के सामने वन-मृग कैसे खिलौने की तरह निश्चल बैठे हैं। Here the नायिका suggesting the loneliness (निर्जनता) of the place also suggests संकेत-स्थल.

(4) काकु से—ऐसे समय में भी वह न आवेगा (अवश्य आवेगा) [व्यंग्य]

(5) चेष्टा से—गुरुजनों के बीच नायिका ने नायक की ओर भाव से देख लीला कमल का मुख बंद कर दिया। (संकेत का समय संध्या है is the fact–व्यंग्य).

Observations

(1) It is to be noted that there can be no लक्ष्यार्थ in लक्ष्यार्थ and no अभिधेयार्थ in अभिधेयार्थ, but व्यंग्यार्थ may contain further व्यंग्य within itself. This shows that अभिधा and लक्षणा have direct or closer relation to शब्द and व्यंजना has

only indirect relation, i.e., relation through अभिधेयार्थ. For the rule is शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।

Objection—We arrive at लक्ष्यार्थ after वाच्यार्थ is known. How can the former be said to have direct relations to शब्द or पद ?

Answer—लक्ष्यार्थ is a mere transformation of वाच्यार्थ whereas व्यंग्यार्थ is a seperate entity.

अर्थमूलक व्यंजना has three subdivisions—(1) in वाच्यार्थ, (2) in लक्ष्यार्थ, (3) in व्यंग्यार्थ; the examples being (1), (2) and (3) respectively. (1) [Query—Does not the 3rd division व्यंग्य में व्यंग्य go against the rule. "In conveying the meaning of a शब्द the same वृत्ति cannot be revived after it has given out a meaning and thus ceased to operate (शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः) No. For the rule is applicable to शब्द not to अर्थ.]

तात्पर्य-वृत्ति

The वृत्ति which brings out the meaning of the entire वाक्य by effecting the synthesis of different meanings denoted by each seperate word is तात्पर्य-वृत्ति.

अभिधा शक्ति के एक एक पदार्थ को अलग अलग बोधन करके विरत हो जाने पर उन अलग अलग पदार्थों को परस्पर

संबद्ध करके समूचे वाक्य का अर्थ बोधन करनेवाली वृत्ति तात्पर्य-वृत्ति है.

There are two schools—one admitting this वृत्ति and the other denying. अभिहितान्वयवादीs recognize this वृत्ति and hold that each word (पद) of a वाक्य denotes seperately an independent (अनन्वित) meaning and after this all the meaning so given out enter into the synthesis of one वाक्यार्थ—the meaning of the entire sentence old Naiyayiks, Mimansaks (e. g. कुमारिल भट्ट) and good many others i. e. the majority adhere to this view and so do the Rhetoricians. But अन्विताभिधानवादीs do not recognize this तात्पर्य-वृत्ति. They hold that each word in a वाक्य denotes an अन्वित (Synthetic) meaning and there is no necessity of any further Synthesis (अन्वय).

III

(Chapter IV)

ध्वनि

The word ध्वनि is used in four different senses—(1) That in which व्यंग्यार्थ predominates i. e., good काव्य, (2) By means of which व्यंग्यार्थ is suggested i. e., the predominant

व्यंग्य, (3) The suggestion of रसादि and (4) the suggested रसादि ।

The word is taken here in the first sense and defined thus—जिस काव्य में व्यंग्य अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधान या अधिक चमत्कारक हो वह ध्वनि है. जिसमें व्यंग्य अर्थ गौण हो वह गुणीभूत व्यंग्य है.

ध्वनि is of two kinds—(1) लक्षणा-मूलक or अविवक्षित-वाच्य and (2) अभिधा-मूलक or विवक्षित-वाच्य. (अविवक्षित = बाधित).

<u>लक्षणामूलक or अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि—</u>

अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि is of two kinds—(1) अर्थांतर-संक्रमित-वाच्य and (2) अत्यंत-तिरस्कृत-वाच्य ।

<u>Examples—</u>

<u>अर्थांतर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि</u>—आम आम ही है, इमली इमली ही है, कोइल कोइल ही है, कौआ कौआ ही है. Here the use of the words आम, कोइल etc. Second tune is लाक्षणिक implying "of sweet taste" and "of sweet song" etc. These लाक्षणिक meanings are not entirely different from the primary meanings वाच्यार्थ but represent particular aspects of the same. The व्यंग्य प्रयोजन is उत्कृष्टता and निकृष्टता. In the अर्थांतर-संक्रमित-वाच्य there should be a सामान्य-विशेष-भाव or व्यापक-व्याप्य-संबंध. The वाच्यार्थ should be सामान्य or व्यापक and लक्ष्यार्थ विशेष or व्याप्य. In other words अर्थांतर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि is based on अजहत्स्वार्था-वृत्ति.

अत्यंत-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि—अंधा दर्पण. कानी चारपाई. बे सिर पैर की बात.

दर्पण has no possibility of possessing eyes nor बात of possessing सिर पैर. Therefore वाच्यार्थ is entirely discarded. अत्यंत-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि is basde on जहत्स्वार्था वृत्ति।

N. B. अत्यंत-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि should not be confused with अभिधामूलक ध्वनि by the mere existence of वैपरीत्य or contrary meaning. The वैपरीत्य in लक्षणा is self evident whereas in the अभिधामूलक ध्वनि the contradiction is apprehended after the circumstances of the case has been realised. Take this example—

भगत जी! बेधड़क घूमिए। उस कुत्ते को जो तुम्हें तंग किया करता था नदी किनारे के उस कुंज में रहनेवाले सिंह ने मार डाला।

This is an example of अभिधामूलक not of विपरीत लक्षणामूलक अत्यंत-तिरस्कृत-वाच्यध्वनि. The examples of the latter will be the following :—

(a) क्या भरा हुआ सरोवर है कि लोग लोट लोट कर नहा रहे हैं।

(b) यदि यमयातना से प्रेम है तो ईश्वर का भजन न करना।

In the first example भरा हुआ is instantly known as sucaning सूखा हुआ. In the same manner in example (b) the निषेध is taken as

विधि without any stretch of comprehension. Not so the example भगतजी etc. in which the निषेध is apprehended after प्रकरणादि पर्यालोचन. Therefore there is no लक्षणा. The rule is जिस वाक्य में पदार्थों (meanings of words) संबंध अनुपपन्न होता है उसी में लक्षणा होती है। जहाँ पदों के मुख्य अर्थ का अन्वय हो जाने के उपरांत अवसर या प्रसंग के विचार से बाध की प्रतीति होती है वहाँ लक्षणा नहीं हो सकती।

अभिधामूलक or विवक्षित-वाच्य-ध्वनि—

Of two kinds—असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य and लक्ष्य-क्रम व्यंग्य।

(a) असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य—The examples are रस, भाव, रसाभास, भावाभास.

(N. B. It shows the innumerability of Rasas and Bhavas, the author alludes to चुंबन, आलिंगन etc. But विभाव and अनुभाव are always वाच्य, never व्यंग्य. Only स्थायी and संचारी can be व्यंग्य.)

(b) संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य ध्वनि of three kinds—(1) शब्द-शक्त्युद्भव ध्वनि, (2) अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि and (3) उभयशक्त्युद्भव ध्वनि.

(1) शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि of two kinds वस्तुरूप and अलंकाररूप.

(a) वस्तुरूप Example (स्वयंदूती वचन)—पथिक ! इन उठे हुए पयोधरों को देखकर यदि ठहरना चाहते हो तो ठहर जाव (पयोधर=मेघ and स्तन).

The व्यंग्य fact is "stay here and enjoy my company" (Query—Is there no रसाभास व्यंग्य in this expression ? In an utterance of स्वयंदूती (Chap. I) Vishwanath admits रसाभास. In the example before us the श्लिष्ट word पयोधर undoubtedly suggests वस्तु only. Now the question is—"Does the suggestion go beyond ?" It does, and offers an example of अर्थमूलक व्यंजना in व्यंग्यार्थ. See P. 11. It is to be admitted, therefore, that by व्यंजना शक्ति may be suggested a series of facts or Bhavas one after another. For instance by अनुभाव a संचारीभाव may be suggested and subsequently by संचारी a स्थायी In the same manner by व्यंग्य वस्तु may be suggested a व्यंग्य भाव or रस.)

(b) शब्द-शक्ति से अलंकार व्यंग्य—The example will be सादृश्य (उपमा) suggested by means of श्लेष (the verses in अन्योक्ति-कल्पद्रुम may serve as example)

(2) अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि—may be either in the form of वस्तु or in the form of अलंकार. Each of these may either be स्वतःसंभवी or कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध. (1) (imaginary) e. g. कौओं को सफेद करनेवाली चंद्रिका which is to be found no where. The different combination of these four ways give rise to twelve forms of अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि.

As these twelve forms may also occur in प्रबंध (e. g. गृद्धगोमायु-संवाद), there will be 24 divisions of अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि.

Example

स्वतःसंभवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य—इस बालक के पिता इस कुएँ का खारा पानी न पिएँगे। मैं झटपट तमालाकुल सोते पर जाती हूँ। पुराने नरसल की गाँठें देह में खरोंट डालें तो डालें। नरसल की खरोंट is the स्वतःसंभवी वस्तु which suggests an endeavour to conceal provable रतिचिह्न.

स्वतःसंभवी वस्तु से व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य—दक्षिण दिशा में जाने से (दक्षिणायन होने से) सूर्य का तेज भी मंद हो जाता है। परंतु उसी दिशा में रघु का प्रताप पांड्य देश के राजाओं से नहीं सहा गया।

Here the possible fact is the mildness of the sun and humiliation of the kings of the South before Raghu's. The suggested figure is व्यतिरेक i. e. Raghu's glory is greater than that of the sun. (the अलंकार is imaginary.)

स्वतःसंभवी अलंकार से स्वतःसंभवी वस्तु व्यंग्य—उस वेणुधारी को दूर से अपनी ओर झपटते देख बलराम ने भी सँभलकर पराक्रम के साथ उसे ऐसे देखा जैसे मत्त मातंग को केसरी देखे।

स्वतःसंभवी अलंकार से कवि० अलंकार व्यंग्य—रण में क्रोध से ओठ चबाते हुए जिस राजा ने शत्रु-नारियों के ओठों को पति के प्रगाढ़ दंतक्षत की व्यथा से छुड़ा दिया।

How can he protect the lips of others who is wounding his own lips स्वतःसंभवी विरोधालंकार. The suggested figure is समुच्चय—इधर ओठ चबाए उधर शत्रु मारे गए.

<u>कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से व्यंग्य वस्तु</u>—युवतियों की ओर लक्ष्य रखनेवाले मुखों से युक्त, नव-पल्लव-रूप पत्र (पंख) वाले नए नए आम के मौरों के बाण वसंत में कामदेव तैयार करता है।

Here the arrows of the archer cupid are mere fancy of the poet suggesting कामोद्दीपन काल.

<u>कवि-प्रौढ़० वस्तु से अलंकार व्यंग्य</u>—हे वीर ! केवल रात्रि में ही चंद्रमा की किरणों से प्रकाशित होनेवाले भुवनमंडल को अब आपकी कीर्ति दिन-रात शोभित कर रही है।

Here the imaginary thing illumination of glory suggests the figure व्यतिरेक i.e. the glory is more pervading than moonlight.

<u>कवि-प्रौढ़० अलंकार से व्यंग्य वस्तु</u>—उस समय रावण की मुकुट-मणियों के बहाने राक्षस-श्री के आँसू पृथ्वी पर गिरे।

The falling of jewels from crown is a bad omen. The figure अपह्नुति presenting the material object Sri's tears is imaginary. Therefore it is कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध. It suggests the fact that the power of Rakshasas is going to be destroyed.

कवि-प्रौढ़० अलंकार से व्यंग्य अलंकार—हे त्रिकलिंग-देश-तिलक ! आपकी अकेली कीर्तिराशि इंद्रपुरी की स्त्रियों के अनेक आभूषणों के रूप में परिणत हो गई—चोटी में मल्लिका के पुष्प हुई, हाथ में श्वेत कमल और गले में हार और शरीर में चंदन-लेप।

Here on account of आरोप the figure रूपक is imaginary which suggests the figure विभावना. "Living on earth you do good to beings of heaven".

(The author assigns a seperate place to the example of speeches of characters (नायक etc.). He holds them to be of greater effect, coming, as they do, from persons actually feeling. रसगंगाधर does not admit this.)

कवि-निबद्ध वक्ता की प्रौढ़ोक्ति से सिद्ध वस्तु द्वारा व्यंग्य वस्तु—हे सुमुखि ! इस सुग्गे के बच्चे ने किस पर्वत पर कितने दिनों तक क्या तप किया है कि यह तुम्हारे ओठ के सदृश लाल बिंब फल का स्वाद ले रहा है। The penances of a parrot are imaginary, suggesting the fact that the pleasure of enjoying that woman's lips is to be won by great persuances.

(Though there is प्रतीप अलंकार in the verse it is not suggestive of the व्यंग्य fact.)

वक्ता की प्रौ० वस्तु से व्यंग्य अलंकार—हे सखि ! वसंत में काम के बाणों ने करोड़ों की संख्या प्राप्त करके पंचता छोड़ दी और वियोगिनियों को पंचता प्राप्त हुई।

The poet's fancy is—Cupid's arrows have multiplied by millions causing the death of Viyoginis. It suggests the अलंकार उत्प्रेक्षा.

(The पंचता of arrows appears to have been transferred by Viyogins.)

वक्ता के प्रौ० सिद्ध अलंकार से व्यंग्य वस्तु—हे क्रोधशीले! चमेली की कली पर गूँजता हुआ भ्रमर ऐसा मालूम होता है मानो कामदेव की विजय-यात्रा का विजयशंख बजा रहा है।

The उत्प्रेक्षा अलंकार is a production of poet's fancy and suggests the fact that it is time for love, not for मान.

वक्ता की प्रौ० अलंकार से व्यंग्य अलंकार—हे सुंदर! हजारों स्त्रियों से भरे हुए तुम्हारे हृदय में अवकाश न पाकर वह कामिनी और सब काम छोड़कर दिन-रात अपने दुर्बल शरीर को और भी दुर्बल बना रही है। The काव्यलिंग अलंकार (not finding room in the Nayak's heart) is a fancy suggesting another अलंकार, विशेपोक्ति (She though lean and tender does fail to find room in his heart.)

(3) उभय-शक्त्युद्भव ध्वनि—has no subdivision and is only वाक्यगत. The other two divisions (शब्दशक्त्युद्भव and अर्थशक्त्युद्भव) are both पदगत and वाक्यगत (The अन्योक्ति on वसंत in अन्योक्ति-कल्पद्रुम will serve as an example. In that verse words माधव and द्विज cannot be replaced by a syno-

nymn, hence शब्दशक्त्युद्भव, but words can be replaced by words of identical meaning.)

पदगत and वाक्यगत ध्वनि

The ध्वनि located in one पद only of a verse is पदगत and that located in many words (पद) is वाक्यगत. (The classification does not appear to be logical. The व्यंग्य based on the use of particular word or words should be termed पदगत.)

Examples.

अर्थांतर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि पदगत—उसी के नेत्र नेत्र होंगे जिसके सामने यह तरुणी होगी।

अर्थांतर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि वाक्यगत—देख ! मैं तुझसे कहता हूँ, यहाँ विद्वानों की मंडली है अपनी बुद्धि को स्थिर करके काम करना। (लक्ष्यार्थ—मैं = तुझसे ज्ञान-वृद्ध और तेरा हितकारी; तुझसे = तू जो अनुभवी और विद्वान् नहीं है। व्यंग्यार्थ—मेरा उपदेश तेरे लिये हितकर है)

असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि पदगत—वह लावण्य ! वह कांति ! वह रूप ! और वह वचनावली ! उस समय तो ये सब अमृतवर्षी थे, परंतु अब अत्यंत संतापकारी हो गए हैं।

(वह suggests first extra-ordinary charm beyond description (वस्तु) and then विप्रलंभ शृंगार (रस); therefore असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य. The word वह though used for times is one and the same word, therefore पदगत ध्वनि.)

शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि पदगत—एकांतवास की आज्ञा देने में तत्पर और मुक्ति देनेवाला सदागम (सच्छास्त्र अथवा अच्छे पुरुष का आना) किसे आनंदित नहीं करता ?

The व्यंग्य fact is पुरुष-समागम. Query—why is there no उपमानोपमेय भाव in this as in the examples अलंकार suggesting fact, because it is not intended (विवक्षित).

शब्दशक्तिमूलक पदगत अलंकार ध्वनि—अलौकिक बुद्धि से युक्त, संपूर्ण पृथ्वी को धारण करनेवाला यह कोई पुरुषोत्तम राजा सुशोभित है।

Here similarity is intended; hence उपमा is व्यंग्य.

अर्थशक्तिमूलक—स्वतःसंभवी वस्तु से वस्तु ध्वनि—तूने अभी सायंकाल स्नान किया है शरीर में शीतल चंदन का लेप किया है, सूर्य अस्त हो गया है (धूप भी नहीं है) और आराम से धीरे धीरे तू यहाँ आई है; तेरी सुकुमारता अद्भुत है जो इस समय तू ऐसी क्लांत हो गई है।

Here the व्यंग्य fact is "thou hast an intercourse with some one". The most suggestive word is अधुना; therefore it is पदगत.

प्रकृतिगत, प्रत्ययगत, उपसर्गगत ध्वनि in असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि

(See the examples P. 191, 192 and 193.)

N. B. The examples however do not make it clear that पदांशगत व्यंग्य may occur only in असंलक्ष्य-क्रम.

In the quotation from अभिज्ञान-शाकुंतल—"चलापांगा दृष्टिं" etc. the word हता: (मरा) has been pointed out as an example of प्रकृतिगत ध्वनि (हन् = मारना). But as this word suggests the व्यंग्य fact after लक्ष्यार्थ, there is लक्षणामूलक ध्वनि; but असंलक्ष्य-क्रम belongs to अभिधामूलक ध्वनि not to लक्षणामूलक.

The following may be taken as examples—प्रत्यय or अव्ययगत—(a) चमारों तक ने चंदा दिया। (b) मुखड़ा, मधुकड़. The examples of व्यंग्य in वर्ण and रचना are to be sought in माधुर्य-व्यंजक वर्ण in वैदर्भी and so on.)

संकर और संसृष्टि ध्वनि—

संकर—Where different sorts of ध्वनि have same आश्रय (शब्द and अर्थ) or interdependent, the ध्वनि is संकर e. g. पीन स्तनों से सुशोभित, दीर्घ और चंचल नेत्रवाली प्रिय के आगमन के महोत्सव में द्वार पर खड़ी हुई मांगलिक-पूर्ण कलश और कमलों की वंदनवार विना यत्न के ही संपादित कर रही है.

Here व्यंग्य रूपक अलंकार (स्तन = कलश and नेत्र = कमल-तोरण) and व्यंग्य शृंगार rest on the same आश्रय.

गुणीभूत व्यंग्य—

व्यंग्य अर्थ या तो अन्य (रसादि) का अंग होता है, या काकु से आक्षिप्त होता है, या वाच्यार्थ का ही उपपादक (सिद्धि का अंगभूत) होता है. अथवा वाच्य की अपेक्षा उसकी प्रधानता

संदिग्ध रहती है, या वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ की बराबर प्रधानता रहती है, अथवा व्यंग्य अर्थ अस्फुट रहता है, गूढ़, अत्यंत अगूढ़ (स्पष्ट) या असुंदर होता है।

Examples

रसादि का अंगरस—स्मर्यमाण शृंगार करुण का अंश। "हा! यह वह हाथ है जो रशना का आकर्षण करता था, कपोलों का स्पर्श करता था etc."

(It is to be noted that in all such examples the whole verse cannot be called a मध्यम-काव्य for there is admittedly रस of which अप्रधान व्यंग्य forms a part. The author admits this P. 202)*

वाच्यार्थ का उपपादक—हे राजेंद्र! पृथ्वी और आकाश के मध्य सर्वत्र प्रकाश करता हुआ वैरि-वंश का दावानल रूप यह आपका प्रताप सर्वत्र जग रहा है। (श्लेष द्वारा शत्रु में बाँस का आरोप व्यंग्य है पर यह व्यंग्य अलंकार वाच्यार्थ दावानल का साधक है).

Similarly if after a suggested similarity. the उपमान is expressly stated, the व्यंग्य loses its importance and becomes a part of वाच्यार्थ. अस्फुट व्यंग्य—"संधि करने में सर्वस्व छिनता है और विग्रह करने में प्राणों का भी निग्रह होता है, अलाउद्दीन के साथ न तो संधि हो सकती है, न विग्रह".

* साहित्यदर्पण (शालग्राम शास्त्री)।

Nothing but साम and दाम can succeed in dealing with Allauddin—the व्यंग्य is not clear.

उपमा or semiletetude व्यंग्य in दीपक, तुल्ययोगिता etc. will be an example of गुणीभूत व्यंग्य not of ध्वनि.

Wherever a गुणीभूत व्यंग्य is a part of a रस, the whole verse is to be taken as ध्वनि. But where it does not form part of a रस but of descriptions (of towns etc.), the whole verse is गुणीभूत व्यंग्य or मध्यम वाक्य e. g. जिस नगरी के ऊँचे ऊँचे प्रासादों में जड़े लाल मणियों का गगनचुंबी प्रकाश यौवन-मद में मत्त रमणियों को बिना संध्या काल के ही संध्या का भ्रम उत्पन्न करके काम-कलाओं से पूर्ण भूपणादि रचना में प्रवृत्त करता है.

The third division of काव्य which is called चित्र is rejected.

IV.

व्यंजना Established.

The Naiyayiks and Mimansaks do not recognize व्यंजना as a seperate वृत्ति. The Rhetoricians recognise this वृत्ति on the ground that after अभिधा and लक्षणा and तात्पर्य्य have done their part then it is that रस, अलंकार or वस्तु is suggested as व्यंग्यार्थ।

<u>अभिधा not sufficient to convey व्यंग्यार्थ</u>—

अभिधा ceases to operate as soon as it has expressed the symbolical meaning, therefore, it is not capable of conveying any further meaning, e. g. रस, अलंकार or वस्तु. Take for instance रस which is said to be suggested through विभाव, अनुभाव etc. Now neither विभाव (e. g. राम, सीता) nor अनुभाव (e. g. कंप) stand as symbol for any रस. रस and विभाव etc. are not identical. They are not one and the same thing. Moreover, if one says, "this is शृंगार रस", the sentence does not suggest any रस at all. On the contrary, mention of the name of रस is a दोष (स्वशब्दवाच्यत्व). All this shows that व्यंग्यार्थ is not conveyed by अभिधा.

It has already been stated that there are two schools of Mimansaks—अभिहितान्वयवादीs, admitting तात्पर्यवृत्ति, and अन्विताभिधानवादीs denying it. Both agree in rejecting व्यंजना as fourth वृत्ति. अभिहितान्वयवादी asserts that अभिधा is so elastic as to include within its range of operation any meaning, however remote and distant. The assertion violates the principle शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः. If one does not recognize the principle it may

be asked, "If अभिधा and तात्पर्य may suffice what is the need of a third वृत्ति, लक्षणा."

अन्विताभिधानवादीs on the strength of their maxim यत्परः शब्दः स शब्दार्थः assert that व्यंग्यार्थ may be fully conveyed by अभिधा. They hold that every वाक्य, whether पौरुषेय or अपौरुषेय, refers to some action. The words of काव्य also refer to action. The result of that action is supreme pleasure. Therefore, तात्पर्य of a poetic वाक्य is supreme pleasure. The तात्पर्य of a poetic वाक्य is nothing but its synthetic meaning. Hence, no need of a separate वृत्ति, व्यंजना.

Refutation—The significance of the word तत्परः is not clear. It may either mean any meaning proceeding from a वाक्य or the तात्पर्य-वृत्ति. If it means the former, there is no dispute, for व्यंग्यार्थ is also a meaning. If it means the latter, it may be asked whether it is the same as the तात्पर्यवृत्ति of the अभिहितान्वयवादी Mimansakas, signifying संसर्गमर्यादा, i.e. connected meaning. If it is the same, it is to be noted that तात्पर्यवृत्ति stops after it has connected the meaning of different words into one synthetic whole. If it is any वृत्ति other than तात्पर्य, then the fourth वृत्ति is admitted whatever you may choose to call it.

If it be said that तात्पर्यवृत्ति conveys the connected meaning and suggested रस etc., at one and the same time, the position is untenable for no one denies that the relish of रस comes after विभाव, अनुभाव etc. and it is in this sense that विभाव, अनुभाव have been called कारण of रसनिष्पत्ति.

लक्षणा not sufficient to convey व्यंग्यार्थ—

In the example गावँ पानी में वसा है, the लक्षणा simply gives out the meaning पानी के तट पर of the otherwise inexplicable expression पानी में, but does not go to suggested coolness and dampness that are व्यंग्य. Moreover, व्यंग्यार्थ does not always depend on लक्षणा which is resorted to when there is बाध in the अन्वयार्थ.

If it be argued that in लक्षणा the प्रयोजन is also लक्ष्य, the meaning पानी के तट पर will be a वाच्यार्थ and बाधित वाच्यार्थ. But neither पानी के तट पर is the primary meaning of पानी में, nor there is any बाध of the meaning. Moreover, in प्रयोजनवती लक्षणा some प्रयोजन or other is always necessary. If in the example वह गावँ पानी में वसा है the dampness and coolness be held to be a लक्ष्यार्थ, what is the प्रयोजन ? That प्रयोजन, if there be any, will also be लक्ष्य. In this way there will be अनवस्था दोष.

One may, however, urge that लक्षणा indicates अर्थ with प्रयोजन. But अर्थ and प्रयोजन being different they cannot be indicated at one and the same time. One must precede the other.

व्यंग्यार्थ is quite different from वाच्यार्थ—

The difference may be in बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीति, काल, आश्रय, विषय etc.

बोद्धा—वाच्यार्थ may be easily comprehended by grammarians, logicians etc., but व्यंग्यार्थ is comprehended by सहृदय people only.

स्वरूप—By व्यंजना a विधिवाक्य is often taken to mean निषेध.

संख्या—A व्यंग्य वाक्य conveying different senses to different persons involves variety, i.e. number, e.g. सूर्य अस्त हुआ will ordinarily mean the time of evening but being a दूती-वाक्य it suggests for going to a lover.

निमित्त—वाच्यार्थ is comprehended by means of common sense, whereas व्यंग्यार्थ requires a natural genious (प्रतिभा).

कार्य—वाच्यार्थ enables only to cognise a fact or thing but व्यंग्यार्थ produces relish.

काल—व्यंग्यार्थ is preceded by वाच्यार्थ, therefore कालभेद.

आश्रय—वाच्यार्थ lies in a word only but व्यंग्यार्थ may be in a word, part of a word, meaning, in letters or even in arrangement of letters.

विषय—प्रिया का व्रणयुक्त ओष्ठ देखकर किसके मन में क्षोभ न होगा। हे भ्रमरयुक्त पद्म को सूँघनेवाली निवारित वामा, अब तू सहन कर। Here in view of वाच्यार्थ the object or विषय appears to be नायिका but the object of व्यंग्य is नायक for whose satisfaction the words are spoken.

अभिधा and लक्षणा enable us to cognize things already existing, but no रस exists before the words have excercised their functions in a particular manner. This fundamental difference is to be always borne in mind. रस has no existence before it is suggested. There is no pre-existing thing or fact which अभिधा or लक्षणा may indicate. रस is really relish or feeling of pleasure produced in the mind of the hearer which has no existence before it is produced.

महिमभट्ट, the author of व्यक्तिविवेक (a treatise on rhetoric) rejects व्यंजना, asserting that व्यंग्यार्थ is nothing but अनुमान. He argues as follows—Just as we infer one thing from another we infer रस from विभाव, अनुभाव and संचारी which are कारण, कार्य and सहचारी of the

Bhavas. By means of पूर्ववत्, शेषवत् and सामान्यतोदृष्ट अनुमान (inference of कार्य from कारण, of कारण from कार्य, of particular phenomena from general, i.e. knowledge of one thing from the perception of another with which it is commonly seen fire with smoke) विभाव, अनुभाव and संचारी lead to the inference of रति etc. which produce रस. Take for instance the love of Sita towards Ram. It may be put in the form of a proposition thus—

Sita cherished love of Ram (प्रतिज्ञा).

For she casts amorous glances at Ram (हेतु).

He who has no such love does not look in this way, e.g., मंथरा (दृष्टांत).

Therefore Sita cherishes love towards Ram (उपनय).

This अनुमान or inference of love rising to a state of relish (आस्वाद पदवी) is शृंगार रस.

This means that inference of a Bhava leads to रस i.e. we first infer a Bhava and then to relish रस. In other words they stand in the relation of cause and effect (कार्यकारण भाव). We have first the cognizance of विभाव etc., then we infer भाव and subsequently arrive at रस which is nothing but a place of

अनुमान. But it has already been said that रस is असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य. महिम भट्ट meets this objection by saying that there is undoubtedly a क्रम or order, though imperceptable. Our contention is that mere knowledge of the fact that Sita loves Ram is not रस. अनुमान being a knowledge can be converted only into knowledge of some sort or other. If we come to any other mental state, it must be by some other process.

It may be urged that by one inference we come to the knowledge of Ram and Sita's love and by further inference we come to relish रस. The process of inference will be the same as यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः. We may say यत्र यत्र रामादिगतानुरागज्ञानं तत्र तत्र रसोत्पत्तिः. But this is fallacious. There is no व्याप्तिग्रह here. रस is not invariably co-existent with the अनुमान of a भाव as fire with smoke. For logicians, grammarians etc. can infer that love exists between such and such persons but never enjoy श्रृंगार रस. The हेतु being व्यभिचारी is हेत्वाभास, therefore there can be no valid अनुमान. Moreover, the existence of one's own mental state to be known by a process of inference is absurd.

Finally, the fact that the existence of a भाव can be known by a process of inference does not make रस अनुमेय, for रस is quite different from mere knowledge of the existence of a भाव.

[Observations—In the light of modern psychology a good deal of the discourse will appear to be a mere waste of words. One who knows the distinction between cognition (knowing) and feeling requires no argument to convince him that रस is one thing and the knowledge of a भाव another thing. रस is a feeling of pleasure of a particular description, not to be conveyed by any process of reasoning. Much of the confusion is due to the careless use of the word व्यंजना by means of which रस is said to be suggested. In वस्तुव्यंजना and अलंकारव्यंजना the word is used to denote the function of suggesting the knowledge of a fact or thing. But in रसव्यंजना an altogether different function is attributed to व्यंजना. It is represented as offering suggestion to relish a particular भाव as रस. In one case it is the persons of keen understanding who comprehend the fact. In the other it is the persons of sym-

pathetic nature (सहृदय) who take the suggestion and enjoy रस. The word व्यंजन literally means "making manifest" (प्रकाशन). Manifestation implies that the thing to be made manifest already exists. But as has been said, रस does not exist before it is experienced. The manifestation is of latent Bhavas in the mind of the hearer in the form of रस. So, making manifest simply means producing a feeling. Therefore, the use of the word व्यंजना in रसव्यंजना is not very accurate.

In रसाः प्रतीयंते the word प्रतीयंते is to be taken in modified sense. As a matter of fact रस is produced, not made known. Though rhetoricians, adopting a dogmatic attitude maintain that रस is neither ज्ञाप्य (to be made known), nor कार्य (to be produced), the objection raised against the कार्यत्व of रस is not entertainable in the light of modern psychology. The objection is expressly based on the Nyaya dogma that "Simultaneous knowledge" (युगपद् ज्ञान) is impossible.* This encroachment of the dogma is due to the want of discrimina-

* Dr. Satishchandra Vidyabhushan deplores this mixing up of Nyaya with rhetoric in these terms— "It is however to be regretted that during the last 500

tion between cognition and feeling on the part of rhetoricians. They speak of रस also as a ज्ञान and प्रतीति. But रस is the feeling of an emotion, pseudo emotion you may call it. Cognition and feeling can exist together, being different mental processes. An emotion is a synthesis of cognition, feeling and conation. Thus we are perfectly safe in saying that the representation of विभाव, अनुभाव produces a cognition of such विभाव, अनुभाव attended with the feeling of particular pseudo emotion.

Therefore, if व्यंजना suggests anything, it suggests that a represented भाव is to be experienced as रस by the hearer or spectator. Thus रस is produced by the suggestion. भाव resides in the hero or heroine, रस is experienced by the hearer or spectator. There is no रस in the mind of the पात्र which may be suggested. Therefore, the proper way of describing the function of व्यंजना is that it suggests that a भाव is to be experienced as रस by the hearer.]

years the Nyaya has been mixed up with Law, Rhetoric etc. and thereby has hampered the growth of those branches of knowledge upon which it has grown up as a sort of parasite".

Now we come to वस्तुव्यंजना and अलंकारव्यंजना. These also are not अनुमेय. अनुमान proceeds with three elements, पक्ष (the thing about which some fact is to be proved), सपक्ष (the thing analogous to it) and विपक्ष (the thing distinct). In the example अग्नियुक्त पर्वत है—पक्ष= पर्वत, सपक्ष = रसोईघर, and विपक्ष=सरोवर. The अनुमितिवादी in his endeavour to prove व्यंग्यवस्तु as अनुमेय may proceed to prove the व्यंग्य fact in the example "भगत जी ! भगत जी बेधड़क घूमो etc." by the process of inference thus—भगत जी (पक्ष), उनका गोदावरी के सिंहयुक्त तट पर न घूमना (साध्य), क्योंकि घूमनेवाला भीरु है और तट पर सिंह है (हेतु), अन्य भीरु भी ऐसे स्थान पर नहीं घूमा करते.

Here also हेतु is व्यभिचारी i.e. is not invariably co-existent with साध्य. It cannot be said that timid people never approach a dangerous object. They may sometimes do so by the command of a superior or through some excitement. The defence that a timid person will not voluntarily go to such a place is not admissible The statement that a lion dwells on the bank may not be taken as true, coming as it does from a lewd woman कुलटा. Therefore, the हेतु is doubtful (संदिग्ध).

Take another example, मैं अकेले तमाल के कुंजों

से ढके नदी-तट पर पानी लाने जाती हूँ, खरोंट लगे तो लगे. In this example the व्यंग्य fact that the speaker is going to meet her lover is not a valid inference, for "going alone in a secluded place with possibility of scraches on the body" is not a sound reason for such an inference. It is just possible that she may be going there with a very pious motive to serve her lord.

व्यंग्य अलंकार also is not अनुमेय. Take this example, जलक्रीड़ा के समय चंचल हथेलियों से वार वार राधा के मुख को ढाँककर खोलकर चक्रवाक के जोड़े का संयोग और वियोग करनेवाले कौतुकी कृष्ण संसार की रक्षा करें. Here the व्यंग्य अलंकार is रूपक (मुख is चंद्र). To make it a result of inference one may proceed with the proposition thus—

The face is moon (प्रतिज्ञा) (major term or proposition). Because when visible it causes seperation and when invisible association of चक्रवाक pair (हेतु) (middle term or reason). The हेतु is अनैकांतिक. There may be other possible causes (e.g. the sight of a fowler) of their seperation than moon.

[Observations—It is to be noted that in the case of वस्तु or अलंकारव्यंजना which is nothing more than a mere suggestion of fact, the author has not proceeded rightly in

disproving the अनुमेयत्व. What really gives a clue to the so-called व्यंग्य meaning in the two exampls is convention. Let us examine them. In the first example the साध्य or proposition is not गोदावरी के तट पर न घूमना (as stated) but "नायिका की इच्छा कि भगत जी गोदावरी के तट पर न घूमें". The word कुंज on the lonely river bank is sufficient hint for a person conversant with poetic convention. By means of this he knows at once that the speaker is "कुलटा" or at least a परकीया and this knowledge helps in comprehending the motive. We may put the proposition "The woman desires that the Bhagat should give up the habit of wandering on the bank" in the form of a syllogism thus—

The woman desires etc. (proposition)

For she meets her lover there (reason)

Whoever meets her lover desires that he should not be disturbed in, so does she (application)

Therefore, she desires etc. (conclusion).

That she is a lewd woman may be also known by inference.

She is a lewd woman परकीया (proposition)

For in साहित्य it is the परकीया who has a

secret place for meeting. She has a secret place for meeting (application). Therefore, she is a परकीया or कुलटा (conclusion).

The same may be said with reference to the other example. If the same word be put in the mouth of Sita, the व्यंग्य disappears. It is the convention (आप्तोपदेश) which gives a clue to the character of the speaker, occasion etc. that are left unexpressed in मुक्तक. We thus see that the mental process is the same as that of inference. Whether the result of the process is a strictly valid inference is another question worth consideration. It is a practical surmise though not always a theoretically valid inference.

Examples—(1) इस समय एक पत्ती नहीं हिलती है suggests that there is no wind blowing (वायु का अभावातिशय). Now this will be a good example of शेषवत् अनुमान.

(2) देखो, मृग कैसे निश्चेष्ट और निर्द्वंद्व बैठे हैं. Here the suggested loneliness of the place (निर्जनत्व का अतिशय) is mere practical surmise, not strictly valid inference, for it is just possible that the antelopes might not have seen the hunter, hidden in a bush. But whether a practical surmise or a valid infer-

ence, the mental process involved is the same in both. One distinction, however, between an inference and a poetic suggestion of fact is very clear. In वस्तुव्यंजना what really matters is the meaning in view of the speaker not the logical accuracy of the way in which he gives experience to that meaning. In other words it is the thought of the speaker which is व्यंग्य. The non-identity of वस्तुव्यंजना with अनुमान should be understood to mean this. A practical surmise which leads to व्यंग्यवस्तु is based on what generally happens. It takes no account of remote possibilities. In शक्त्युद्भव-ध्वनि also we arrive at the suggested similiture by a sort of surmise. The logical connection between the second meaning serves as reason.

Those who assume that रसज्ञान is memory (स्मृति) are also wrong, for they base their assumption on the fact that like स्मृति this रसज्ञान also owes its existence to वासना-संस्कार. As संस्कार also gives rise to प्रत्यभिज्ञा (the perception of identity of the present object with the one seen in the past, e.g. this is the same thing) the हेतु is व्यभिचारी. Those who hold that प्रत्यभिज्ञा arises from memory and not

from संस्कार and वासना is a different thing from संस्कार are not open to this objection.

V

रस-निर्णय

सहृदय पुरुषों के हृदय में वासनारूप में स्थित रति आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त होते है ।

This shows that it is the latent emotions in sympathetic people which assume the form of रस, when manifested in their minds by means of विभाव etc. The manifestation of an emotion in one's own mind is nothing but a feeling of that emotion. So we may put the fact more clearly thus—the representation of विभाव, अनुभाव and संचारी produces the feeling of emotion in the form of रस in the mind of the hearer or spectator. रस has been said to be produced by the synthesis of विभाव, अनुभाव as curd is produced by the mixture of acid substance and milk (दध्यादिन्याय). Now the question arises—Where does this synthetic process take place. It takes place in the mind of the hearer or spectator. But विभाव and अनुभाव exist in the mind of the hearer

in the form of perception only. Therefore, to be more exact, we must say that the perceptions of विभाव and अनुभाव produce the feeling called रस.

Ras is enjoyed when सत्त्व asserts itself (सत्त्वोद्रेकात्) and रजस्, तमस् subside. रस is feeling itself, not an object of feeling. See Page 472-475.

If रस is a feeling of pleasure how can करुण, बीभत्स be called रस? Arguments not satisfactory. Psychologists regard the feeling as play-impulse. The exertion and pain when self-inflected in an impulse of play are enjoyed as pleasures.

How do the representations of आलंबन of a पात्र produce a feeling of emotions in the form of रस. By a process of generalisation called साधारणीकरण the hearer or spectator conceives himself as identical with पात्र. The emotions are enjoyed not with reference to the particular object represented but in a general way. At the time of enjoyment of रस the hearer does not concern himself with the question whether the भाव belongs to himself or to another.

रस-चक्र

NOTES

(1) पूर्ण रस = श्रोता का आलंबन वही जो आश्रय का (Emotional)।

(2) मध्यम रस = श्रोता का आलंबन आश्रय स्वयं—(श्रोता के औत्सुक्य का) (Imaginative)। अनौचित्य considered as रसाभास but अनुपयुक्तता not taken into account.

The latter (2) most profitably employed in character painting. Its vulgar use in most of the conventional productions, which can neither serve to give higher tone to the feelings nor to continue the imagination. The imaginative does produce "affections", but in an indirect way.

Some lay stress on the imaginative aspect, others on the emotional. The solution depends on the reply of the question whether we see to feel or feel to see.

Query—What about the self-denying love towards an ugly woman like that of Majnu of Persian fables. The intensity of the feeling displayed, affects in general indirect way. Two possible interpretations of साधारणीकरण—(1) The indentity of the object (2) The

generalisation of tho object. Rhetoricians seem to uphold the latter view, restricting their attention to the sentiment of love which has its special feature in this respect.

प्रलय a संचारी and not सात्त्विक. In the division of अनुभाव (कायिक, मानसिक etc.) मानसिक is to be taken out. The division is not recognized by ancients.

उद्दीपन of two kinds—आलंबनगत, आलंबनबाह्य ।

[इसके अनंतर देखिए ऊपर पृष्ठ ४१७ से ४२५ तक ।]

PSYCHOLOGICAL NOTES FOR THE BOOK ON POETRY

1. Law of organization in the mind—Greater and lesser system. The former organising the latter under them. Tendencies and impulses organized under emotions, emotions under sentiments. Under the control of this system of emotions and sentiments are brought not only instincts but also thoughts, i. e., intellect-Appetites and Emotions. The former aroused by internal rather than external stimulation has a greater regularity of occurrence and becomes more urgent. Appetites of hunger and sex

must be included under lesser systems and also impulses needs or wants e. g., impulse for repose or sleep. (Impulses = जीवनवेग, Appetites = इंद्रियवेग, Emotions = मनोवेग, या भाव, Sentiments = स्थायी भाव) As sentiments include emotions, emotions have connected instincts, as instinct of flight in Fear. (Instinct = संस्कार, Tendency = प्रवृत्ति). Impulses of self-display and self-abasement.

Primary emotions—Fear, anger, disgust, joy and sorrow. Curiosity जिज्ञासा, though having more the character of impulse, is called an emotion. Joy and sorrow include if not instincts at least minute tendencies the most general being to maintain some process already existing. The seeking and sucking the teat by infants are instincts of hunger or appetite. Continuing to suck as long as enjoyment is felt is the tendency of the emotion of joy. Thus joy and repentance either (1) consiquent on some other impulse or (2) not. The latter illustrated in examining ugly and beautiful objects.

The Anger, fear, joy and sorrow minutely connected also with one another.

SYSTEM OF SENTIMENTS

Love—maternal. Disinterested action, disinterested character through object and end, not through particular nature of emotion. Two broadly contrasted types,—(1) the instinct of self preservation (2) preservation of race. Although in feeding the young, mother satisfies her own impulse also, but her impulse is disinterested. So her sorrow is disinterested when it has disinterested instinct. Pity is not therefore the source of the disinterestedness as popularly supposed.

Love and Hate are not single emotions. Spencer ennumerates among constituents of sexual love or sexual instinct, affection, admiration, pleasure of possession etc., etc., But love is not a compound feeling but system under which different feelings and emotions are organised. Love of opposite sex and offspring innote, all other love acquired. Sentiments vary much more from one man to another than emotion. Through sentiments men rise to more self-controlled systems—in them are resolutions formed. The most prominent are (1) Self love which

contain not only emotions but sentiments, e. g. pride, vanity, avarice, love of riches, sensuality or love sensual pleasures.

"These relatively permanent dispositions are what we designate our sentiments"—Angell. Abstract and concrete, e g. love of truth, science, art and love or reverence for parents—Ibid.

FEELING AND AFFECTION

The agreeable-disagreeable element or phase of our states of consciousness is affection. The total complex state in which it occurs, including sensory and ideational elements, feeling. Wundt and Royce add excitement and calm. Unnecesary, for they are characteristics which apply to the general activity of consciousness. When we are much excited, our muscles are tense, our respiration is abnormal; when there is muscular quiet with absence of acute Kinaesthetic sensations, only our consciousness of the intensity and rapidity of change in the conscious processes remain. We become aware of these modifications through cognitive channels—Ibid.

Is there an Affective Memory? We

can say whether at a definite time we experienced pleasure or pain. But we cannot bring the affection so vividly as we do events and images.

SHELLEY'S INFLUENCE.

"After Shelley's music began to captivate the world certain poets set to work upon the theory that between themselves and the other portion of the human race there is wide gulf fixed. × × × × Their theory was that they were to sing, as far as possible, like birds of another world. It might also be said that the poetic atmosphere became that of the Supreme palace of wonder—Bedlam." Alexander Smith's ambition was—

"To shoot a poem like a comet out,
Far splendering the sleepy realms of night."

Bailey, Dobell and Smith were not Bedlamites but men of common sense. They only affected madness. The country from which the followers of Shelley sing to our lower world was named 'Nowhere' by Bailey. Bailey's "Festus" and Browning's "Sordello" are examples of this 'Nowhere' poetry.

VARIETIES OF POETIC ART.

Two kinds of imagination—(1) Dramatic imagination (2) Lyric or egoistic imagination. Accordingly poets are either of Relative vision or Absolute vision.

I. Lyric or relative vision—

(a) Pure lyrists can sing with their one voice only one tune, i.e. they are occupied with their own feelings and emotions and have no vision of the world around.

(b) Epic poet can sing with his one voice many times He has wide imagination but still relative or egoistic. He sees general humanity typified by himself in the imagined situation. He transmutes his own 'me' into many shapes. He cannot create another 'me'.

A large number of epic poets and dramatists come under this category. Entire body of Asiatic poets, even Indian dramatists have relative vision. Indian dramatists have no absolute or true dramatic vision.

II. Absolute or True dramatic vision—

Only true dramatists can create characters wholly independent of their own self. They do not deal in general characters as

revealed to them by imagining their own selves in different situations but create other beings totally different from themselves.

Aristotle—Indispensable basis for poetry is invention. He held composition of action to be the main thing. His conception includes all imaginative literature whether in verse or prose. He conceives poetry as imitation of the facts of nature.

Plato—considered it to be an imitation of the dreams of man. Both A. and P. slighted the importance of versification. Both lay stress on substance rather than on form

Dionysius—revolted against the above and enunciated that poetry is fundamentally a matter of style.

Modern critics have made versification essential. Hegel (Aesthetik) went as far as to say that "metre is the first and only condition absolutely demanded by poetry, even more necessary than a figurative picteresque diction."

"The great law of poetic art that the more earnest or impassioned or imaginative

the subject the more carefully must the mere tricks of the trade be avoided, is not a law invented by man, but is founded on the laws of nature."

Poetic Imagination— The poet looks through a different atmosphere which transfigures and ennobles human life. "The light that never was on sea or land" is before the poet's eyes. There is one poet, however, who gazed at the world through no atmosphere of the golden clime.

Realism— Shelley and Keats have very little touch of realism. We do not find in them that loving eye for the physiognomy of life—whether it be the life of nature or the life of man which we find in even the smallest poets. Their command over the mere poetic vehicle is so prodigious and involves such an entire devotion to the study of poetry as a fine art, that but little force is left for the study of nature and man—that study which alone can result in the poetic realism of the great masters who combine all the powers of the two varieties of poets.

Realism is not only a legitimate, it is an essential quest of the poet until he has passed

into that high mood when he can see nothing between his tripod and the heaven of which he sings.

THE POSITION OF POETRY IN RELATION TO OTHER ARTS.

Old Greek saying "Poetry is a speaking picture and painting is a mute poetry" is in some measure answerable for the modern vice of excessive word painting. Notwithstanding the above saying Greeks studied poetry more in relation to music and dancing. Poetic art was called singing long before it was called making.

But verbal melody of poets is something different from music and is not governed by the same laws. Many poets of melody had no ear for absolute music and some even disliked it. Among the delights of form in poetry the chief is expectation and the fulfilment of expectation. This is very obvious in rhymed verses. In blank verse also it is equally operative in poet's rhythm.

अनुक्रमणिका

———